



MAYO-117

श्रीमद्भगवद्गीता

खण्ड-1 श्रीमद्भगवद्गीता का आध्यात्मिक परिचय एवं कर्म साधना

इकाई-1 श्रीमद्भगवद्गीता का परिचय

इकाई-2 संशय एवं विषाद, कर्म जिज्ञासा

इकाई-3 कर्मयोग की प्रेरणा

खण्ड-2 ज्ञान कर्म एवं अध्ययन की प्रगति

इकाई-4 ज्ञान कर्म संन्यास योग

इकाई-5 कर्म संन्यास योग

इकाई-6 अभ्यास योग की भूमिका

खण्ड-3 समग्र ज्ञान दूरदर्शिता व विश्व दृष्टि

इकाई-7 समग्र ज्ञान

इकाई-8 अक्षर ब्रह्म राजविद्या

इकाई-9 विभूति और विश्वरूप दर्शन

खण्ड-4 आध्यात्मिक आचरण व्यक्तित्व विकास एवं संस्कार निर्माण

इकाई-10 भक्तियोग और क्षेत्र क्षेत्रज्ञ

इकाई-11 गुण, पुरुषोत्तम और सम्पदा

इकाई-12 श्रद्धा और संन्यास

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

एम.ए.वाई.ओ.— 117 (MAYO-117)

संरक्षक एवं मार्गदर्शक

आचार्य सत्यकाम —कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति —

डॉ. मीरा पाल, प्रभारी निदेशक	स्वास्थ्य विज्ञान विद्याशाखा UPRTOU
डॉ. अतुल मिश्रा, असि, प्रोफेसर (सं.)	दर्शन शास्त्र, UPRTOU
श्री अमित कुमार सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर (सं.)	योग, UPRTOU
श्री अनुराग सोनी, असि, प्रोफेसर	योग, आर.एम.एल.यू., अयोध्या
श्री अनुराग शुक्ला, असिस्टेंट प्रोफेसर (सं.)	योग, UPRTOU
श्री निकेत सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर (सं.)	योग, UPRTOU
सुश्री जूमी सिंह, असिस्टेंट प्रोफेसर (सं.)	योग, UPRTOU

लेखक —

श्री अनुराग शुक्ला — सहायक आचार्य (योग) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

सम्पादक —

प्रो. जटाशंकर — पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

परिभाषक —

डॉ. मीरा पाल — प्रभारी निदेशक, स्वास्थ्य विज्ञान विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

समन्वयक —

श्री अमित कुमार सिंह — सहायक आचार्य (योग) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

श्रीमद्भगवद्गीता का आध्यात्मिक परिचय एवं कर्म-साधना विषयक यह खंड मानव जीवन के समग्र विकास, आंतरिक चेतना के जागरण और धर्म और अध्यात्म के व्यावहारिक अनुप्रयोग का विस्तृत विवेचना प्रस्तुत करता है, जहाँ प्रथम इकाई में श्रीमद्भगवद्गीता के आध्यात्मिक स्वरूप, उसकी उत्पत्ति, तत्त्वदर्शन, मानवीय मूल्यों के साथ उसका संबंध तथा साधक के अंतःकरण में होने वाले रूपांतरण का सूक्ष्म अध्ययन शामिल है यह खण्ड स्पष्ट करती है कि आध्यात्मिक साधना केवल सिद्धांत नहीं बल्कि एक अंतःयात्रा है जो मन, प्राण और बुद्धि को शुद्ध करके साधक को उच्चतर चेतना से जोड़ती है। खण्ड के द्वितीय इकाई में उसके लक्ष्य, उद्देश्यों, विषय-वस्तु, सिद्धांतों और कर्म-तत्त्व की विस्तृत व्याख्या है, जिसमें यह बताया गया है कि जीवन में संतुलन, समर्पण, सहज अनुशासन, निष्ठा, सत्यनिष्ठा, नैतिक कर्तव्यपरायणता और निष्काम कर्म जैसे मूलभूत तत्त्व किस प्रकार साधक को योग्य, स्थिर और समरस बनाते हैं साथ ही इस खण्ड में जीवन के विविध पक्षों जैसे सामाजिक व्यवहार, पारिवारिक कर्तव्य, आचार-विचार, मनोवैज्ञानिक संतुलन, और आध्यात्मिक उन्नति के मध्य गहरे संबंध को भी स्पष्ट किया गया है। खण्ड के तृतीय इकाई में कर्म-योग की प्रयोगात्मक प्रक्रिया, साधना के व्यावहारिक चरण, ध्यान-अभ्यास, श्वास-संयम, चेतना-विकास, इंद्रियनिग्रह, आत्म-निरीक्षण, सतत जागरूकता तथा निष्काम भाव के साथ कर्म करने की मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक तकनीकों का विस्तार से वर्णन किया गया है, जिससे साधक न केवल अपने भीतर की ऊर्जा, विचारों और प्रवृत्तियों को नियंत्रित करना सीखता है बल्कि जीवन के सामान्य कार्यों को भी योगमय, शांत, दक्ष और प्रभावी बनाता है। इस प्रकार यह संपूर्ण खंड साधक को सिद्धांत, अभ्यास, अनुशासन और अनुभवकृचारों स्तरों पर ऐसा समग्र मार्गदर्शन प्रदान करता है, जो उसे आध्यात्मिक जागरण, मानसिक परिष्कार, भावनात्मक संतुलन और अंततः कर्म को यज्ञस्वरूप बनाकर जीवन को उच्चतम उद्देश्य की ओर ले जाने में समर्थ बनाता है।

इकाई-1 श्रीमद्भगवद्गीता का परिचय

इकाई की रूपरेखा

- 1.1 भूमिका
- 1.2 श्रीमद्भगवद्गीता की उत्पत्ति और स्वरूप
- 1.3 दार्शनिक आधार और मूलभूत सिद्धांत
- 1.4 गुरु-शिष्य परंपरा और गीता
- 1.5 गीता के मूल संदेश और चार योगों का समन्वय
- 1.6 आधुनिक जीवन में गीता की व्यापक प्रासंगिकता
- 1.7 सामाजिक जीवन में गीता का योगदान और लोकसंग्रह की अवधारणा
- 1.8 गीता की वैश्विक उपादेयता और महापुरुषों के विचार
- 1.9 आधुनिक विज्ञान और मनोविज्ञान के संदर्भ में गीता
- 1.10 गीता के व्यावहारिक उपदेश और दैनिक जीवन में प्रयोग
- 1.11 गीता के प्रमुख श्लोक और उनके जीवन-परिवर्तनकारी अर्थ
- 1.12 गीता की आलोचनाएं और उनका समीक्षात्मक उत्तर
- 1.13 गीता का भविष्य और नई पीढ़ी के लिए संदेश
- 1.14 उपसंहार और जीवन-दर्शन
- 1.15 बोध प्रश्न

1.1 भूमिका

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय संस्कृति, दर्शन और अध्यात्म का अनमोल ग्रंथ है जो केवल एक धार्मिक ग्रंथ न होकर जीवन की गहन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने वाला अद्वितीय मार्गदर्शक है। इस अमर ग्रंथ के श्लोकों में जीवन जीने की कला, कर्तव्य पालन की प्रेरणा और आत्मिक उन्नति का सूत्र समाहित है जो मानव को भव-सागर से पार करने का मार्ग दिखाता है। गीता का उपदेश महाभारत के भीषण युद्धभूमि कुरुक्षेत्र में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया था जब अर्जुन मोह, संशय और विषाद से ग्रसित होकर अपने कर्तव्यों से पीछे हटने लगे थे। उस कठिन परिस्थिति में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निष्काम कर्म, भक्ति, ज्ञान और योग का उपदेश देकर उसे न केवल युद्ध के लिए प्रेरित किया बल्कि जीवन जीने की संपूर्ण कला सिखाई। यही उपदेश आगे चलकर "श्रीमद्भगवद्गीता" के नाम से विश्व प्रसिद्ध हुआ और आज भी करोड़ों लोगों का मार्गदर्शन कर रहा है।

भगवद्गीता विश्व साहित्य की एक अमर कृति है जिसका प्रभाव केवल भारत तक सीमित नहीं रहा बल्कि समस्त विश्व के चिंतकों, दार्शनिकों और महापुरुषों ने इससे प्रेरणा ली है। यह ग्रंथ मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मार्गदर्शन करता है और आत्मा के उत्थान का पथ प्रशस्त करता है। गीता की महत्ता इस बात में

निहित है कि यह केवल आध्यात्मिक उपदेश नहीं देती बल्कि व्यावहारिक जीवन की समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत करती है। इसमें निहित सिद्धांत व्यक्ति को न केवल आंतरिक शांति प्रदान करते हैं बल्कि सामाजिक जीवन में भी सफलता दिलाते हैं।

1.2 श्रीमद्भगवद्गीता की उत्पत्ति और स्वरूप

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत के भीष्म पर्व के अध्याय 25 से 42 तक का एक महत्वपूर्ण अंश है जिसकी रचना महर्षि व्यास द्वारा की गई है। यह महान् ग्रंथ कुरुक्षेत्र के युद्ध से ठीक पहले की घटना है जब अर्जुन अपने सामने गुरुजनों, मित्रों, रिश्तेदारों और पूज्य व्यक्तियों को देखकर युद्ध करने से इंकार कर देता है और अपने गाण्डीव धनुष को रणभूमि में रखकर रथ में बैठ जाता है। उस समय उसका मन विषाद से भर जाता है और वह अपने कर्तव्य पथ से विचलित हो जाता है। इसी क्षण भगवान् श्रीकृष्ण उसे जीवन की वास्तविकताओं से अवगत कराते हुए कर्म, धर्म और जीवन के गहन रहस्यों का उपदेश देते हैं।

गीता की संरचनात्मक विशेषताओं की बात करें तो इसमें अठारह अध्याय और सात सौ श्लोक हैं जो इसे एक पूर्ण और व्यापक ग्रंथ बनाते हैं। इसे कभी-कभी “गीतोपनिषद्” भी कहा जाता है क्योंकि इसमें उपनिषदों का सार निहित है और वेदांत दर्शन की गहनतम शिक्षाएं समाहित हैं। गीता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह तीन मुख्य मार्गों — कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग — का समन्वय प्रस्तुत करती है और दिखाती है कि ये तीनों मार्ग अलग-अलग न होकर एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के विभिन्न साधन हैं। गीता की भाषा संस्कृत है परंतु इसकी भावना इतनी सरल, स्पष्ट और गहरी है कि प्रत्येक भाषा में इसका अनुवाद संभव है और हर अनुवाद में इसका मूल संदेश बरकरार रहता है।

बोध प्रश्न—: भगवद्गीता में कितने अध्याय हैं? गीता किस पर्व का हिस्सा है? गीता के रचयिता कौन हैं?

1.3 दार्शनिक आधार और मूलभूत सिद्धांत

गीता में धर्म की व्यापक और गहन परिभाषा प्रस्तुत की गई है जो संकीर्ण रूप से किसी विशेष मत या पंथ से संबंधित नहीं है बल्कि जीवन के शाश्वत सिद्धांतों से जुड़ी है। गीता के अनुसार धर्म का वास्तविक अर्थ है वह कर्तव्य जो मनुष्य की आत्मा के विकास में सहायक हो और जो उसे भौतिक बंधनों से मुक्त करके आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाए। यहां धर्म का संबंध बाहरी कर्मकाण्डों से नहीं बल्कि आंतरिक शुद्धता और नैतिक जीवन से है जो व्यक्ति को समग्र रूप से परिष्कृत बनाता है। गीता का धर्म-दर्शन इतना व्यापक है कि यह सभी मतों और पंथों के लोगों को समान रूप से मार्गदर्शन प्रदान कर सकता है।

गीता का केंद्रीय संदेश निष्काम कर्म का दर्शन है जो मानव जीवन की सबसे बड़ी समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है। इस दर्शन के अनुसार कर्म करना ही जीवन है और कर्म के बिना जीवन की कल्पना असंभव है परंतु कर्म से पलायन करना मोह है और कर्म में अत्यधिक आसक्ति बंधन का कारण बनती है। निष्काम कर्म का अर्थ है कर्म करना लेकिन उसके फल की इच्छा न करना, कर्तव्य का पालन करना लेकिन परिणाम की चिंता में न पड़ना। श्रीकृष्ण का प्रसिद्ध उपदेश “कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि” इसी सिद्धांत को स्पष्ट करता है जिसका अर्थ है कि तुम्हारा अधिकार कर्म में है फल में नहीं, न तो कर्म के फल की इच्छा करो और न ही कर्म न करने की प्रवृत्ति रखो।

गीता में योग शब्द का प्रयोग तीन विशिष्ट अर्थों में हुआ है जो इसकी गहनता को दर्शाता है। प्रथम अर्थ में योग का मतलब कर्मयोग है जिसका अर्थ है कुशलता से कर्म करना और अपने काम में पूर्ण दक्षता प्राप्त करना। द्वितीय अर्थ में योग समत्वयोग है जिसका तात्पर्य है सुख-दुःख, हानि-लाभ, सफलता-असफलता में

समान भाव रखना। तृतीय अर्थ में योग का मतलब मिलनयोग है जो जीवात्मा का परमात्मा से मिलन दर्शाता है। ये तीनों अर्थ मिलकर जीवन का एक संपूर्ण दर्शन प्रस्तुत करते हैं जो व्यक्ति को न केवल सफल बनाता है बल्कि संतुष्ट और शांत भी रखता है।

बोध प्रश्न—: गीता के अनुसार मनुष्य का अधिकार किसमें है? निष्काम कर्म का क्या अर्थ है? योग के कितने अर्थ गीता में बताए गए हैं?

1.4 गुरु—शिष्य परंपरा और गीता

भारतीय शिक्षा पद्धति में गुरु—शिष्य परंपरा का विशेष महत्व है जो केवल एक शैक्षिक प्रक्रिया न होकर एक पूर्ण जीवन—दर्शन है। इस परंपरा में ज्ञान का संचार केवल पुस्तकों या व्याख्यानों से नहीं होता बल्कि गुरु के व्यक्तित्व, आचरण, अनुभव और प्रेम से शिष्य का संपूर्ण निर्माण होता है। गुरु केवल जानकारी नहीं देता बल्कि शिष्य के अंदर छुपी हुई संभावनाओं को जगाता है, उसके व्यक्तित्व को निखारता है और उसे जीवन की सच्चाइयों से अवगत कराता है। यह परंपरा केवल बौद्धिक विकास तक सीमित नहीं है बल्कि शिष्य के चरित्र निर्माण, नैतिक विकास और आध्यात्मिक उन्नति को भी शामिल करती है। गुरु और शिष्य के बीच का यह संबंध आजीवन चलता रहता है और यह केवल एक दिशा में नहीं बल्कि दोनों दिशाओं में ज्ञान और अनुभव का आदान—प्रदान होता रहता है।

गीता का उपदेश इसी गुरु—शिष्य परंपरा का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है जहां भगवान श्रीकृष्ण आदर्श गुरु के रूप में और अर्जुन आदर्श शिष्य के रूप में दिखाई देते हैं। श्रीकृष्ण सर्वज्ञ होने के बावजूद अत्यंत धैर्यवान, करुणावान और समझदार गुरु के रूप में अर्जुन का मार्गदर्शन करते हैं। वे अर्जुन के प्रत्येक प्रश्न—का उत्तर देते हैं, उसकी शंकाओं का समाधान करते हैं और उसे कभी भी मूर्ख या अज्ञानी नहीं कहते। दूसरी ओर अर्जुन एक जिज्ञासु, विनम्र और समर्पित शिष्य के रूप में दिखाई देता है जो अपनी समस्याओं को स्पष्ट रूप से गुरु के सामने रखता है और उनसे मार्गदर्शन मांगता है। वह कहता है “शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम” अर्थात् मैं आपका शिष्य हूं, आपकी शरण में आया हूं, कृपया मेरा उपदेश करें।

अर्जुन केवल प्रश्न—पूछने वाला शिष्य नहीं है बल्कि वह संशयग्रस्त और द्विधाग्रस्त मनुष्य का प्रतीक है जो जीवन में आने वाली कठिनाइयों, नैतिक दुविधाओं और भावनात्मक संकटों से घिरा हुआ है। उसमें आदर्श शिष्य की निमनलिखित विशेषताएं दिखाई देती हैं। सबसे पहले उसमें सच्ची जिज्ञासा है, वह वास्तव में जानना चाहता है कि क्या सही है और क्या गलत है। दूसरे, उसमें विनम्रता है, वह अपने गुरु के समक्ष अहंकार का त्याग करके सरल हृदय से प्रश्न—करता है। तीसरे, वह अपनी समस्या को स्पष्ट रूप से रखता है और कुछ भी छुपाने की कोशिश नहीं करता। चौथे, उसमें ग्रहणशीलता है, वह सिखाई गई बातों को समझने और अपनाने की क्षमता रखता है। पांचवें, उसमें गुरु के प्रति आभार और कृतज्ञता की भावना है।

श्रीकृष्ण आदर्श गुरु के रूप में अनेक गुणों का प्रदर्शन करते हैं। उनमें सबसे पहले धैर्य का गुण है, वे अर्जुन की मूर्खता या अज्ञानता पर कभी क्रोधित नहीं होते बल्कि बार—बार समझाते हैं। दूसरे, उनमें शिष्य के प्रति स्नेह और करुणा है, वे अर्जुन के कल्याण की चिंता करते हैं। तीसरे, वे अत्यंत व्यावहारिक हैं, जटिल दार्शनिक विषयों को सरल उदाहरणों से समझाते हैं। चौथे, वे समग्र ज्ञान देते हैं, कुछ भी छुपाते नहीं हैं। पांचवें, वे स्वयं आदर्श आचरण करते हैं, जिसका उपदेश देते हैं उसका पालन भी करते हैं।

बोध प्रश्न—: गीता में गुरु कौन है? अर्जुन ने कृष्ण को किस रूप में स्वीकार किया? आदर्श शिष्य की मुख्य

विशेषताएं क्या हैं?

1.5 गीता के मूल संदेश और चार योगों का समन्वय

गीता मानव जीवन के तीन मूलभूत और शाश्वत प्रश्नों का उत्तर देती है जो हर व्यक्ति के मन में कभी न कभी उठते हैं। पहला प्रश्न—है “मैं कौन हूँ?” जो आत्म-स्वरूप से संबंधित है और व्यक्ति को अपनी वास्तविक पहचान से अवगत कराता है। दूसरा प्रश्न—है “मुझे क्या करना चाहिए?” जो कर्तव्य—निर्धारण से संबंधित है और जीवन में सही दिशा दिखाता है। तीसरा प्रश्न—है “जीवन का परम उद्देश्य क्या है?” जो मोक्ष—प्राप्ति से संबंधित है और जीवन के अंतिम लक्ष्य को स्पष्ट करता है। इन तीनों प्रश्नों का उत्तर देकर गीता व्यक्ति को न केवल आत्म—साक्षात्कार की दिशा में ले जाती है बल्कि व्यावहारिक जीवन में भी सफल बनाती है।

गीता चार मुख्य योगों का समन्वित रूप प्रस्तुत करती है जो मानव के संपूर्ण व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए आवश्यक हैं। प्रथम योग कर्मयोग है जो निष्काम कर्म करने, फल की इच्छा न करने और स्वधर्म का पालन करने की शिक्षा देता है। इस योग का मूल सिद्धांत “योगः कर्मसु कौशलम्” है अर्थात् कर्म में कुशलता ही योग है। यह योग व्यक्ति को सिखाता है कि काम कैसे करना चाहिए, कैसे अपनी पूरी क्षमता का उपयोग करना चाहिए और कैसे परिणाम की चिंता किए बिना अपना सर्वश्रेष्ठ देना चाहिए। द्वितीय योग ज्ञानयोग है जो आत्मा—परमात्मा के भेद को समझने, अस्थायी और स्थायी में भेद करने तथा अध्यात्मिक दृष्टि विकसित करने की शिक्षा देता है। यह योग व्यक्ति को सत्य और असत्य, वास्तविक और अवास्तविक के बीच अंतर करना सिखाता है।

तृतीय योग भक्तियोग है जो ईश्वर के प्रति प्रेम और समर्पण, श्रद्धा और विश्वास तथा भावनात्मक शुद्धता की शिक्षा देता है। यह योग हृदय को परिष्कृत करता है और व्यक्ति में करुणा, प्रेम और सेवा की भावना जगाता है। चतुर्थ योग राजयोग है जो मन की एकाग्रता, इंद्रियों का नियंत्रण तथा ध्यान और समाधि की अवस्थाओं की शिक्षा देता है। यह योग मानसिक अनुशासन सिखाता है और व्यक्ति को आंतरिक शांति प्रदान करता है। गीता की विशेषता यह है कि यह इन चारों योगों को अलग—अलग न मानकर एक ही सिक्के के चार पहलू मानती है और बताती है कि संपूर्ण व्यक्तित्व विकास के लिए चारों का अभ्यास आवश्यक है।

गीता में स्वधर्म की अवधारणा का विशेष महत्व है जो व्यक्ति को अपनी प्रकृति के अनुकूल जीवन जीने की प्रेरणा देती है। स्वधर्म का अर्थ है अपनी प्राकृतिक क्षमताओं, रुचियों और परिस्थितियों के अनुसार कर्म करना, समाज में अपनी भूमिका को समझना और व्यक्तिगत तथा सामाजिक दायित्वों के बीच संतुलन बनाना। श्रीकृष्ण का प्रसिद्ध उपदेश “श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्” इसी सिद्धांत को स्पष्ट करता है जिसका अर्थ है कि अच्छी तरह से किए गए दूसरे के धर्म की अपेक्षा अपना धर्म, चाहे वह दोषपूर्ण हो, श्रेष्ठ है। यह उपदेश व्यक्ति को दूसरों की नकल करने के बजाय अपना मौलिक व्यक्तित्व विकसित करने की प्रेरणा देता है।

बोध प्रश्न—: गीता में कितने योग बताए गए हैं? “योगः कर्मसु कौशलम्” यह श्लोक किस योग से संबंधित है? स्वधर्म का क्या अर्थ है?

1.6 आधुनिक जीवन में गीता की व्यापक प्रासंगिकता

यद्यपि भगवद्गीता का उपदेश सहस्रों वर्ष पहले दिया गया था परंतु उसकी प्रासंगिकता आज भी उतनी ही है बल्कि आधुनिक जीवन की जटिलताओं के कारण और भी बढ़ गई है। आज का मनुष्य अनेक चुनौतियों से घिरा हुआ है जिनमें मानसिक तनाव, अवसाद, अत्यधिक प्रतियोगिता, ईर्ष्या, भौतिकवादी दौड़, नैतिक द्वंद्व

और जीवन की अर्थहीनता की भावना प्रमुख हैं। गीता इन सभी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती है और व्यक्ति को न केवल इनसे निपटने की शक्ति देती है बल्कि इन्हें अवसरों में बदलने की कला भी सिखाती है। तनाव और अवसाद की समस्या के लिए गीता समत्वयोग का सिद्धांत देती है जो व्यक्ति को सुख-दुःख में समान भाव रखने, कर्मफल की चिंता न करने तथा ध्यान और आत्म-चिंतन के द्वारा मानसिक शांति प्राप्त करने की शिक्षा देती है।

प्रतियोगिता और ईर्ष्या की समस्या के लिए गीता निष्काम कर्म की भावना सिखाती है जो व्यक्ति को दूसरों से तुलना करने के बजाय अपने कर्तव्य पर ध्यान देने की प्रेरणा देती है। जब व्यक्ति अपना सर्वश्रेष्ठ देने में व्यस्त हो जाता है तो वह दूसरों की सफलता से जलने के बजाय उनसे प्रेरणा लेता है और अपने विकास पर ध्यान देता है। भौतिकवाद और अध्यात्म के बीच संतुलन की समस्या के लिए गीता भोग और त्याग के संतुलन का सिद्धांत प्रस्तुत करती है जो व्यक्ति को सिखाती है कि भौतिक सफलता गलत नहीं है लेकिन उसे जीवन का एकमात्र लक्ष्य नहीं बनाना चाहिए। आत्मिक विकास को प्राथमिकता देते हुए सादा जीवन और उच्च विचार के सिद्धांत पर चलना चाहिए।

शिक्षा के क्षेत्र में गीता की शिक्षाएं अत्यंत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि आज के छात्र अत्यधिक दबाव और तनाव में रहते हैं। गीता छात्रों को अनुशासन सिखाती है जो नियमित अध्ययन और स्वस्थ जीवनशैली अपनाने में सहायक है। एकाग्रता की शिक्षा देकर यह छात्रों को ध्यान की तकनीकों से अवगत कराती है जिससे उनका फोकस बढ़ता है और पढ़ाई में बेहतर परिणाम आते हैं। धैर्य की शिक्षा देकर यह छात्रों को सिखाती है कि परिणाम के लिए धैर्य रखना आवश्यक है और तत्काल सफलता की अपेक्षा न करके निरंतर प्रयास करते रहना चाहिए। आत्मविश्वास की शिक्षा देकर यह छात्रों को अपनी क्षमताओं पर भरोसा रखने और कड़ी मेहनत के बल पर अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने की प्रेरणा देती है।

प्रबंधन और कार्यक्षेत्र में गीता का अनुप्रयोग आज के कॉर्पोरेट जगत में अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो रहा है। आधुनिक प्रबंधन गुरुओं ने गीता को "Management Bible" की संज्ञा दी है क्योंकि इसमें निहित सिद्धांत आज के व्यावसायिक जगत की चुनौतियों का समाधान प्रस्तुत करते हैं। नेतृत्व के क्षेत्र में श्रीकृष्ण का उदाहरण आदर्श है जो दिखाता है कि एक सच्चा नेता कैसे धैर्य, समझदारी और करुणा के साथ अपनी टीम का मार्गदर्शन करता है। निर्णय क्षमता के मामले में गीता सिखाती है कि कठिन परिस्थितियों में कैसे सही निर्णय लेना चाहिए, भावनाओं को नियंत्रण में रखकर बुद्धि से काम लेना चाहिए। टीम वर्क की शिक्षा देकर गीता बताती है कि व्यक्तिगत लाभ की बजाय सामूहिक हित में काम करना चाहिए। लक्ष्य-निर्धारण और योजना बनाने में गीता के सिद्धांत स्पष्ट उद्देश्य निर्धारित करने और उसे प्राप्त करने के लिए व्यवस्थित रणनीति बनाने में सहायक हैं।

कर्मयोग के व्यावहारिक लाभ कार्यक्षेत्र में स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं जब व्यक्ति अपने काम में पूर्ण समर्पण से लगता है तो गुणवत्ता में स्वतः सुधार होता है। परिणाम की चिंता न करने से तनाव कम होता है और व्यक्ति अधिक रचनात्मक तरीके से सोच सकता है। निष्काम भाव से कार्य करने से व्यक्ति में नवाचार की प्रवृत्ति बढ़ती है और वह अपने काम को कला के रूप में देखने लगता है। तनाव प्रबंधन के क्षेत्र में गीता की शिक्षाएं अत्यंत प्रभावी हैं क्योंकि जब व्यक्ति समझ जाता है कि उसका नियंत्रण केवल अपने कर्म पर है, परिणाम पर नहीं, तो वह चिंता और तनाव से मुक्त हो जाता है।

व्यक्तिगत जीवन में गीता की शिक्षाएं पारिवारिक संबंधों को मधुर बनाने में अत्यंत सहायक हैं। धर्म के नाम पर कट्टरता न करने की शिक्षा व्यक्ति को उदार और सहिष्णु बनाती है जो पारिवारिक सद्भावना के लिए आवश्यक है। सभी के साथ समान व्यवहार करने की प्रेरणा परिवार में भेदभाव को समाप्त करती है और प्रेम की भावना बढ़ाती है। क्षमा और करुणा की भावना व्यक्ति को छोटी-मोटी बातों पर नाराज न होने और दूसरों की

गलतियों को माफ करने की शक्ति देती है। मानसिक स्वास्थ्य के लिए गीता स्थितप्रज्ञ व्यक्तित्व के विकास की शिक्षा देती है जो व्यक्ति को भावनात्मक उतार-चढ़ाव से बचाता है।

स्थितप्रज्ञ व्यक्ति वह है जो सुख में अत्यधिक हर्षित नहीं होता और दुःख में विकलित नहीं होता, भय, क्रोध और कामना जैसी नकारात्मक भावनाओं से मुक्त रहता है। इच्छाओं के नियंत्रण की शिक्षा व्यक्ति को संतुष्ट रखती है और अनावश्यक इच्छाओं की पूर्ति में समय और शक्ति की बर्बादी से बचाती है। आंतरिक शांति की प्राप्ति के लिए गीता ध्यान, प्राणायाम और आत्म-चिंतन की तकनीकें सिखाती है जो व्यक्ति को मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करती हैं।

बोध प्रश्न:- गीता को डंदहमउमदज ठपइसम किसने कहा है? स्थितप्रज्ञ व्यक्ति की क्या विशेषताएं हैं? आधुनिक जीवन में गीता की उपादेयता के मुख्य क्षेत्र कौन से हैं?

1.7 सामाजिक जीवन में गीता का योगदान और लोकसंग्रह की अवधारणा

गीता में लोकसंग्रह का सिद्धांत समाज-कल्याण की एक महत्वपूर्ण दिशा प्रस्तुत करता है जो व्यक्ति को केवल अपने व्यक्तिगत हितों तक सीमित न रहकर समाज और राष्ट्र के कल्याण में योगदान देने की प्रेरणा देता है। लोकसंग्रह का अर्थ है लोगों को एक साथ लाना, समाज की एकता को बनाए रखना और सभी के हित में कार्य करना। इस सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति का कर्तव्य केवल अपने परिवार तक सीमित नहीं है बल्कि उसे समाज के कमजोर वर्गों की सेवा करनी चाहिए, पर्यावरण की रक्षा करनी चाहिए और भावी पीढ़ियों के लिए एक बेहतर दुनिया छोड़नी चाहिए। श्रीकृष्ण का प्रसिद्ध उपदेश “यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः” इसी सिद्धांत को स्पष्ट करता है जिसका अर्थ है कि श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी वही करते हैं, इसलिए समाज के नेताओं और प्रभावशाली व्यक्तियों का दायित्व है कि वे आदर्श आचरण करके दूसरों को प्रेरणा दें।

सामाजिक न्याय और समानता के प्रश्न-पर गीता का दृष्टिकोण अत्यंत प्रगतिशील है क्योंकि यह जाति-पांति की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर गुण और कर्म को महत्व देने की शिक्षा देती है। गीता के अनुसार व्यक्ति की महानता उसके जन्म से नहीं बल्कि उसके गुणों और कर्मों से निर्धारित होती है। “चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः” के अनुसार चार वर्ण गुण और कर्म के आधार पर बनाए गए हैं, जन्म के आधार पर नहीं। यह सिद्धांत आज की योग्यता आधारित समाज व्यवस्था के लिए अत्यंत उपयोगी है जहां व्यक्ति को उसकी जाति या पारिवारिक पृष्ठभूमि के आधार पर नहीं बल्कि उसकी क्षमता और मेहनत के आधार पर अवसर मिलने चाहिए। गीता सभी जीवों में समान आत्मा का दर्शन करने की शिक्षा देती है जो भेदभाव को समाप्त करने और सामाजिक एकता स्थापित करने में सहायक है।

अहिंसा और करुणा की भावना गीता के सामाजिक संदेश का मूल आधार है जो व्यक्ति को न केवल मनुष्यों के प्रति बल्कि सभी जीवों के प्रति दयालु बनने की प्रेरणा देती है। यह भावना समाज में हिंसा, क्रूरता और शोषण को समाप्त करने में सहायक है और प्रेम, सहयोग तथा सेवा की भावना को बढ़ावा देती है। गीता की शिक्षा के अनुसार जो व्यक्ति सभी जीवों में अपनी आत्मा का दर्शन करता है, वह किसी को हानि नहीं पहुंचा सकता और सबके कल्याण के लिए कार्य करता है। यह सिद्धांत आज के वैश्विक संकटों जैसे युद्ध, आतंकवाद, पर्यावरण विनाश और सामाजिक अशांति के समाधान में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

बोध प्रश्न:- लोकसंग्रह का क्या अर्थ है? गीता के अनुसार वर्ण व्यवस्था का आधार क्या है? सामाजिक न्याय के लिए गीता के मुख्य सिद्धांत कौन से हैं?

1.8 गीता की वैश्विक उपादेयता और महापुरुषों के विचार

भगवद्गीता का प्रभाव केवल भारत की सीमाओं तक सीमित नहीं रहा बल्कि इसने विश्व के अनेक

महापुरुषों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों और चिंतकों को गहराई से प्रभावित किया है। महात्मा गांधी ने गीता को अपनी आध्यात्मिक माता कहा था और उन्होंने लिखा था कि “जब भी मैं निराश होता हूँ गीता का एक श्लोक मुझे जीवन का नया बल देता है। गीता मेरी दुःखों में सात्वता देती है और खुशी में मुझे विनम्र रखती है।” गांधी जी ने अपने जीवन में गीता के सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप देकर दिखाया कि कैसे निष्काम कर्म का सिद्धांत राष्ट्रीय और सामाजिक आंदोलनों में प्रयोग किया जा सकता है। उन्होंने सत्याग्रह के रूप में कर्मयोग को एक नया आयाम दिया और दुनिया को दिखाया कि अहिंसा और सत्य के बल पर सबसे शक्तिशाली साम्राज्य को भी हराया जा सकता है।

डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम जैसे वैज्ञानिकों ने गीता में विज्ञान और अध्यात्म के बीच सेतु का काम करने वाले सिद्धांत देखे और कहा कि “गीता विज्ञान और अध्यात्म के बीच सेतु का काम करती है और दिखाती है कि दोनों एक-दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं।” महान् भौतिकविद् अल्बर्ट आइंस्टाइन ने गीता के बारे में कहा था कि “जब मैं गीता पढ़ता हूँ तो स्वयं से प्रश्न-करता हूँ कि ब्रह्मांड की रचना कैसे हुई होगी और गीता के सिद्धांत आधुनिक भौतिकी के नियमों से मेल खाते हैं।” रूसी लेखक लेव टॉल्स्टॉय ने गीता की प्रशंसा करते हुए कहा था कि “गीता में वह सब कुछ है जो मनुष्य को जानना आवश्यक है और यह विश्व साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कृति है।”

अमेरिकी दार्शनिक हेनरी डेविड थोरौ ने गीता को अपनी प्रेरणा का स्रोत माना और लिखा कि “गीता पढ़ने के बाद मुझे लगता है कि मैं एक दिव्य वातावरण में सांस ले रहा हूँ।” जर्मन दार्शनिक आर्थर शोपेनहावर ने गीता को “मानव मन की सबसे गहरी और उत्कृष्ट कृति” कहा और यह स्वीकार किया कि इसने उनके जीवन-दर्शन को गहराई से प्रभावित किया है। इन महापुरुषों के विचारों से स्पष्ट होता है कि गीता का संदेश केवल धार्मिक या आध्यात्मिक नहीं है बल्कि वैज्ञानिक, दार्शनिक और व्यावहारिक भी है।

यूनेस्को द्वारा गीता को विश्व धरोहर में शामिल किया जाना इसकी अंतर्राष्ट्रीय महत्ता को दर्शाता है। आज गीता का अनुवाद विश्व की 100 से अधिक भाषाओं में हो चुका है और यह संयुक्त राष्ट्र की आधिकारिक भाषाओं में उपलब्ध है। अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों में गीता को दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, प्रबंधन विज्ञान और तुलनात्मक धर्म के पाठ्यक्रमों में शामिल किया गया है। हार्वर्ड, ऑक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज जैसे प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में गीता पर शोध कार्य हो रहे हैं और इसके सिद्धांतों को आधुनिक जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए प्रयोग किया जा रहा है।

बोध प्रश्न:- गीता को आध्यात्मिक माता किसने कहा है? अल्बर्ट आइंस्टाइन ने गीता के बारे में क्या कहा था? गीता का अनुवाद कितनी भाषाओं में हुआ है?

1.9 आधुनिक विज्ञान और मनोविज्ञान के संदर्भ में गीता

आधुनिक विज्ञान और गीता के बीच अनेक समानताएँ हैं जो दर्शाती हैं कि प्राचीन भारतीय ऋषि-मुनि कितने वैज्ञानिक चिंतन के धनी थे। क्वांटम भौतिकी के सिद्धांत और गीता की आत्मा-परमात्मा की अवधारणा में गहरी समानता दिखाई देती है जहाँ दोनों यह मानते हैं कि संसार में एक मूलभूत चेतना है जो सभी कुछ को संचालित करती है। ऊर्जा के रूपांतरण का सिद्धांत जो आधुनिक भौतिकी का आधार है, गीता में “ना जायते म्रियते वा कदाचिना” के रूप में व्यक्त है जो कहता है कि आत्मा न कभी जन्म लेती है न मरती है। समय और काल की व्याख्या में भी गीता और आधुनिक विज्ञान के बीच समानता है जहाँ दोनों समय को सापेक्ष मानते हैं और कहते हैं कि अलग-अलग स्थितियों में समय की गति अलग-अलग होती है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में गीता के सिद्धांत आज के मानसिक स्वास्थ्य विशेषज्ञों के लिए अत्यंत उपयोगी हैं। व्यक्तित्व विकास के सिद्धांत जो गीता में निहित हैं, आधुनिक मनोविज्ञान के व्यक्तित्व सिद्धांतों से मेल खाते हैं।

गीता में वर्णित सत्व, रजस और तमस के तीन गुण आधुनिक मनोविज्ञान में व्यक्तित्व के तीन मुख्य आयामों से मिलते हैं। तनाव प्रबंधन की तकनीकें जो गीता में दी गई हैं, आज की मानसिक चिकित्सा में प्रयोग की जा रही हैं। निष्काम कर्म का सिद्धांत आधुनिक मनोविज्ञान की "फ्लो स्टेट" की अवधारणा से मिलता है जहां व्यक्ति पूरी तरह से अपने काम में डूब जाता है और परिणाम की चिंता नहीं करता।

सकारात्मक चिंतन का विकास जो आज के युग में अत्यंत महत्वपूर्ण है, गीता में विस्तार से वर्णित है। गीता सिखाती है कि कैसे नकारात्मक विचारों को सकारात्मक विचारों में बदला जा सकता है और कैसे मन को नियंत्रित करके जीवन को बेहतर बनाया जा सकता है। ध्यान और योग की तकनीकें जो गीता में वर्णित हैं, आज पूरे विश्व में मानसिक स्वास्थ्य सुधारने के लिए प्रयोग की जा रही हैं। आधुनिक न्यूरो-साइंस भी इस बात की पुष्टि करता है कि ध्यान और योग से मस्तिष्क की संरचना में सकारात्मक परिवर्तन होते हैं और व्यक्ति की मानसिक क्षमताओं में वृद्धि होती है।

बोध प्रश्न—: क्वांटम भौतिकी और गीता में क्या समानता है? गीता के तीन गुण कौन से हैं? आधुनिक मनोविज्ञान में गीता की कौन सी तकनीकें प्रयोग की जा रही हैं?

1.10 गीता के व्यावहारिक उपदेश और दैनिक जीवन में प्रयोग

गीता केवल दार्शनिक सिद्धांतों का संकलन नहीं है बल्कि यह दैनिक जीवन में प्रयोग करने योग्य व्यावहारिक उपदेशों से भरपूर है। प्रातःकाल से रात्रि तक व्यक्ति अपने जीवन में गीता के सिद्धांतों को अपनाकर न केवल अधिक खुश और शांत रह सकता है बल्कि अधिक सफल भी हो सकता है। प्रातःकाल का नियम बनाते समय गीता की शिक्षा है कि जल्दी उठकर कुछ समय ध्यान और आत्म-चिंतन में बिताना चाहिए जिससे मन शांत होता है और दिन भर के लिए सकारात्मक ऊर्जा मिलती है। दिन की योजना बनाते समय गीता की शिक्षा के अनुसार स्पष्ट लक्ष्य निर्धारित करने चाहिए और उन्हें प्राप्त करने के लिए व्यवस्थित कार्ययोजना बनानी चाहिए। सकारात्मक विचारों से दिन की शुरुआत करने की आदत व्यक्ति को पूरे दिन उत्साहित और प्रेरित रखती है।

कार्यक्षेत्र में गीता के सिद्धांतों का प्रयोग करने से न केवल कार्य की गुणवत्ता बढ़ती है बल्कि कार्य में आनंद भी आता है। पूर्ण एकाग्रता से कार्य करने का सिद्धांत व्यक्ति को बेहतर परिणाम देने में सहायक है क्योंकि जब मन पूरी तरह से काम में लगा होता है तो गलतियों की संभावना कम होती है और रचनात्मकता बढ़ती है। परिणाम की अपेक्षा में न रहने का सिद्धांत व्यक्ति को तनावमुक्त रखता है और उसे अपना सर्वश्रेष्ठ देने में सहायक है। सहयोगियों के साथ मधुर व्यवहार रखने की शिक्षा कार्यक्षेत्र में सकारात्मक वातावरण बनाने में सहायक है जिससे टीमवर्क बेहतर होता है और सभी का मनोबल बढ़ता है।

संध्या काल में आत्म-मूल्यांकन की आदत गीता की महत्वपूर्ण शिक्षा है जो व्यक्ति को निरंतर सुधार के पथ पर आगे बढ़ने में सहायक है। दिन भर के कार्यों का विश्लेषण करते समय यह देखना चाहिए कि क्या अच्छा किया गया, क्या गलतियां हुईं और कल कैसे बेहतर किया जा सकता है। कृतज्ञता की भावना का अभ्यास व्यक्ति को संतुष्ट रखता है और जीवन में मिली छोटी-बड़ी खुशियों का एहसास कराता है। आंतरिक शांति के लिए मौनावलंबन का अभ्यास अर्थात् कुछ समय चुपचाप बैठकर अपने अंदर झांकना व्यक्ति को मानसिक संतुलन प्रदान करता है।

जीवन में आने वाले संकटों के समय गीता के सिद्धांत विशेष रूप से उपयोगी हैं। आर्थिक संकट के समय संतोष की भावना अपनाना, कम से कम में खुश रहना और धैर्य रखना व्यक्ति को टूटने से बचाता है। कर्म में पूरी निष्ठा रखने का सिद्धांत व्यक्ति को निराश होने के बजाय और मेहनत करने की प्रेरणा देता है। धैर्य और विवेक से काम लेने का उपदेश व्यक्ति को गलत फैसले लेने से बचाता है और सही समय का इंतजार करने की

शक्ति देता है। स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं में शरीर और आत्मा के भेद को समझने का सिद्धांत व्यक्ति को मानसिक रूप से मजबूत रखता है और बीमारी से लड़ने की शक्ति देता है।

बोध प्रश्न—: दैनिक जीवन में गीता के सिद्धांतों को कैसे अपनाया जा सकता है? संकट काल में गीता की कौन सी शिक्षाएं उपयोगी हैं? कार्यक्षेत्र में गीता के सिद्धांत कैसे लागू करें?

1.11 गीता के प्रमुख श्लोक और उनके जीवन-परिवर्तनकारी अर्थ

भगवद्गीता में अनेक ऐसे श्लोक हैं जो मानव जीवन भगवद्गीता में अनेक ऐसे श्लोक हैं जो मानव जीवन को पूर्णतः परिवर्तित करने की शक्ति रखते हैं और जिन्होंने विश्व भर के करोड़ों लोगों को प्रेरणा दी है। कर्म के सिद्धांत को स्पष्ट करने वाला श्लोक “कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि” द्वितीय अध्याय का सैंतालीसवां श्लोक है जो गीता का सबसे प्रसिद्ध और व्यावहारिक उपदेश है। इस श्लोक का अर्थ है कि तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है, फल में कभी नहीं, न तो तुम कर्म के फल के हेतु बनो और न ही तुम्हारी कर्म न करने में आसक्ति हो। यह श्लोक व्यक्ति को सिखाता है कि सफलता का रहस्य परिणाम की चिंता करने में नहीं बल्कि कर्म की गुणवत्ता में निहित है।

योग की परिभाषा देने वाला श्लोक “योगः कर्मसु कौशलम्” द्वितीय अध्याय का पचासवां श्लोक है जिसका अर्थ है कि कर्म में कुशलता ही योग है। यह श्लोक दिखाता है कि योग कोई जटिल या रहस्यमय प्रक्रिया नहीं है बल्कि अपने काम को कुशलता से करना ही सच्चा योग है। जब व्यक्ति अपने कार्य में पूर्ण दक्षता प्राप्त कर लेता है तो वह योग की अवस्था में पहुंच जाता है। समत्व की शिक्षा देने वाला श्लोक “सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते” द्वितीय अध्याय का अड़तालीसवां श्लोक है जिसका अर्थ है कि सफलता और असफलता में समान भाव रखना ही योग कहलाता है। यह श्लोक व्यक्ति को भावनात्मक संतुलन बनाए रखने की कला सिखाता है।

स्थितप्रज्ञ मुनि की विशेषताओं को बताने वाला श्लोक “दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते” द्वितीय अध्याय का छप्पनवां श्लोक है जिसका अर्थ है कि जो दुःख में उद्विग्न नहीं होता, सुख में स्पृहा रहित है, राग, भय और क्रोध से रहित है, वह स्थितप्रज्ञ मुनि कहलाता है। यह श्लोक आदर्श व्यक्तित्व का चित्रण करता है और दिखाता है कि मानसिक परिपक्वता किसे कहते हैं। भगवान की सर्वव्यापकता को व्यक्त करने वाला श्लोक “वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः” सातवें अध्याय का उन्नीसवां श्लोक है जिसका अर्थ है कि वासुदेव ही सब कुछ है, ऐसा जानने वाला महात्मा अत्यंत दुर्लभ है। यह श्लोक व्यक्ति को संपूर्ण सृष्टि में एक ही चेतना का दर्शन कराता है।

इन श्लोकों का दैनिक जीवन में व्यावहारिक प्रयोग अत्यंत लाभकारी है। परीक्षा के समय जब छात्र तनाव में होते हैं तो निष्काम कर्म के सिद्धांत को अपनाकर वे परिणाम की चिंता छोड़कर केवल अपनी तैयारी पर ध्यान दे सकते हैं जिससे उनका प्रदर्शन बेहतर होता है। कार्यक्षेत्र में जब व्यक्ति को प्रमोशन नहीं मिलती या काम में असफलता मिलती है तो समत्व के सिद्धांत को अपनाकर वह निराश होने के बजाय और मेहनत करने की प्रेरणा पा सकता है। पारिवारिक समस्याओं के समाधान के लिए स्थितप्रज्ञ के गुणों को अपनाकर व्यक्ति छोटी-मोटी बातों पर नाराज न होकर धैर्य और समझदारी से काम ले सकता है। व्यक्तित्व विकास के लिए इन श्लोकों का नियमित अध्ययन और चिंतन व्यक्ति को आंतरिक शक्ति और शांति प्रदान करता है।

बोध प्रश्न—: “योगः कर्मसु कौशलम्” श्लोक कौन से अध्याय में है? स्थितप्रज्ञ मुनि की मुख्य विशेषताएं कौन सी हैं? निष्काम कर्म के सिद्धांत का व्यावहारिक जीवन में कैसे प्रयोग करें?

1.12 गीता की आलोचनाएं और उनका समीक्षात्मक उत्तर

आधुनिक युग में गीता की कुछ आलोचनाएं भी की गई हैं जिन्हें समझना और उनका उत्तर देना आवश्यक है ताकि गीता की वास्तविक शिक्षाओं को सही परिप्रेक्ष्य में समझा जा सके। पहली आलोचना यह की जाती है कि गीता जाति व्यवस्था का समर्थन करती है और स्वधर्म की व्याख्या से पारंपरिक जाति व्यवस्था को बल मिलता है। दूसरी आलोचना यह है कि निष्काम कर्म का सिद्धांत व्यक्ति में निष्क्रियता को बढ़ावा देता है और लोग सामाजिक सुधार के लिए संघर्ष नहीं करते। तीसरी आलोचना यह है कि गीता व्यक्तिवाद की उपेक्षा करती है और व्यक्ति की इच्छाओं और अभिलाषाओं को दबाने की सलाह देती है जो व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास में बाधक है।

इन आलोचनाओं का गहन विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है कि ये आलोचनाएं गीता की गलत या अधूरी समझ पर आधारित हैं। जाति व्यवस्था के समर्थन की आलोचना का उत्तर देते हुए यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि गीता में वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म नहीं बल्कि गुण और कर्म बताया गया है। “चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः” के अनुसार चार वर्ण गुण और कर्म के आधार पर बनाए गए हैं। यह सिद्धांत आज की योग्यता आधारित समाज व्यवस्था के अनुकूल है जहां व्यक्ति को उसकी क्षमता के अनुसार कार्य मिलना चाहिए। गीता कहीं भी यह नहीं कहती कि जन्म के आधार पर व्यक्ति का सामाजिक स्तर निर्धारित होना चाहिए।

निष्क्रियता को बढ़ावा देने की आलोचना का उत्तर यह है कि निष्काम कर्म का अर्थ निष्क्रियता बिल्कुल नहीं है बल्कि यह सबसे उच्च स्तर की सक्रियता है। निष्काम कर्म का मतलब है आसक्ति रहित कर्म, न कि कर्म का अभाव। जब व्यक्ति फल की इच्छा छोड़ देता है तो वह और भी बेहतर तरीके से काम कर सकता है क्योंकि उसका सारा ध्यान काम की गुणवत्ता पर होता है। महात्मा गांधी जैसे महापुरुषों ने निष्काम कर्म के सिद्धांत को अपनाकर ही सबसे बड़े सामाजिक आंदोलन चलाए और समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन लाए। व्यक्तिवाद की उपेक्षा करने की आलोचना का उत्तर यह है कि गीता व्यक्ति की इच्छाओं को दबाने की नहीं बल्कि उन्हें परिष्कृत करने की शिक्षा देती है।

समकालीन युग में गीता की व्याख्या करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इसके सिद्धांतों को आज के संदर्भ में समझा जाए। जाति व्यवस्था के स्थान पर योग्यता आधारित समाज की स्थापना, धर्मनिरपेक्षता और सर्वधर्म समभाव की भावना तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक दायित्व के बीच संतुलन जैसे आधुनिक मूल्य गीता के मूल संदेश के विपरीत नहीं हैं। गीता का वास्तविक संदेश मानव कल्याण और आत्मिक उन्नति है जो हर युग में प्रासंगिक है।

बोध प्रश्न—: गीता की मुख्य आलोचनाएं कौन सी हैं? निष्काम कर्म का सही अर्थ क्या है? गीता में वर्ण व्यवस्था का आधार क्या बताया गया है?

1.13 गीता का भविष्य और नई पीढ़ी के लिए संदेश

इक्कीसवीं सदी के डिजिटल युग में गीता का प्रसार और प्रभाव नई दिशाएं ले रहा है जहां तकनीकी माध्यमों से इसकी शिक्षाएं दुनिया के कोने-कोने तक पहुंच रही हैं। मोबाइल एप्लिकेशन में गीता का उपलब्ध होना, दैनिक श्लोकों की सुविधा, ऑडियो और वीडियो के रूप में गीता के उपदेशों का प्रसार आज की पीढ़ी के लिए इसे सुलभ बना रहा है। ऑनलाइन कोर्स और वेबिनार के माध्यम से विश्व भर के लोग गीता की शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं और अपने जीवन में इसका प्रयोग कर रहे हैं। सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म पर दैनिक श्लोकों का प्रसार, गीता के सिद्धांतों पर आधारित प्रेरणादायक संदेशों का साझाकरण और विभिन्न भाषाओं में गीता की

व्याख्या इसकी लोकप्रियता बढ़ा रही है।

आज की युवा पीढ़ी के लिए गीता की प्रासंगिकता कई क्षेत्रों में दिखाई देती है। करियर गाइडेंस के क्षेत्र में गीता का स्वधर्म का सिद्धांत युवाओं को अपनी प्राकृतिक क्षमताओं और रुचियों के अनुसार कैरियर चुनने की प्रेरणा देता है बजाय सामाजिक दबाव या फैशन के अनुसार निर्णय लेने के। रिलेशनशिप एडवाइस के रूप में गीता की शिक्षाएं युवाओं को समझाती हैं कि स्वस्थ संबंध कैसे बनाएं, अपेक्षाओं का प्रबंधन कैसे करें और दूसरों के साथ निष्काम प्रेम कैसे करें। स्ट्रेस मैनेजमेंट के क्षेत्र में गीता के सिद्धांत आज की अत्यधिक प्रतियोगी दुनिया में युवाओं को तनाव से निपटने के प्रभावी तरीके सिखाते हैं। लाइफ पर्स की खोज में गीता युवाओं को जीवन के वास्तविक उद्देश्य को समझने और केवल भौतिक सफलता से संतुष्ट न होकर आत्मिक विकास को भी महत्व देने की प्रेरणा देती है।

भविष्य की चुनौतियों के संदर्भ में गीता के सिद्धांत और भी महत्वपूर्ण हो जाते हैं। पर्यावरण संकट के समाधान के लिए गीता का प्रकृति के साथ सामंजस्य बिठाने का सिद्धांत, सभी जीवों में समान आत्मा देखने की भावना और उपभोग की सीमा तय करने का उपदेश अत्यंत उपयोगी है। भावी पीढ़ियों के लिए संसाधन संरक्षण का दायित्व गीता के लोकसंग्रह के सिद्धांत से जुड़ा है। आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस और रोबोटिक्स के युग में गीता मानवीय मूल्यों के संरक्षण का महत्व दिखाती है और सिखाती है कि तकनीक का सदुपयोग कैसे करना चाहिए ताकि मानव गरिमा की रक्षा हो सके। वैश्विक चुनौतियों जैसे जलवायु परिवर्तन, महामारी, आर्थिक असंतुलन के समाधान के लिए गीता का सहयोग, करुणा और वैश्विक एकता का संदेश अत्यंत प्रासंगिक है।

बोध प्रश्न—: डिजिटल युग में गीता के प्रसार के मुख्य माध्यम कौन से हैं? युवाओं के लिए गीता की उपयोगिता के प्रमुख क्षेत्र कौन से हैं? भविष्य की चुनौतियों के समाधान में गीता कैसे सहायक हो सकती है?

1.14 उपसंहार और जीवन—दर्शन

श्रीमद्भगवद्गीता का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि यह केवल एक धार्मिक ग्रंथ नहीं है बल्कि यह जीवन जीने की कला सिखाने वाला महान् मार्गदर्शक है जो मानव को भौतिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में सफलता दिलाता है। गीता का मूल संदेश यह है कि जीवन का अर्थ कर्म है, और सच्चा कर्म वह है जो निष्काम भाव से किया जाए। व्यक्तिगत विकास के लिए गीता आत्म-साक्षात्कार की दिशा में निरंतर प्रयास करने, अपने कर्तव्यों का पालन पूरी ईमानदारी से करने, मानसिक संतुलन और शांति की प्राप्ति के लिए योग और ध्यान का अभ्यास करने तथा व्यक्तित्व के समग्र विकास के लिए कर्म, ज्ञान, भक्ति और योग के मार्गों को अपनाने की शिक्षा देती है।

सामाजिक कल्याण के दृष्टिकोण से गीता लोकसंग्रह की भावना से काम करने का उपदेश देती है जिसका अर्थ है कि व्यक्ति को केवल अपने हित में नहीं बल्कि समाज के सभी वर्गों के कल्याण में सोचना और काम करना चाहिए। सभी जीवों में समान आत्मा का दर्शन करने की शिक्षा भेदभाव को समाप्त करती है और सामाजिक एकता को बढ़ावा देती है। अहिंसा और करुणा के सिद्धांत समाज में शांति स्थापित करते हैं और संघर्षों का समाधान प्रेम और समझदारी से करने की प्रेरणा देते हैं। न्याय और धर्म की स्थापना में योगदान देने का उपदेश व्यक्ति को सामाजिक दायित्वों के प्रति सचेत बनाता है।

आध्यात्मिक उन्नति के लिए गीता ईश्वर के प्रति निरंतर स्मरण और समर्पण की भावना रखने, जीवन में आने वाली सभी परिस्थितियों को ईश्वर की इच्छा मानकर स्वीकार करने, भक्ति, ज्ञान और कर्म के तीनों मार्गों का समन्वित अभ्यास करने तथा जीवन के अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए निरंतर प्रयासरत रहने का मार्ग दिखाती है। यह सिखाती है कि आध्यात्मिकता का अर्थ संसार से भागना नहीं बल्कि संसार में रहते हुए अपने मन को पवित्र और शांत रखना है।

आज के भागदौड़ भरे युग में गीता का संदेश और भी महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि यह व्यक्ति को तनाव मुक्ति का मार्ग दिखाती है। निष्काम कर्म के सिद्धांत से मानसिक तनाव में कमी आती है क्योंकि व्यक्ति परिणाम की चिंता छोड़कर केवल अपने काम पर ध्यान देता है। श्रीकृष्ण के नेतृत्व गुणों से सीख लेकर आधुनिक नेतृत्व का विकास किया जा सकता है जो धैर्य, समझदारी और करुणा पर आधारित हो। क्षमा और करुणा की भावना व्यक्तिगत और सामाजिक रिश्तों को बेहतर बनाने में सहायक है। एकाग्रता और कुशलता के सिद्धांत व्यावसायिक जीवन में उत्पादकता की वृद्धि करते हैं। स्वधर्म के पालन से व्यक्ति में आत्मविश्वास बढ़ता है और वह अपने मौलिक व्यक्तित्व का विकास कर पाता है।

बोध प्रश्न—: गीता का मूल संदेश क्या है? आधुनिक युग में गीता की प्रासंगिकता के मुख्य कारण क्या हैं? व्यक्तिगत और सामाजिक विकास के लिए गीता के मुख्य सिद्धांत कौन से हैं?

1.15 बोध प्रश्न

प्रश्न—1 गुरु—शिष्य परंपरा के संदर्भ में गीता का विस्तृत विश्लेषण कीजिए। श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद से आदर्श गुरु और शिष्य की विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए आधुनिक शिक्षा पद्धति में इसकी प्रासंगिकता बताइए।

प्रश्न—2 “गीता आधुनिक युग की समस्याओं का व्यापक समाधान प्रस्तुत करती है।” इस कथन की संविस्तार व्याख्या करते हुए शिक्षा, प्रबंधन, व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक क्षेत्रों में इसकी उपादेयता को उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न—3 गीता के कर्मयोग के सिद्धांत की गहन व्याख्या कीजिए। निष्काम कर्म, स्वधर्म और योग की अवधारणाओं को स्पष्ट करते हुए आधुनिक जीवन में इनके व्यावहारिक प्रयोग की संभावनाओं पर प्रकाश डालिए।

इकाई-2 संशय एवं विषाद, कर्म जिज्ञासा

विषाद योग और सांख्य योग का विस्तृत अध्ययन

संरचना

- 2.1 भूमिका
- 2.2 विषाद योग : युद्धभूमि का परिदृश्य और अर्जुन की मनःस्थिति
- 2.3 अर्जुन के विषाद के कारण और उसके तर्क
- 2.4 सांख्य योग : श्रीकृष्ण के उपदेश का प्रारंभ
- 2.5 आत्मा का स्वरूप और अविनाशिता का सिद्धांत
- 2.6 शरीर और आत्मा का भेद तथा देहाध्यास का सिद्धांत
- 2.7 संशय की प्रकृति और अर्जुन की कर्म जिज्ञासा
- 2.8 निष्काम कर्मयोग का स्वरूप और सिद्धांत
- 2.9 समत्व योग और स्थिरबुद्धि का महत्व
- 2.10 स्थितप्रज्ञ के लक्षण और आदर्श जीवन
- 2.11 इंद्रिय नियंत्रण और मन का संयम
- 2.12 विषाद से ज्ञान की ओर : अर्जुन का रूपांतरण
- 2.13 निष्काम कर्मयोग का आधुनिक जीवन में अनुप्रयोग
- 2.14 उपसंहार और सार-संक्षेप
- 2.15 बोध प्रश्न

2.1 भूमिका

श्रीमद्भगवद्गीता का प्रारंभ एक अत्यंत नाटकीय और मानवीय परिस्थिति से होता है जहां महान् योद्धा अर्जुन युद्धभूमि में अपने ही प्रियजनों, गुरुजनों और मित्रों को देखकर पूर्णतः विषाद से भर जाता है और अपने कर्तव्य का पालन करने में असमर्थ हो जाता है। यह परिस्थिति केवल अर्जुन की व्यक्तिगत समस्या नहीं है बल्कि यह मानव जीवन में आने वाले उन क्षणों का प्रतीक है जब व्यक्ति नैतिक दुविधा, भावनात्मक संकट और कर्तव्य-अकर्तव्य के द्वंद्व में फंसा जाता है। पहले दो अध्यायों में जो संवाद होता है वह मानव मन की जटिलताओं, संशय की प्रकृति और कर्म के स्वरूप को समझने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रथम अध्याय जिसे विषाद योग के नाम से जाना जाता है, अर्जुन की मानसिक स्थिति, उसके तर्कों और भावनाओं का चित्रण करता है जबकि द्वितीय अध्याय जिसे सांख्य योग कहा जाता है, भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश का प्रारंभ है जहां वे अर्जुन को आत्मा के स्वरूप, कर्म के महत्व और निष्काम कर्मयोग की शिक्षा देते हैं। इन दोनों अध्यायों का अध्ययन गीता के संपूर्ण दर्शन को समझने के लिए अत्यावश्यक है क्योंकि यहीं पर गीता के मूल सिद्धांतों की नींव रखी जाती है।

यह अध्याय विशेष रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि यह दिखाता है कि कैसे एक सामान्य मनुष्य जो संशय

और भय से ग्रस्त है, धीरे-धीरे ज्ञान और विवेक की ओर बढ़ता है। अर्जुन की यात्रा हर उस व्यक्ति की यात्रा है जो जीवन में कठिन परिस्थितियों का सामना करता है और सही मार्ग खोजने का प्रयास करता है। इस इकाई में हम विस्तार से समझेंगे कि अर्जुन का विषाद क्या था, उसके संशय के मूल कारण क्या थे, उसने कर्म के बारे में क्या जिज्ञासाएं रखीं और भगवान श्रीकृष्ण ने किस प्रकार निष्काम कर्मयोग का स्वरूप स्पष्ट किया।

2.2 विषाद योग : युद्धभूमि का परिदृश्य और अर्जुन की मनःस्थिति

गीता के प्रथम अध्याय का नाम विषाद योग है जो पहली दृष्टि में विरोधाभासी प्रतीत होता है क्योंकि विषाद और योग दोनों परस्पर विपरीत प्रतीत होते हैं। विषाद का अर्थ है दुःख, निराशा और मानसिक व्यथा जबकि योग का अर्थ है समत्व, शांति और आत्मिक उन्नति। परंतु इस अध्याय को विषाद योग इसलिए कहा गया है क्योंकि यह विषाद ही अर्जुन को योग की ओर ले जाने का माध्यम बनता है। जब तक व्यक्ति जीवन की कठिनाइयों और दुखों का अनुभव नहीं करता, तब तक वह सत्य की खोज नहीं करता और आध्यात्मिक मार्ग की ओर नहीं बढ़ता। अर्जुन का विषाद एक साधारण दुःख नहीं था बल्कि यह गहन नैतिक संकट और आत्मिक उलझन का परिणाम था जो अंततः उसे ज्ञान प्राप्ति की ओर ले गया।

कुरुक्षेत्र की रणभूमि में जब दोनों सेनाएं युद्ध के लिए तैयार खड़ी थीं, अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से अपना रथ दोनों सेनाओं के बीच में ले जाने का अनुरोध किया ताकि वह देख सके कि उसे किनके साथ युद्ध करना है। जब उसने सामने की ओर देखा तो उसे अपने पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य, मामा शकुनि, भाई, मित्र, संबंधी और अनेक प्रियजन दिखाई दिए। यह दृश्य देखकर अर्जुन का हृदय करुणा, मोह और भय से भर गया। उसने सोचा कि इन लोगों को मारकर राज्य प्राप्त करने से क्या लाभ होगा, क्या राज्य और सुख इन प्रियजनों के जीवन से अधिक महत्वपूर्ण है। उसके मन में यह विचार आया कि युद्ध से परिवार का नाश होगा, कुल का धर्म नष्ट होगा और समाज में अराजकता फैल जाएगी। ये सभी विचार उसके मन में इतनी तीव्रता से उठे कि उसका शरीर कांपने लगा, गांडीव धनुष उसके हाथ से फिसलने लगा और वह रथ में बैठ गया।

अर्जुन की मानसिक स्थिति का वर्णन करते हुए गीता में कहा गया है कि उसकी इंद्रियां शिथिल हो गईं, मुख सूख गया, शरीर कांपने लगा और रोमांच हो गया। उसने कहा "सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति। वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते" अर्थात् मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं, मुख सूख रहा है, शरीर में कंपन हो रहा है और रोमांच हो रहा है। यह केवल शारीरिक लक्षण नहीं थे बल्कि गहरी मानसिक और आध्यात्मिक उलझन के संकेत थे। अर्जुन ने अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा कि वह इन गुरुजनों और प्रियजनों को मारकर राज्य और सुख नहीं चाहता, उसे कोई अपशकुन दिखाई दे रहे हैं और वह समझ नहीं पा रहा है कि क्या करना उचित है। गीता के प्रथम अध्याय का नाम विषाद योग है जो पहली दृष्टि में विरोधाभासी प्रतीत होता है क्योंकि विषाद और योग दोनों परस्पर विपरीत प्रतीत होते हैं। विषाद का अर्थ है दुःख, निराशा और मानसिक व्यथा जबकि योग का अर्थ है समत्व, शांति और आत्मिक उन्नति। परंतु इस अध्याय को विषाद योग इसलिए कहा गया है क्योंकि यह विषाद ही अर्जुन को योग की ओर ले जाने का माध्यम बनता है। जब तक व्यक्ति जीवन की कठिनाइयों और दुखों का अनुभव नहीं करता, तब तक वह सत्य की खोज नहीं करता और आध्यात्मिक मार्ग की ओर नहीं बढ़ता। अर्जुन का विषाद एक साधारण दुःख नहीं था बल्कि यह गहन नैतिक संकट और आत्मिक उलझन का परिणाम था जो अंततः उसे ज्ञान प्राप्ति की ओर ले गया।

कुरुक्षेत्र की रणभूमि में जब दोनों सेनाएं युद्ध के लिए तैयार खड़ी थीं, अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से अपना रथ दोनों सेनाओं के बीच में ले जाने का अनुरोध किया ताकि वह देख सके कि उसे किनके साथ युद्ध करना है। जब उसने सामने की ओर देखा तो उसे अपने पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य, मामा शकुनि, भाई, मित्र, संबंधी और अनेक प्रियजन दिखाई दिए। यह दृश्य देखकर अर्जुन का हृदय करुणा, मोह और भय से भर

गया। उसने सोचा कि इन लोगों को मारकर राज्य प्राप्त करने से क्या लाभ होगा, क्या राज्य और सुख इन प्रियजनों के जीवन से अधिक महत्वपूर्ण है। उसके मन में यह विचार आया कि युद्ध से परिवार का नाश होगा, कुल का धर्म नष्ट होगा और समाज में अराजकता फैल जाएगी। ये सभी विचार उसके मन में इतनी तीव्रता से उठे कि उसका शरीर कांपने लगा, गांडीव धनुष उसके हाथ से फिसलने लगा और वह रथ में बैठ गया।

बोध प्रश्न—: प्रथम अध्याय का नाम क्या है? अर्जुन ने कृष्ण से क्या अनुरोध किया था? अर्जुन के शरीर में कौन से लक्षण दिखाई दिए?

2.3 अर्जुन के विषाद के कारण और उसके तर्क

अर्जुन का विषाद अचानक उत्पन्न हुई कोई भावनात्मक कमजोरी नहीं था बल्कि यह गहन चिंतन और तर्कपूर्ण विश्लेषण का परिणाम था। अर्जुन एक महान् योद्धा, विचारशील व्यक्ति और धर्म को समझने वाला मनुष्य था। उसके विषाद के पीछे अनेक कारण थे जो मिलकर उसे इस स्थिति में ले आए। पहला और सबसे महत्वपूर्ण कारण था उसका मोह और प्रियजनों के प्रति आसक्ति। जब उसने अपने पितामह भीष्म को देखा जिन्होंने उसे बचपन में पाला था, गुरु द्रोणाचार्य को देखा जिन्होंने उसे शस्त्र विद्या सिखाई थी और अपने भाइयों, मित्रों और संबंधियों को देखा तो उसका हृदय करुणा से भर गया। यह मोह उसे युद्ध करने से रोक रहा था क्योंकि वह इन लोगों के बिना जीवन की कल्पना नहीं कर पा रहा था।

दूसरा कारण था उसकी नैतिक दुविधा और धर्म-अधर्म के बारे में संशय। अर्जुन सोच रहा था कि गुरुजनों और ज्येष्ठजनों को मारना महापाप है और इससे समाज में अधर्म फैलेगा। उसने तर्क दिया कि युद्ध से परिवार का नाश होगा, कुल का धर्म नष्ट होगा, स्त्रियां विधवा हो जाएंगी, वर्ण संकर की समस्या उत्पन्न होगी और समाज में अराजकता फैल जाएगी। उसने कहा “कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः। धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत” अर्थात् कुल के नाश से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्म के नष्ट होने पर संपूर्ण कुल में अधर्म फैल जाता है। यह तर्क सुनने में बहुत तार्किक और नैतिक प्रतीत होता था।

तीसरा कारण था उसका भय और अनिश्चितता का भाव। अर्जुन को यह डर था कि युद्ध जीतने के बाद भी वह खुश नहीं रह पाएगा क्योंकि उसे निरंतर अपने प्रियजनों को मारने का पश्चात्ताप होगा। उसने कहा कि राज्य और सुख का भोग करना उसके लिए संभव नहीं होगा क्योंकि ये सब चीजें उन्हीं लोगों के लिए तो चाहिए थे जो अब युद्धभूमि में खड़े हैं। चौथा कारण था उसकी दार्शनिक उलझन कि हिंसा और युद्ध से कभी भी शांति नहीं आ सकती। उसने सोचा कि अहिंसा सबसे बड़ा धर्म है और युद्ध करना अधर्म है। पांचवां कारण था उसकी शारीरिक और मानसिक थकान जो लंबे समय से चले आ रहे संघर्ष और तनाव का परिणाम थी।

इन सभी कारणों ने मिलकर अर्जुन को इस स्थिति में ला दिया कि उसने अपना गांडीव धनुष रख दिया और युद्ध न करने का निर्णय ले लिया। उसने भगवान श्रीकृष्ण से कहा “न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह” अर्थात् गोविंद से श्मैं युद्ध नहीं करूंगा’ यह कहकर अर्जुन चुप हो गया। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि अर्जुन के तर्क सुनने में बहुत नैतिक, तार्किक और मानवीय प्रतीत होते हैं परंतु वास्तव में ये सभी तर्क मोह, भय और अज्ञान से उत्पन्न थे। भगवान श्रीकृष्ण ने आगे के अध्यायों में इन सभी तर्कों का उत्तर दिया और दिखाया कि कैसे अर्जुन का विषाद वास्तव में उसकी कर्तव्य से विमुखता और स्वार्थपरता थी।

बोध प्रश्न—: अर्जुन के विषाद के मुख्य कारण कौन से थे? अर्जुन ने युद्ध से क्या-क्या हानियां बताईं? “न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा” का क्या अर्थ है?

2.4 सांख्य योग : श्रीकृष्ण के उपदेश का प्रारंभ

गीता के द्वितीय अध्याय का नाम सांख्य योग है और यह अध्याय गीता का सबसे महत्वपूर्ण और व्यापक

अध्याय माना जाता है क्योंकि इसमें गीता के लगभग सभी मूल सिद्धांतों का उल्लेख है। इस अध्याय में कुल 72 श्लोक हैं जो गीता के किसी भी अध्याय से अधिक हैं। सांख्य शब्द का अर्थ है विवेक, ज्ञान या तत्त्वज्ञान और योग का अर्थ है समत्व, कर्म में कुशलता या आत्मा का परमात्मता से मिलन। इस अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को आत्मा के स्वरूप, शरीर और आत्मा के भेद, कर्म के महत्व, निष्काम कर्मयोग, स्थितप्रज्ञ के लक्षण और जीवन जीने की कला का उपदेश देते हैं।

जब अर्जुन ने यह घोषणा कर दी कि वह युद्ध नहीं करेगा और रथ में बैठकर चुप हो गया तो भगवान श्रीकृष्ण ने उसकी स्थिति को देखा और समझा कि यह केवल भावनात्मक कमजोरी नहीं है बल्कि गहरे ज्ञान और मार्गदर्शन की आवश्यकता है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को संबोधित करते हुए कहा “अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे। गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः” अर्थात् तुम उनके लिए शोक कर रहे हो जो शोक करने योग्य नहीं हैं और ज्ञानी जैसी बातें कर रहे हो परंतु वास्तविक पंडित न तो जीवितों के लिए शोक करते हैं और न मृतकों के लिए। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सीधे और कठोर शब्दों में यह बताया कि उसका शोक अज्ञान पर आधारित है।

श्रीकृष्ण ने अपने उपदेश की शुरुआत आत्मा के स्वरूप को समझाने से की क्योंकि यही वह मूलभूत ज्ञान है जिसके बिना कोई भी व्यक्ति जीवन और मृत्यु के रहस्य को नहीं समझ सकता। उन्होंने कहा कि जो वास्तविक है वह नित्य है, अविनाशी है और सदा रहने वाला है जबकि जो शरीर है वह नश्वर है, परिवर्तनशील है और एक दिन नष्ट हो जाने वाला है। इस प्रकार उन्होंने आत्मा और शरीर के बीच का मूलभूत अंतर स्पष्ट किया जो गीता के दर्शन की नींव है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि अर्जुन का विषाद वास्तव में इस सत्य को न समझने का परिणाम है कि आत्मा कभी मरती नहीं है और जो शरीर है वह तो मरना ही है चाहे युद्ध हो या न हो।

बोध प्रश्न—: द्वितीय अध्याय का नाम क्या है? इस अध्याय में कितने श्लोक हैं? श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पहली बात क्या कही?

2.5 आत्मा का स्वरूप और अविनाशिता का सिद्धांत

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आत्मा के स्वरूप को समझाने के लिए अनेक तर्क और उदाहरण दिए जो गीता के सबसे महत्वपूर्ण और गहन उपदेशों में से हैं। उन्होंने सबसे पहले यह स्पष्ट किया कि आत्मा का कभी जन्म नहीं होता और न ही यह कभी मरती है। आत्मा नित्य है, अजन्मा है, अविनाशी है, शाश्वत है और सनातन है। श्रीकृष्ण ने कहा “न जायते म्रियते वा कदाचिन्ननायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे” अर्थात् यह आत्मा न कभी जन्म लेती है और न कभी मरती है, यह उत्पन्न होकर फिर होने वाली नहीं है, यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारी जाती।

इस श्लोक में आत्मा के पांच महत्वपूर्ण गुण बताए गए हैं जो उसकी वास्तविक प्रकृति को स्पष्ट करते हैं। प्रथम, आत्मा अजन्मा है अर्थात् इसका कभी जन्म नहीं होता क्योंकि जन्म का अर्थ है जो पहले नहीं था वह अब है परंतु आत्मा सदा से है इसलिए इसका जन्म नहीं होता। द्वितीय, आत्मा नित्य है अर्थात् यह सदा एक जैसी रहती है, इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। तृतीय, आत्मा शाश्वत है अर्थात् यह समय के प्रवाह में भी अप्रभावित रहती है। चतुर्थ, आत्मा पुरातन है अर्थात् यह सृष्टि के आरंभ से ही है और सृष्टि के अंत के बाद भी रहेगी। पंचम, शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होती जो सबसे महत्वपूर्ण बात है।

श्रीकृष्ण ने आगे यह समझाया कि जैसे व्यक्ति पुराने वस्त्रों को त्यागकर नए वस्त्र धारण करता है वैसे ही आत्मा पुराने शरीर को त्यागकर नए शरीर में प्रवेश करती है। उन्होंने कहा “वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही” अर्थात् जैसे मनुष्य पुराने

वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नए वस्त्रों को ग्रहण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नए शरीरों को प्राप्त होती है। यह उदाहरण अत्यंत स्पष्ट और सरल है जो मृत्यु के भय को दूर करता है और दिखाता है कि मृत्यु केवल शरीर परिवर्तन की प्रक्रिया है न कि आत्मा का अंत।

श्रीकृष्ण ने यह भी बताया कि आत्मा को कोई भी शस्त्र काट नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती। उन्होंने कहा “नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चोर्न क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः” अर्थात् इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती। यह श्लोक आत्मा की पूर्ण अजेयता और अविनाशिता को दर्शाता है। इस प्रकार के गहन ज्ञान से अर्जुन को यह समझ में आने लगा कि जिनके लिए वह शोक कर रहा है उनकी आत्माएं तो अमर हैं और केवल शरीर नश्वर है जो तो नष्ट होना ही है।

बोध प्रश्न—: आत्मा के पांच मुख्य गुण कौन से हैं? वस्त्र का उदाहरण किसलिए दिया गया है? आत्मा को कौन-कौन सी चीजें प्रभावित नहीं कर सकतीं?

2.6 शरीर और आत्मा का भेद तथा देहाध्यास का सिद्धांत

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया कि मनुष्य का सबसे बड़ा भ्रम यह है कि वह अपने को शरीर समझता है जबकि वास्तव में वह आत्मा है। यह भ्रम जिसे देहाध्यास कहते हैं, सभी दुखों और समस्याओं का मूल कारण है। जब व्यक्ति अपने को शरीर समझता है तो वह शरीर के सुख-दुःख, जीवन-मरण और लाभ-हानि में फंस जाता है और आत्मा के वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया कि शरीर तो एक यंत्र है, एक वाहन है जिसमें आत्मा निवास करती है परंतु व्यक्ति की वास्तविक पहचान आत्मा ही है न कि शरीर।

शरीर और आत्मा के बीच के भेद को समझाने के लिए श्रीकृष्ण ने कहा कि शरीर पंच महाभूतों से बना है जो नश्वर हैं, परिवर्तनशील हैं और नष्ट होने वाले हैं। शरीर में बचपन, युवावस्था और वृद्धावस्था आती है, यह रोग और दुःख का अनुभव करता है और अंत में मृत्यु को प्राप्त होता है। इसके विपरीत आत्मा चैतन्य स्वरूप है, अविनाशी है, नित्य है और किसी भी प्रकार के परिवर्तन से रहित है। शरीर एक निश्चित समय के लिए है परंतु आत्मा अनंत काल से है और अनंत काल तक रहेगी।

श्रीकृष्ण ने यह भी समझाया कि जो व्यक्ति शरीर और आत्मा के भेद को जान लेता है वह न तो जन्म से प्रसन्न होता है और न मृत्यु से दुखी होता है क्योंकि वह समझ जाता है कि जन्म और मृत्यु केवल शरीर की घटनाएं हैं आत्मा की नहीं। उन्होंने कहा “देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा। तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति” अर्थात् जिस प्रकार इस शरीर में आत्मा की बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था होती है उसी प्रकार आत्मा को दूसरा शरीर प्राप्त होता है, धीर पुरुष इससे मोहित नहीं होता। यह श्लोक बताता है कि जैसे बचपन से जवानी में और जवानी से बुढ़ापे में परिवर्तन को हम स्वाभाविक मानते हैं वैसे ही एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना भी स्वाभाविक है।

शरीर और आत्मा के भेद को समझने से मनुष्य को यह ज्ञान हो जाता है कि वास्तविक सुख और शांति शरीर के सुखों में नहीं बल्कि आत्मा की अनुभूति में है। जब व्यक्ति शरीर को ही सब कुछ मानता है तो वह भोग-विलास में फंस जाता है, संसार के पदार्थों में आसक्त हो जाता है और अंततः दुःख का भागी बनता है। परंतु जब वह आत्मा के स्वरूप को जान लेता है तो उसे शाश्वत आनंद की प्राप्ति होती है जो किसी भी बाहरी परिस्थिति से प्रभावित नहीं होता। श्रीकृष्ण का यह उपदेश केवल दार्शनिक ज्ञान नहीं था बल्कि व्यावहारिक जीवन में मृत्यु के भय, शोक और मोह से मुक्ति का मार्ग था।

बोध प्रश्न—: देहाध्यास का क्या अर्थ है? शरीर और आत्मा में मुख्य अंतर क्या है? धीर पुरुष किससे मोहित नहीं होता?

2.7 संशय की प्रकृति और अर्जुन की कर्म जिज्ञासा

जब भगवान श्रीकृष्ण ने आत्मा के अविनाशी स्वरूप को समझाया तो अर्जुन के मन में नए प्रश्न—उठने लगे। यह स्वाभाविक था क्योंकि जब किसी व्यक्ति को गहन ज्ञान मिलता है तो उसके मन में अनेक जिज्ञासाएं जन्म लेती हैं। अर्जुन का संशय केवल मोह या भय से उत्पन्न नहीं था बल्कि वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से प्रेरित था। उसने सोचा कि यदि आत्मा अमर है और शरीर नश्वर है तो फिर युद्ध क्यों करना चाहिए, यदि सब कुछ नश्वर है तो कर्म का क्या महत्व है और यदि आत्मा ही सत्य है तो संसार में रहकर कर्म करने की क्या आवश्यकता है। ये सभी प्रश्न—गहन दार्शनिक महत्व के थे जिनका उत्तर देना आवश्यक था।

अर्जुन की कर्म जिज्ञासा मूलतः इस बात को लेकर थी कि यदि ज्ञान सबसे श्रेष्ठ है तो कर्म क्यों करना चाहिए और यदि कर्म करना आवश्यक है तो किस प्रकार का कर्म करना चाहिए। उसने श्रीकृष्ण से पूछा कि ज्ञान और कर्म में से कौन श्रेष्ठ है, क्या कर्म करते हुए ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है या कर्म से विरत होकर ज्ञान की साधना करनी चाहिए। यह प्रश्न—आज भी अनेक लोगों के मन में होता है कि क्या व्यावहारिक जीवन जीते हुए आध्यात्मिक उन्नति संभव है या संसार को त्यागकर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। अर्जुन के इन प्रश्नों में हर उस साधक के प्रश्न—थे जो जीवन के वास्तविक मार्ग को खोज रहा है।

संशय की प्रकृति को समझना भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। संशय वह मानसिक स्थिति है जब व्यक्ति को यह समझ में नहीं आता कि क्या सही है और क्या गलत है। संशय अज्ञान से उत्पन्न होता है और व्यक्ति को निर्णय लेने से रोकता है। परंतु संशय दो प्रकार का होता है। प्रथम प्रकार का संशय वह है जो मोह, भय और स्वार्थ से उत्पन्न होता है और व्यक्ति को कर्तव्य से विमुख करता है। यह संशय हानिकारक है और इससे व्यक्ति का पतन होता है। द्वितीय प्रकार का संशय वह है जो वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से उत्पन्न होता है और व्यक्ति को सत्य की खोज में प्रेरित करता है। यह संशय लाभकारी है और इससे व्यक्ति का विकास होता है। अर्जुन का संशय दूसरे प्रकार का था जो उसे गीता के गहन उपदेश को समझने योग्य बना रहा था।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन के संशय को दूर करने के लिए धैर्यपूर्वक उसके प्रत्येक प्रश्न—का उत्तर दिया। उन्होंने समझाया कि ज्ञान और कर्म दोनों आवश्यक हैं और ये एक—दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं। केवल ज्ञान से व्यक्ति का उद्धार नहीं होता और न ही केवल कर्म से। वास्तविक मार्ग वह है जिसमें ज्ञानपूर्वक कर्म किया जाए अर्थात् जो व्यक्ति आत्मा के ज्ञान को समझकर निष्काम भाव से कर्म करता है वही सच्चा योगी है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि संसार को त्यागकर भागना समाधान नहीं है बल्कि संसार में रहते हुए आसक्ति को त्यागना वास्तविक त्याग है।

बोध प्रश्न—: अर्जुन की मुख्य कर्म जिज्ञासा क्या थी? संशय कितने प्रकार का होता है? ज्ञान और कर्म में क्या संबंध है?

2.8 निष्काम कर्मयोग का स्वरूप और सिद्धांत

गीता का सबसे महत्वपूर्ण और क्रांतिकारी सिद्धांत निष्काम कर्मयोग है जिसे भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया और जो आज भी संपूर्ण विश्व में प्रासंगिक है। निष्काम कर्मयोग का अर्थ है फल की इच्छा के बिना कर्म करना, परिणाम की चिंता किए बिना अपने कर्तव्य का पालन करना और कर्म में आसक्ति न रखते हुए पूर्ण समर्पण से कार्य करना। यह सिद्धांत इतना गहन और व्यावहारिक है कि इसे समझने और अपनाने से व्यक्ति न केवल सांसारिक सफलता प्राप्त करता है बल्कि आध्यात्मिक मुक्ति भी पाता है।

श्रीकृष्ण ने निष्काम कर्मयोग का सार एक प्रसिद्ध श्लोक में व्यक्त किया है जो गीता का सबसे लोकप्रिय श्लोक है। उन्होंने कहा “कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि” अर्थात् तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है, फल में कभी नहीं, इसलिए तुम कर्म के फल के हेतु मत बनो और न ही तुम्हारी कर्म न करने में आसक्ति हो। इस श्लोक में चार महत्वपूर्ण बातें कही गई हैं। प्रथम, व्यक्ति का अधिकार केवल कर्म में है। द्वितीय, व्यक्ति का अधिकार फल में कभी नहीं है। तृतीय, व्यक्ति को कर्म के फल का हेतु नहीं बनना चाहिए अर्थात् फल की इच्छा से प्रेरित होकर कर्म नहीं करना चाहिए। चतुर्थ, व्यक्ति को कर्म न करने में भी आसक्ति नहीं रखनी चाहिए अर्थात् निष्क्रियता भी गलत है।

निष्काम कर्मयोग के स्वरूप को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि कर्म तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम है सकाम कर्म जो फल की इच्छा से किया जाता है और यह बंधन का कारण बनता है। जब व्यक्ति किसी विशेष परिणाम की अपेक्षा से कर्म करता है तो वह उस परिणाम के बंधन में फंस जाता है और यदि इच्छित परिणाम नहीं मिलता तो दुखी होता है। द्वितीय है विकर्म जो गलत कर्म है, अधर्म है और समाज के लिए हानिकारक है। यह कर्म पाप का कारण बनता है और व्यक्ति के पतन का कारण बनता है। तृतीय है अकर्म जो कर्म न करना है, निष्क्रियता है और यह भी बंधन का कारण बनता है क्योंकि कर्म से भागना मोह है।

निष्काम कर्म इन तीनों से भिन्न है। यह वह कर्म है जो कर्तव्य की भावना से किया जाता है, जिसमें फल की इच्छा नहीं होती और जो धर्म के अनुसार होता है। निष्काम कर्म में व्यक्ति पूरी निष्ठा से काम करता है, अपनी पूरी क्षमता का उपयोग करता है परंतु परिणाम को भगवान पर छोड़ देता है। इस प्रकार का कर्म व्यक्ति को बंधन में नहीं फंसाता बल्कि मुक्ति की ओर ले जाता है। श्रीकृष्ण ने कहा “योगः कर्मसु कौशलम्” अर्थात् कर्म में कुशलता ही योग है। यह कुशलता तब आती है जब व्यक्ति फल की चिंता छोड़कर केवल कर्म की गुणवत्ता पर ध्यान देता है।

निष्काम कर्मयोग के व्यावहारिक लाभ अनेक हैं। प्रथम, जब व्यक्ति फल की इच्छा छोड़ देता है तो उसका मन तनावमुक्त हो जाता है और वह अधिक कुशलता से काम कर सकता है। द्वितीय, परिणाम की चिंता न होने से व्यक्ति की रचनात्मकता बढ़ती है और वह नवीन विचार प्रस्तुत कर सकता है। तृतीय, निष्काम भाव से कर्म करने पर असफलता भी दुखदायी नहीं होती क्योंकि व्यक्ति जानता है कि उसने अपना सर्वश्रेष्ठ दिया है। चतुर्थ, निष्काम कर्म से व्यक्ति का चित्त शुद्ध होता है और वह आध्यात्मिक उन्नति की ओर बढ़ता है।

बोध प्रश्न—: निष्काम कर्मयोग का क्या अर्थ है? “कर्मण्येवाधिकारस्ते” श्लोक में क्या कहा गया है? कर्म कितने प्रकार के होते हैं?

2.9 समत्व योग और स्थिरबुद्धि का महत्व

निष्काम कर्मयोग को समझाने के बाद श्रीकृष्ण ने समत्व योग का सिद्धांत प्रस्तुत किया जो निष्काम कर्मयोग का ही दूसरा पहलू है। समत्व का अर्थ है समान भाव, संतुलन और स्थिरता। श्रीकृष्ण ने कहा “योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय। सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते” अर्थात् हे धनञ्जय, आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान भाव से स्थित होकर योग में स्थित होकर कर्म कर, यह समत्व ही योग कहलाता है। इस श्लोक में तीन महत्वपूर्ण बातें कही गई हैं। प्रथम, कर्म करते समय आसक्ति को त्याग देना चाहिए। द्वितीय, सफलता और असफलता में समान भाव रखना चाहिए। तृतीय, यही समत्व योग है।

समत्व योग का अर्थ है जीवन के सभी द्वंद्वों में संतुलित रहना। सुख—दुःख, लाभ—हानि, प्रशंसा—निंदा, सफलता—असफलता, जीत—हार ये सभी जीवन के अभिन्न अंग हैं और ये निरंतर आते—जाते रहते हैं। जो व्यक्ति इन सभी स्थितियों में समान भाव से रहता है, जो सुख में अत्यधिक प्रसन्न नहीं होता और दुःख में अत्यधिक

दुखी नहीं होता, वह योगी है। यह समत्व केवल भावनात्मक शून्यता नहीं है बल्कि गहन आध्यात्मिक परिपक्वता का संकेत है। समत्व योग से व्यक्ति को आंतरिक शांति मिलती है और वह जीवन के उतार-चढ़ाव से प्रभावित नहीं होता।

स्थिरबुद्धि या स्थितप्रज्ञ का महत्व गीता में विशेष रूप से बताया गया है। स्थिरबुद्धि वह व्यक्ति है जिसकी बुद्धि स्थिर है, जो विचलित नहीं होता और जो सभी परिस्थितियों में संतुलित रहता है। श्रीकृष्ण ने स्थिरबुद्धि व्यक्ति के लक्षणों का विस्तार से वर्णन किया है जो गीता के दूसरे अध्याय के अंतिम भाग में है। स्थिरबुद्धि व्यक्ति वह है जो इंद्रियों को वश में रखता है, मन को नियंत्रित करता है, विषयों में आसक्त नहीं होता और आत्मा में स्थित रहता है। ऐसा व्यक्ति दुःख में व्याकुल नहीं होता, सुख में स्पृहा रहित होता है और राग, भय तथा क्रोध से मुक्त होता है।

समत्व योग और स्थिरबुद्धि का व्यावहारिक जीवन में अत्यधिक महत्व है। आज के तनावपूर्ण युग में जब व्यक्ति निरंतर सफलता और असफलता के बीच झूलता रहता है, समत्व योग उसे मानसिक संतुलन प्रदान करता है। जब व्यक्ति सफलता को सिर पर नहीं चढ़ाता और असफलता से हार नहीं मानता तो वह निरंतर प्रगति करता रहता है। समत्व योग से व्यक्ति को अपने कर्म में आनंद मिलता है क्योंकि वह परिणाम की चिंता नहीं करता और केवल अपने कर्तव्य पर ध्यान देता है। यह सिद्धांत न केवल व्यक्तिगत जीवन में बल्कि व्यावसायिक जीवन, खेल, शिक्षा और सभी क्षेत्रों में उपयोगी है।

बोध प्रश्न—: समत्व योग का क्या अर्थ है? स्थिरबुद्धि व्यक्ति की मुख्य विशेषताएं क्या हैं? सिद्धि और असिद्धि में समान भाव क्यों रखना चाहिए?

2.10 स्थितप्रज्ञ के लक्षण और आदर्श जीवन

गीता के दूसरे अध्याय के अंतिम भाग में अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से एक महत्वपूर्ण प्रश्न-पूछा। उसने पूछा “स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव। स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत् व्रजेत किम्” अर्थात् हे केशव, समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ व्यक्ति की क्या परिभाषा है, स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है। यह प्रश्न-अत्यंत महत्वपूर्ण था क्योंकि अर्जुन जानना चाहता था कि वास्तव में ज्ञानी व्यक्ति कैसा होता है, उसका आचरण कैसा होता है और उसकी जीवनशैली क्या होती है। इस प्रश्न-के उत्तर में श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का अत्यंत सुंदर और व्यावहारिक वर्णन किया जो मानव जीवन के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करता है।

श्रीकृष्ण ने बताया कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति वह है जो मन की सभी कामनाओं को त्याग देता है और आत्मा में ही संतुष्ट रहता है। उन्होंने कहा “प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आतमन्येवातमना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते” अर्थात् हे पार्थ, जब यह पुरुष मन में स्थित संपूर्ण कामनाओं को त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। यह श्लोक बताता है कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति की पहली विशेषता है कामनाओं का अभाव। वह बाहरी वस्तुओं से सुख नहीं खोजता बल्कि अपने भीतर ही आनंद का अनुभव करता है। यह संतुष्टि बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं होती बल्कि आत्मिक अनुभूति से उत्पन्न होती है।

दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह बताई गई कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति दुःखों में उद्विग्न नहीं होता, सुखों में स्पृहा रहित होता है और राग, भय तथा क्रोध से मुक्त होता है। श्रीकृष्ण ने कहा “दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते” अर्थात् जो दुःखों में मन से उद्विग्न नहीं होता, सुखों में स्पृहा रहित है और राग, भय तथा क्रोध से रहित है, वह स्थिर बुद्धि वाला मुनि कहलाता है। यह श्लोक दिखाता है कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति भावनात्मक रूप से परिपक्व होता है और जीवन के उतार-चढ़ाव से विचलित नहीं होता।

वह जानता है कि सुख और दुःख दोनों अस्थायी हैं और इन्हें समान भाव से देखना चाहिए।

तीसरी विशेषता यह बताई गई कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति सभी प्रकार की आसक्तियों से मुक्त होता है। उन्होंने कहा “यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता” अर्थात् जो सब जगह आसक्ति रहित होकर उस-उस शुभ और अशुभ को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है। यह श्लोक बताता है कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति निष्पक्ष होता है और किसी भी घटना को अच्छा या बुरा कहकर उससे आसक्त या द्वेषयुक्त नहीं होता। चौथी विशेषता यह बताई गई कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति अपनी इंद्रियों को वश में रखता है जैसे कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है। यह इंद्रिय नियंत्रण उसे विषयों के प्रभाव से बचाता है और आंतरिक शांति प्रदान करता है।

बोध प्रश्न—: अर्जुन ने स्थितप्रज्ञ के बारे में क्या प्रश्न-पूछा?

बोध प्रश्न—: अर्जुन ने स्थितप्रज्ञ के बारे में क्या प्रश्न-पूछा? स्थितप्रज्ञ की पहली विशेषता क्या है? कछुए का उदाहरण किसलिए दिया गया है?

2.11 इंद्रिय नियंत्रण और मन का संयम

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों को बताने के बाद श्रीकृष्ण ने इंद्रिय नियंत्रण और मन के संयम के बारे में महत्वपूर्ण शिक्षा दी जो मानव जीवन के लिए अत्यंत आवश्यक है। उन्होंने समझाया कि इंद्रियां अत्यंत शक्तिशाली होती हैं और विषयों की ओर खिंचती रहती हैं। जब व्यक्ति अपनी इंद्रियों को नियंत्रित नहीं कर पाता तो वह विषयों में फंस जाता है और अपने वास्तविक लक्ष्य से भटक जाता है। इंद्रियों का नियंत्रण केवल उनका दमन नहीं है बल्कि उन्हें सही दिशा में प्रयोग करना है। श्रीकृष्ण ने कहा कि विषयों का चिंतन करने से उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से कामना होती है, कामना से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से मोह होता है, मोह से स्मृति भ्रम होता है, स्मृति भ्रम से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश से व्यक्ति का पतन हो जाता है।

इस क्रमबद्ध पतन की प्रक्रिया को समझाने वाला श्लोक गीता के सबसे महत्वपूर्ण श्लोकों में से एक है। श्रीकृष्ण ने कहा “ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गातसज्जायते कामः कामातक्रोधोऽभिजायते। क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति” अर्थात् विषयों का चिंतन करने वाले मनुष्य की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मूढ़भाव उत्पन्न होता है, मूढ़भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने से यह मनुष्य अपनी स्थिति से गिर जाता है।

यह श्लोक मनोविज्ञान की गहन समझ प्रस्तुत करता है और दिखाता है कि कैसे एक छोटा सा विचार व्यक्ति के संपूर्ण पतन का कारण बन सकता है। जब व्यक्ति किसी विषय के बारे में बार-बार सोचता है तो धीरे-धीरे उसमें आसक्ति विकसित होती है। यह आसक्ति कामना में बदलती है अर्थात् व्यक्ति उस विषय को पाने की इच्छा करने लगता है। जब यह कामना पूरी नहीं होती या किसी कारण से बाधा आती है तो क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध व्यक्ति की सोचने-समझने की शक्ति को नष्ट कर देता है और वह मोहित हो जाता है। मोह से उसकी स्मृति भ्रमित हो जाती है अर्थात् वह यह भूल जाता है कि क्या सही है और क्या गलत है। जब स्मृति भ्रमित हो जाती है तो बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि के नाश से व्यक्ति का पूर्ण पतन हो जाता है।

इस पतन से बचने का उपाय भी श्रीकृष्ण ने बताया। उन्होंने कहा कि जो व्यक्ति राग-द्वेष से रहित होकर, इंद्रियों को वश में रखकर विषयों में विचरण करता है वह प्रसन्नता को प्राप्त होता है। मन का संयम

सबसे बड़ी शक्ति है और जिसने अपने मन को जीत लिया उसने संपूर्ण संसार को जीत लिया। मन को नियंत्रित करने के लिए अभ्यास, वैराग्य, ध्यान और सत्संग की आवश्यकता होती है। नियमित अभ्यास से धीरे-धीरे मन स्थिर होता है और व्यक्ति अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता है। आधुनिक जीवन में जहां अनेक प्रलोभन और विकर्षण हैं, इंद्रिय नियंत्रण और मन के संयम की शिक्षा अत्यंत प्रासंगिक है।

बोध प्रश्न—: विषयों के चिंतन से पतन की प्रक्रिया को समझाइए। क्रोध से क्या उत्पन्न होता है? इंद्रियों को नियंत्रित करने का क्या लाभ है?

2.12 विषाद से ज्ञान की ओर : अर्जुन का रूपांतरण

गीता के पहले दो अध्यायों में हम देखते हैं कि किस प्रकार अर्जुन विषाद, संशय और मोह की स्थिति से धीरे-धीरे ज्ञान और विवेक की ओर बढ़ता है। यह रूपांतरण केवल अर्जुन की व्यक्तिगत यात्रा नहीं है बल्कि हर उस व्यक्ति की यात्रा का प्रतीक है जो जीवन में कठिनाइयों का सामना करता है और सत्य की खोज में निकलता है। अर्जुन का विषाद वास्तव में एक वरदान सिद्ध हुआ क्योंकि इसी विषाद ने उसे गीता के गहन उपदेश को सुनने और समझने के लिए तैयार किया। यदि अर्जुन को यह विषाद नहीं होता तो शायद वह केवल युद्ध कर देता और गीता के अमर उपदेश से वंचित रह जाता।

अर्जुन के रूपांतरण की यात्रा में हम कई चरण देखते हैं। प्रथम चरण था भावनात्मक विक्षोभ जब वह अपने प्रियजनों को देखकर शोकग्रस्त हो गया और युद्ध करने से इंकार कर दिया। यह चरण मोह और आसक्ति से भरा था। द्वितीय चरण था तर्कपूर्ण विश्लेषण जब उसने युद्ध के दुष्परिणामों के बारे में सोचा और नैतिक दुविधा में फंस गया। यह चरण बुद्धि का चरण था परंतु यह बुद्धि अज्ञान से आच्छादित थी। तृतीय चरण था शरणागति जब उसने भगवान श्रीकृष्ण से मार्गदर्शन मांगा और स्वयं को उनका शिष्य घोषित किया। यह चरण विनम्रता और ग्रहणशीलता का था। चतुर्थ चरण था ज्ञानप्राप्ति जब उसने आत्मा के स्वरूप, कर्म के महत्व और निष्काम कर्मयोग को समझा। यह चरण विवेक और समझ का था।

अर्जुन की यात्रा से हमें अनेक महत्वपूर्ण शिक्षाएं मिलती हैं। प्रथम, जीवन में आने वाले संकट और विषाद वास्तव में विकास के अवसर हो सकते हैं यदि हम उनसे सीखें। द्वितीय, संशय और प्रश्न—करना गलत नहीं है बल्कि यह ज्ञान प्राप्ति की दिशा में पहला कदम है। तृतीय, गुरु का मार्गदर्शन अत्यंत आवश्यक है जो हमें सही दिशा दिखाए। चतुर्थ, केवल सुनना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि समझना और अपनाना भी आवश्यक है। पंचम, जीवन में आने वाली कठिनाइयां हमें मजबूत बनाती हैं और नई दृष्टि प्रदान करती हैं।

आज के संदर्भ में अर्जुन की यात्रा अत्यंत प्रासंगिक है। आधुनिक व्यक्ति भी अनेक प्रकार के संशय, तनाव और नैतिक दुविधाओं से गुजरता है। करियर का चुनाव, रिश्तों में समस्याएं, जीवन के उद्देश्य की खोज, सफलता और असफलता का सामना ये सभी आधुनिक युग के विषाद हैं। गीता का संदेश यह है कि इन सभी परिस्थितियों में हमें विवेक से काम लेना चाहिए, कर्तव्य का पालन करना चाहिए और परिणाम को भगवान पर छोड़ देना चाहिए। जैसे अर्जुन ने अपने विषाद को ज्ञान में परिवर्तित किया वैसे ही हम भी अपनी समस्याओं को अवसरों में बदल सकते हैं।

बोध प्रश्न—: अर्जुन के रूपांतरण के मुख्य चरण कौन से थे? विषाद से क्या सीख मिलती है? आधुनिक जीवन में अर्जुन की यात्रा कैसे प्रासंगिक है?

2.13 निष्काम कर्मयोग का आधुनिक जीवन में अनुप्रयोग

निष्काम कर्मयोग केवल एक दार्शनिक सिद्धांत नहीं है बल्कि यह व्यावहारिक जीवन में अत्यंत उपयोगी और क्रांतिकारी अवधारणा है जिसे आज के युग में विभिन्न क्षेत्रों में सफलतापूर्वक लागू किया जा सकता है।

शिक्षा के क्षेत्र में निष्काम कर्मयोग का अनुप्रयोग छात्रों को परीक्षा के तनाव से मुक्त कर सकता है। जब छात्र केवल अंक प्राप्त करने के लिए नहीं बल्कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए पढ़ता है तो उसकी समझ गहरी होती है और वह बेहतर प्रदर्शन करता है। परिणाम की चिंता न करने से तनाव कम होता है और छात्र अधिक रचनात्मक तरीके से सीख सकता है। यह सिद्धांत शिक्षकों के लिए भी उपयोगी है जो बिना प्रशंसा या पुरस्कार की अपेक्षा के अपने छात्रों को शिक्षा दे सकते हैं।

कार्यक्षेत्र और व्यवसाय में निष्काम कर्मयोग का अनुप्रयोग अत्यंत प्रभावशाली सिद्ध हो सकता है। जब कर्मचारी या व्यवसायी केवल धन कमाने के लिए नहीं बल्कि अपने काम को पूर्णता से करने के लिए प्रेरित होता है तो उसका काम उत्कृष्ट होता है। प्रमोशन, बोनस या पुरस्कार की चिंता न करने से व्यक्ति अपनी पूरी क्षमता का उपयोग कर सकता है और नवीन विचारों को प्रस्तुत कर सकता है। आधुनिक प्रबंधन गुरुओं ने यह पाया है कि जो कर्मचारी अपने काम में आनंद लेते हैं और परिणाम की अत्यधिक चिंता नहीं करते वे अधिक उत्पादक और संतुष्ट होते हैं। अनेक सफल उद्यमी और नेता निष्काम कर्मयोग के सिद्धांत का अनुसरण करते हैं और इसीलिए वे दीर्घकालिक सफलता प्राप्त करते हैं।

खेल के क्षेत्र में निष्काम कर्मयोग का महत्व और भी स्पष्ट है। जो खिलाड़ी केवल जीतने की चिंता करते हैं वे दबाव में खराब प्रदर्शन करते हैं परंतु जो खिलाड़ी अपने खेल पर ध्यान देते हैं और परिणाम को भगवान पर छोड़ देते हैं वे बेहतर प्रदर्शन करते हैं। अनेक महान् खिलाड़ियों ने स्वीकार किया है कि उनकी सबसे अच्छी परफॉर्मेंस तब आई जब वे परिणाम के बारे में नहीं सोच रहे थे बल्कि केवल अपने खेल में तल्लीन थे। यह अवस्था जिसे मनोविज्ञान में “फ्लो स्टेट” कहते हैं वास्तव में निष्काम कर्मयोग की ही अवस्था है।

व्यक्तिगत जीवन में निष्काम कर्मयोग का अनुप्रयोग रिश्तों को बेहतर बना सकता है। जब हम अपने परिवार के सदस्यों या मित्रों के लिए कुछ करते हैं तो यदि हम प्रतिदान की अपेक्षा रखते हैं तो निराशा होती है। परंतु यदि हम निष्काम भाव से प्रेम और सेवा करते हैं तो रिश्ते अधिक गहरे और स्थायी होते हैं। पारिवारिक जीवन में माता-पिता जो निष्काम भाव से अपने बच्चों का पालन-पोषण करते हैं वे अधिक संतुष्ट और खुश रहते हैं। सामाजिक सेवा में निष्काम कर्मयोग का महत्व सर्वविदित है क्योंकि जो व्यक्ति प्रसिद्धि या पुरस्कार की अपेक्षा के बिना समाज की सेवा करता है वही सच्चा सेवक है।

बोध प्रश्न—: शिक्षा में निष्काम कर्मयोग कैसे लागू हो सकता है? खेल में फ्लो स्टेट क्या है? व्यक्तिगत रिश्तों में निष्काम भाव का क्या महत्व है?

2.14 उपसंहार और सार-संक्षेप

गीता के पहले दो अध्यायों में जो संवाद हुआ वह संपूर्ण गीता की नींव है और मानव जीवन के सबसे मूलभूत प्रश्नों का उत्तर देता है। विषाद योग और सांख्य योग मिलकर यह दिखाते हैं कि कैसे एक व्यक्ति जो संशय, भय और मोह से ग्रस्त है वह ज्ञान, विवेक और कर्तव्य की ओर बढ़ सकता है। अर्जुन का विषाद केवल एक व्यक्तिगत समस्या नहीं थी बल्कि यह मानव जीवन में आने वाले उन क्षणों का प्रतीक था जब व्यक्ति नैतिक द्वंद्व, भावनात्मक संकट और कर्तव्य-अकर्तव्य के प्रश्न-से जूझता है। भगवान श्रीकृष्ण का उपदेश इन सभी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है और जीवन जीने की एक नई दृष्टि देता है।

आत्मा के स्वरूप को समझना गीता की शिक्षा का पहला और सबसे महत्वपूर्ण पाठ है। जब व्यक्ति यह समझ लेता है कि वह शरीर नहीं बल्कि आत्मा है और आत्मा अमर, नित्य और अविनाशी है तो उसके जीवन में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आता है। मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है, शोक का कारण नहीं रहता और व्यक्ति शाश्वत सत्य से जुड़ जाता है। शरीर और आत्मा के भेद को समझना देहाध्यास के भ्रम से मुक्ति का मार्ग है। निष्काम कर्मयोग का सिद्धांत गीता का केंद्रीय संदेश है जो व्यक्ति को सिखाता है कि कर्म अवश्य करो परंतु

फल की इच्छा न करो। यह सिद्धांत न केवल आध्यात्मिक उन्नति का साधन है बल्कि व्यावहारिक जीवन में सफलता और संतुष्टि का भी मार्ग है।

समत्व योग की शिक्षा व्यक्ति को सिखाती है कि जीवन के सभी द्वंद्वों में संतुलित कैसे रहा जाए। सुख-दुःख, लाभ-हानि, सफलता-असफलता को समान भाव से देखने की कला ही योग है। स्थितप्रज्ञ के लक्षण एक आदर्श व्यक्तित्व का चित्रण करते हैं जो कामनाओं से मुक्त, इंद्रियों को वश में रखने वाला और आत्मा में स्थित होता है। इंद्रिय नियंत्रण और मन के संयम की शिक्षा दिखाती है कि कैसे विषयों के चिंतन से पतन होता है और कैसे संयम से उन्नति होती है। ये सभी शिक्षाएं मिलकर जीवन जीने की एक संपूर्ण कला प्रस्तुत करती हैं जो आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी हजारों वर्ष पहले थी।

आज के तनावपूर्ण, प्रतियोगी और भौतिकवादी युग में गीता के इन सिद्धांतों का महत्व और भी बढ़ जाता है। जब व्यक्ति निष्काम कर्म करता है तो वह तनावमुक्त होता है, जब वह समत्व को अपनाता है तो वह संतुलित रहता है और जब वह इंद्रियों को नियंत्रित करता है तो वह विषयों के जाल में नहीं फंस्ता। गीता का संदेश केवल धार्मिक या आध्यात्मिक नहीं है बल्कि यह मानव जीवन का विज्ञान है जो हर व्यक्ति के लिए उपयोगी है चाहे वह किसी भी धर्म, जाति या देश का हो।

बोध प्रश्न—: पहले दो अध्यायों का मुख्य संदेश क्या है? आत्मान से क्या लाभ होता है? आधुनिक युग में गीता के सिद्धांत क्यों महत्वपूर्ण हैं?

मुख्य शिक्षाएं :

इस इकाई से हमें निम्नलिखित महत्वपूर्ण शिक्षाएं मिलती हैं। प्रथम, जीवन में आने वाले विषाद और संकट वास्तव में हमारे विकास के अवसर हो सकते हैं यदि हम उनसे सही सबक सीखें। द्वितीय, आत्मा की अमरता और शरीर की नश्वरता को समझना मृत्यु के भय से मुक्ति का मार्ग है। तृतीय, निष्काम कर्मयोग केवल आध्यात्मिक सिद्धांत नहीं बल्कि व्यावहारिक जीवन में सफलता का मंत्र है। चतुर्थ, समत्व योग से भावनात्मक संतुलन और मानसिक शांति प्राप्त होती है। पंचम, इंद्रिय नियंत्रण और मन का संयम व्यक्तित्व विकास के लिए अत्यावश्यक है।

प्रासंगिकता :

यह अध्याय विद्यार्थियों, शिक्षकों, कर्मचारियों, व्यवसायियों, खिलाड़ियों और सभी वर्गों के लोगों के लिए समान रूप से उपयोगी है। इसमें दी गई शिक्षाएं केवल सैद्धांतिक नहीं हैं बल्कि दैनिक जीवन में लागू की जा सकने वाली व्यावहारिक मार्गदर्शिकाएं हैं। आधुनिक युग में जब तनाव, प्रतियोगिता और असफलता का भय व्याप्त है, गीता के ये सिद्धांत मानसिक शांति और सफलता का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

समापन टिप्पणी

यह विस्तृत अध्याय श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम दो अध्यायों — विषाद योग और सांख्य योग — पर आधारित है। इसमें संशय, विषाद, कर्म जिज्ञासा और निष्काम कर्मयोग का गहन और व्यावहारिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

2.15 बोध प्रश्न

प्रश्न-1 अर्जुन के विषाद के कारणों का विस्तृत विश्लेषण करते हुए बताइए कि यह विषाद मोह से उत्पन्न था या वास्तविक नैतिक दुविधा से। विषाद योग को योग क्यों कहा गया है?

प्रश्न-2 आत्मा के स्वरूप और अविनाशिता के सिद्धांत को विस्तार से समझाते हुए बताइए कि यह ज्ञान मनुष्य

के जीवन को किस प्रकार परिवर्तित कर सकता है। प्रमुख श्लोकों का उल्लेख करें।

- प्रश्न-3 निष्काम कर्मयोग के सिद्धांत की संपूर्ण व्याख्या करते हुए "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" श्लोक का विश्लेषण कीजिए। यह सिद्धांत आधुनिक जीवन में कैसे लागू किया जा सकता है?
- प्रश्न-4 समत्व योग और स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का विस्तृत वर्णन करते हुए बताइए कि आधुनिक मनोविज्ञान में इनकी क्या प्रासंगिकता है। स्थिरबुद्धि व्यक्ति का आदर्श जीवन कैसा होता है?
- प्रश्न-5 इंद्रिय नियंत्रण और मन के संयम के महत्व को समझाते हुए विषयों के चिंतन से पतन की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए। इस पतन से बचने के उपाय भी सुझाइए।
- प्रश्न-6 कर्म जिज्ञासा के संदर्भ में ज्ञान और कर्म के संबंध को स्पष्ट कीजिए। क्या संसार में रहकर आध्यात्मिक उन्नति संभव है? विस्तार से समझाइए।
- प्रश्न-7 अर्जुन के विषाद से ज्ञान की ओर की यात्रा का वर्णन करते हुए बताइए कि यह यात्रा आधुनिक व्यक्ति के लिए किस प्रकार प्रेरणादायक है। जीवन के संकटों को अवसरों में कैसे बदला जा सकता है?
- प्रश्न-8 निष्काम कर्मयोग के आधुनिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अनुप्रयोग को विस्तार से समझाइए। शिक्षा, कार्यक्षेत्र, खेल और व्यक्तिगत जीवन में इसके व्यावहारिक लाभ बताइए।

संरचना

- 3.0 प्रस्तावना
- 3.1 शत्रु विनाश प्रेरणा
- 3.2 लोकसंग्रह
- 3.3 अज्ञानी और ज्ञानवान के लक्षण
- 3.4 राग—द्वेष से रहित होकर कर्म करने की प्रेरणा
- 3.5 कर्मयोग के प्रमुख सिद्धांत और उनका व्यावहारिक प्रयोग
- 3.6 महत्वपूर्ण श्लोकों का भावार्थ और व्याख्या
- 3.7 यज्ञ का दर्शन और सृष्टि चक्र
- 3.8 प्रकृति, पुरुष और त्रिगुण सिद्धांत का गहन विवेचन
- 3.9 कर्मयोग की आधुनिक प्रासंगिकता और युवाओं के लिए संदेश
- 3.10 सारांश
- 3.11 बोध प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

श्रीमद्भगवद्गीता के तृतीय अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्मयोग का गहन उपदेश दिया है। यह अध्याय मानव जीवन में कर्म की महत्ता, निष्काम कर्म के सिद्धांत और व्यावहारिक जीवन में उसके प्रयोग को प्रतिपादित करता है। जब अर्जुन युद्ध भूमि में अपने स्वजनों, गुरुजनों और प्रियजनों को देखकर मोहित हो गया और युद्ध करने से विमुख हो गया, तब भगवान श्रीकृष्ण ने उसे समझाया कि कर्म से पलायन समाधान नहीं है। जीवन में कर्म का महत्व क्या है, कैसे कर्म करना चाहिए, किस भावना से कर्म करना चाहिए और किस प्रकार से कर्म करते हुए मनुष्य बंधनों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है, इन सभी गहन प्रश्नों का उत्तर इस अध्याय में अत्यंत सरल और व्यावहारिक ढंग से दिया गया है। कर्मयोग का शाब्दिक अर्थ है कर्मों में कुशलता प्राप्त करना। यह वह दिव्य मार्ग है जिसमें व्यक्ति अपने कर्तव्य कर्मों को फल की इच्छा के बिना, पूर्ण निष्ठा और समर्पण के साथ करता है। भगवान कृष्ण ने बड़ी स्पष्टता से समझाया है कि संसार में रहते हुए कर्म से बचा नहीं जा सकता, क्योंकि शरीर को धारण करने मात्र से ही मनुष्य को कर्म करना पड़ता है। परंतु यह अत्यंत महत्वपूर्ण है कि कर्म को किस प्रकार, किस भावना से और किस उद्देश्य से किया जाए। यही कर्मयोग की मूल शिक्षा है जो मनुष्य को सांसारिक जीवन जीते हुए भी आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाती है।

3.1 शत्रु विनाश प्रेरणा

कुरुक्षेत्र की रणभूमि में खड़े अर्जुन का हृदय अपने ही कुल के लोगों, आचार्यों और प्रियजनों को युद्ध के लिए तैयार देखकर करुणा और मोह से भर गया था। उसे लगा कि इन सब को मारकर राज्य प्राप्त करना भी व्यर्थ है और युद्ध करना महापाप है। वह युद्ध से विमुख होकर अपना गांडीव नीचे रख देना चाहता था। परंतु भगवान श्रीकृष्ण ने उसे समझाया कि यह मोह और भ्रम है, न कि सच्चा ज्ञान या वैराग्य। उन्होंने स्पष्ट किया कि युद्ध करना अर्जुन का धर्म है, उसका स्वाभाविक कर्तव्य है क्योंकि वह क्षत्रिय है। क्षत्रिय होने के नाते धर्म की रक्षा के लिए युद्ध करना उसका परम कर्तव्य है और इस कर्तव्य से विमुख होना कायरता और पाप है। भगवान ने कहा कि यदि तू इस धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करेगा तो अपने धर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा, और लोग तेरी सदा की कीर्ति को नष्ट हुई मानकर तेरी निंदा करेंगे। यहाँ शत्रु विनाश से तात्पर्य केवल बाह्य शत्रुओं के विनाश से नहीं है, बल्कि आंतरिक शत्रुओं के विनाश से भी है। भगवान ने इस अध्याय के अंत में स्पष्ट किया है कि काम ही मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है जो रजोगुण से उत्पन्न होता है और क्रोध का रूप धारण कर लेता है। यह महापापी है और कभी तृप्त नहीं होता। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये छः आंतरिक शत्रु हैं जो मनुष्य के विवेक को नष्ट कर देते हैं और उसे पाप के मार्ग पर ले जाते हैं। इसलिए मनुष्य को सबसे पहले इन आंतरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। भगवान ने अर्जुन को प्रेरित किया कि वह इंद्रियों को वश में करके इस महापापी काम को अवश्य ही नष्ट कर दे, क्योंकि यह ज्ञान और विज्ञान का नाशक है। आज के संदर्भ में यह उपदेश हमें सिखाता है कि जीवन की कठिनाइयों और चुनौतियों से भागना समाधान नहीं है, बल्कि साहस के साथ उनका सामना करना चाहिए। हमें अपनी जिम्मेदारियों और कर्तव्यों से विमुख नहीं होना चाहिए, चाहे परिस्थितियाँ कितनी भी कठिन क्यों न हों। सबसे महत्वपूर्ण है अपने आंतरिक दुर्गुणों पर विजय प्राप्त करना, क्योंकि बाह्य शत्रु तो अस्थायी हैं परंतु आंतरिक शत्रु सदैव हमारे साथ रहते हैं और हमें भीतर से कमजोर बनाते हैं।

बोध प्रश्न—(वस्तुनिष्ठ)

1. अर्जुन युद्ध से क्यों विमुख हुआ?
 - (क) भय से
 - (ख) मोह से
 - (ग) थकान से
 - (घ) अज्ञान से
2. भगवान ने किसे महापापी और वैरी बताया?
 - (क) लोभ को
 - (ख) काम को
 - (ग) मोह को
 - (घ) मद को
3. क्षत्रिय का प्रमुख धर्म क्या है?
 - (क) यज्ञ करना
 - (ख) दान देना

(ग) धर्मयुद्ध करना

(घ) तपस्या करना

बोध प्रश्न

1. शत्रु विनाश प्रेरणा से क्या तात्पर्य है?
2. काम को महापापी क्यों कहा गया है?

3.2 लोकसंग्रह

लोकसंग्रह भगवद्गीता के तृतीय अध्याय का एक अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्धांत है जो समाज के कल्याण और व्यक्ति के उत्तरदायित्व को स्पष्ट करता है। लोकसंग्रह का शाब्दिक अर्थ है लोक कल्याण, समाज का हित, या सभी लोगों का एकत्र करना अर्थात् समस्त समाज के कल्याण के लिए कार्य करना। भगवान श्रीकृष्ण ने इस सिद्धांत के माध्यम से बताया है कि ज्ञानी पुरुष या समाज में प्रतिष्ठित व्यक्तियों को अपने कर्मों द्वारा समाज का मार्गदर्शन करना चाहिए और अपने आचरण से दूसरों के लिए आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए। भगवान ने स्वयं उदाहरण देते हुए कहा कि हे पार्थ, मुझे तीनों लोकों में कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं है, न कोई अप्राप्त वस्तु है, फिर भी मैं कर्म में निरंतर लगा रहता हूँ। यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो सब मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करने लगेंगे और यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब लोक नष्ट हो जाएं और मैं संकरता का कर्ता बनूँ तथा इस समस्त प्रजा को नष्ट करने वाला होऊँ। इस उपदेश से यह स्पष्ट होता है कि समाज के महान व्यक्तियों, नेताओं, शिक्षकों और प्रभावशाली लोगों का आचरण सामान्य जनता के लिए आदर्श बन जाता है। जैसा वे आचरण करते हैं, वैसा ही अन्य लोग भी करने लगते हैं। इसलिए ऐसे लोगों की जिम्मेदारी और भी अधिक हो जाती है कि वे समाज के समक्ष सही आदर्श प्रस्तुत करें। भगवान ने आगे कहा कि ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि वह आसक्ति रहित होकर कर्म करे और अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न न करे। उसे अपने कर्मों द्वारा अज्ञानियों को कर्म करने के लिए प्रेरित करना चाहिए, न कि उनके मन में संशय उत्पन्न करना चाहिए। यह सिद्धांत आज के समय में और भी अधिक प्रासंगिक हो जाता है। आज के युग में जब समाज के नेता, राजनेता, शिक्षक और अन्य प्रभावशाली व्यक्ति अपने कर्तव्यों से विमुख होकर स्वार्थ में लीन हो जाते हैं, तो समाज में भ्रष्टाचार, अनाचार और अव्यवस्था फैलती है। परंतु यदि ये लोग लोकसंग्रह के सिद्धांत को अपना लें और निष्काम भाव से जनहित में कार्य करें, तो समाज में सकारात्मक परिवर्तन आ सकता है। राजा जनक का उदाहरण देते हुए भगवान ने कहा कि वे कर्म करते हुए ही सिद्धि को प्राप्त हुए। इसलिए श्रेष्ठ लोगों को अपने उत्तरदायित्व को समझते हुए समाज का मार्गदर्शन करना चाहिए और अपने आचरण से दूसरों के लिए प्रेरणा का स्रोत बनना चाहिए।

बोध प्रश्न—(वस्तुनिष्ठ)

1. लोकसंग्रह का अर्थ है :
 - (क) धन संग्रह
 - (ख) लोक कल्याण

- (ग) युद्ध विजय
- (घ) ज्ञान प्राप्ति
- 2. भगवान श्रीकृष्ण कर्म क्यों करते हैं?
 - (क) अपने लिए
 - (ख) लोकसंग्रह के लिए
 - (ग) धन के लिए
 - (घ) यश के लिए
- 3. किस राजा ने कर्म करते हुए सिद्धि प्राप्त की?
 - (क) दशरथ
 - (ख) जनक
 - (ग) युधिष्ठिर
 - (घ) भरत

बोध प्रश्न

1. लोकसंग्रह के सिद्धांत को समझाइए।
2. ज्ञानी व्यक्ति का समाज के प्रति क्या कर्तव्य है?

3.3 अज्ञानी और ज्ञानवान के लक्षण

भगवद्गीता के तृतीय अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने अज्ञानी और ज्ञानवान व्यक्तियों के लक्षणों का स्पष्ट वर्णन किया है, जो हमें यह समझने में सहायता करता है कि सच्चा ज्ञान क्या है और अज्ञान किस प्रकार मनुष्य को भटकाता है। अज्ञानी व्यक्ति वह है जो स्वयं को कर्ता मानता है और कर्म फल में आसक्त रहता है। वह अहंकार से युक्त होकर यह सोचता है कि मैं ही सब कुछ कर रहा हूँ और मैं ही सब कुछ करने वाला हूँ। भगवान ने कहा कि गुण ही गुणों में बरत रहे हैं, अर्थात् प्रकृति के तीन गुण सत्व, रज और तम ही समस्त कर्म कर रहे हैं, परंतु अहंकार से मोहित अज्ञानी पुरुष यह मानता है कि मैं कर्ता हूँ। अज्ञानी व्यक्ति इंद्रियों के वशीभूत होकर कर्म करता है और राग-द्वेष से प्रेरित होता है। जिन कर्मों और वस्तुओं में उसका राग होता है, उनकी ओर वह आकर्षित होता है और जिनसे द्वेष होता है, उनसे घृणा करता है। वह सुख में प्रसन्न और दुःख में दुःखी होता है, सफलता पर गर्व अनुभव करता है और असफलता पर निराश हो जाता है। उसका मन सदैव अस्थिर रहता है और परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। अज्ञानी व्यक्ति अपने कर्तव्य की सही समझ नहीं रखता और कर्म करते समय केवल फल की इच्छा करता है। वह यह नहीं समझता कि आत्मा तो केवल साक्षी है और कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा हो रहे हैं। इसके विपरीत ज्ञानवान व्यक्ति वह है जो प्रकृति और पुरुष के भेद को भलीभांति जानता है। वह यह समझता है कि गुण ही गुणों में बरत रहे हैं और आत्मा इन सबसे पृथक् है। ज्ञानी पुरुष निष्काम भाव से कर्म करता है, अर्थात् वह फल की इच्छा के बिना अपने कर्तव्यों का पालन करता है। वह अपने आप को कर्ता नहीं मानता बल्कि यह समझता है कि सभी कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा

हो रहे हैं और वह केवल निमित्त मात्र है। ज्ञानी व्यक्ति सम भाव में स्थित रहता है, अर्थात् सुख-दुःख, लाभ-हानि, सफलता-असफलता में समान रहता है। वह राग-द्वेष से मुक्त होकर कर्म करता है और इंद्रियों को वश में रखता है। उसका मन शांत और स्थिर रहता है क्योंकि वह जानता है कि परिणाम उसके हाथ में नहीं है। ज्ञानी व्यक्ति अपने कर्तव्य का सही ज्ञान रखता है और बिना किसी आसक्ति के अपने कर्तव्यों का पालन करता है। भगवान ने तीन गुणों का भी विस्तार से वर्णन किया है – सत्वगुण जो ज्ञान और प्रकाश देने वाला है, रजोगुण जो कर्म और आसक्ति उत्पन्न करने वाला है, और तमोगुण जो अज्ञान और आलस्य उत्पन्न करने वाला है। ज्ञानी व्यक्ति इन गुणों को समझता है और यह जानता है कि ये गुण ही समस्त कर्मों के कारण हैं, आत्मा नहीं। इस प्रकार अज्ञानी और ज्ञानी में मूलभूत अंतर यह है कि अज्ञानी अपने आप को कर्ता मानता है और फल में आसक्त रहता है, जबकि ज्ञानी यह समझता है कि वह कर्ता नहीं है और निष्काम भाव से अपने कर्तव्यों का पालन करता है।

बोध प्रश्न—(वस्तुनिष्ठ)

1. अज्ञानी व्यक्ति स्वयं को क्या मानता है?
 - (क) साक्षी
 - (ख) कर्ता
 - (ग) भोक्ता
 - (घ) द्रष्टा
2. प्रकृति में कितने गुण हैं?
 - (क) दो
 - (ख) तीन
 - (ग) चार
 - (घ) पाँच
3. ज्ञानी पुरुष किसे कर्ता मानता है?
 - (क) आत्मा को
 - (ख) शरीर को
 - (ग) गुणों को
 - (घ) इंद्रियों को
4. सत्वगुण का प्रभाव है :
 - (क) ज्ञान और प्रकाश
 - (ख) कर्म और आसक्ति
 - (ग) अज्ञान और आलस्य
 - (घ) क्रोध और लोभ

बोध प्रश्न

1. अज्ञानी और ज्ञानी में मुख्य अंतर क्या है?
2. “गुण गुणों में ही बरत रहे हैं” – इसका क्या अर्थ है?
3. तीन गुणों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

3.4 राग-द्वेष से रहित होकर कर्म करने की प्रेरणा

राग-द्वेष से रहित होकर कर्म करना कर्मयोग की एक महत्वपूर्ण शिक्षा है जो मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाती है। राग का अर्थ है किसी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के प्रति अत्यधिक आकर्षण या लगाव, जबकि द्वेष का अर्थ है घृणा या विरोध का भाव। ये दोनों ही मनुष्य के मन में रहने वाली ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो उसके विवेक को नष्ट कर देती हैं और उसे भटकाकर गलत मार्ग पर ले जाती हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि इंद्रियों के विषयों में राग और द्वेष छिपे हुए रहते हैं और मनुष्य को इनके वश में नहीं होना चाहिए, क्योंकि ये दोनों ही मनुष्य के कल्याण मार्ग में बहुत बड़ी बाधाएं हैं। जब कोई व्यक्ति राग के वश में होता है तो वह उस वस्तु या व्यक्ति के प्रति इतना आकर्षित हो जाता है कि उसका विवेक काम नहीं करता और वह सही-गलत का निर्णय नहीं ले पाता। इसी प्रकार जब द्वेष का भाव होता है तो मनुष्य किसी के प्रति इतनी घृणा से भर जाता है कि वह उस व्यक्ति या वस्तु के संबंध में निष्पक्ष रूप से विचार नहीं कर पाता। राग-द्वेष के कारण मन में अशांति रहती है, विवेक का नाश होता है, गलत निर्णय होते हैं और मनुष्य पाप कर्मों की ओर प्रवृत्त हो जाता है। भगवान ने राग-द्वेष से मुक्त होने के लिए कई उपाय बताए हैं। सबसे पहले स्वधर्म का पालन आवश्यक है, अर्थात् अपने कर्तव्य को पहचानना और उसका निष्ठापूर्वक पालन करना। भगवान ने कहा है कि गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है और दूसरे का धर्म भयावह है, अपने धर्म में मरना भी कल्याणकारक है परंतु दूसरे का धर्म भय उत्पन्न करने वाला है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमता, स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए, न कि दूसरों की नकल करनी चाहिए। जब मनुष्य अपने स्वधर्म का पालन करता है तो वह स्वाभाविक रूप से राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है। दूसरा महत्वपूर्ण उपाय है समत्व भाव को विकसित करना, अर्थात् सुख-दुःख, लाभ-हानि, सफलता-असफलता में समान रहना। जब मनुष्य यह समझ लेता है कि ये सब परिस्थितियाँ आती-जाती रहती हैं और इनमें कोई स्थायित्व नहीं है, तो वह राग-द्वेष से ऊपर उठ जाता है। तीसरा उपाय है विवेक का उपयोग करना। मनुष्य को बुद्धि से काम लेना चाहिए और इंद्रियों के वश में नहीं होना चाहिए। भगवान ने कहा है कि इंद्रियाँ प्रबल हैं, इंद्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से भी बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धि से भी जो परे है वह आत्मा है। इसलिए बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके और मन के द्वारा इंद्रियों को वश में करके काम रूपी शत्रु को मार डालना चाहिए। निष्काम कर्म का सिद्धांत भी राग-द्वेष से मुक्त होने का एक महत्वपूर्ण साधन है। जब मनुष्य फल की इच्छा के बिना कर्म करता है तो वह कर्म के प्रति राग नहीं रखता और न ही किसी के प्रति द्वेष रखता है। वह केवल अपना कर्तव्य समझकर कार्य करता है और परिणाम को ईश्वर पर छोड़ देता है। इस प्रकार का कर्म करने वाला व्यक्ति शांत, संतुलित और प्रसन्न रहता है। आधुनिक जीवन में राग-द्वेष से मुक्त होकर कर्म करने का अर्थ है कार्यस्थल पर पक्षपात रहित होकर काम करना, परिवार में सभी सदस्यों के साथ समान व्यवहार करना, समाज में भेदभाव रहित आचरण करना और व्यक्तिगत जीवन में संतुलित दृष्टिकोण रखना। जब मनुष्य राग-द्वेष से मुक्त होकर कर्म करता है तो उसका मन शांत रहता है, वह सही निर्णय ले पाता है और समाज में सद्भाव बना रहता है।

बोध प्रश्न—(वस्तुनिष्ठ)

1. राग का अर्थ है :
 (क) घृणा
 (ख) अत्यधिक आकर्षण
 (ग) समानता
 (घ) उदासीनता
2. स्वधर्म से क्या तात्पर्य है?
 (क) धार्मिक कर्म
 (ख) अपना कर्तव्य
 (ग) दान—पुण्य
 (घ) यज्ञ—हवन
3. सबसे बड़ा शत्रु किसे कहा गया है?
 (क) क्रोध को
 (ख) लोभ को
 (ग) काम को
 (घ) मोह को
4. निष्काम कर्म का अर्थ है :
 (क) बिना कर्म किए
 (ख) फल की इच्छा के बिना कर्म
 (ग) आलस्य
 (घ) संन्यास

बोध प्रश्न

1. राग—द्वेष मनुष्य के लिए हानिकारक क्यों हैं?
2. स्वधर्म परधर्म से श्रेष्ठ क्यों है?

3.5 कर्मयोग के प्रमुख सिद्धांत और उनका व्यावहारिक प्रयोग

भगवद्गीता के तृतीय अध्याय में वर्णित कर्मयोग के सिद्धांत केवल आध्यात्मिक विचार नहीं हैं बल्कि व्यावहारिक जीवन में लागू होने वाले जीवन दर्शन हैं। कर्मयोग का पहला और सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांत यह है कि कर्म अनिवार्य है और संसार में रहते हुए कर्म से बचा नहीं जा सकता। भगवान ने कहा है कि कोई भी मनुष्य क्षण भर के लिए भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता क्योंकि सभी प्रकृति के गुणों द्वारा विवश होकर कर्म

करते हैं। यहाँ तक कि शरीर को धारण करने मात्र से ही श्वास लेना, हृदय का धड़कना आदि कर्म स्वतः होते रहते हैं। इसलिए कर्म से भागना या कर्म को त्यागना संभव नहीं है। जो लोग बाहर से तो कर्म नहीं करते परंतु मन से इंद्रियों के विषयों का चिंतन करते रहते हैं, वे मिथ्याचारी हैं और स्वयं को धोखा देते हैं। दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धांत है निष्काम कर्म का, जिसमें व्यक्ति फल की इच्छा के बिना अपने कर्तव्यों का पालन करता है। यह गीता का सर्वाधिक प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण संदेश है जो कर्मण्येवाधिकारस्ते में व्यक्त हुआ है। इसका अर्थ है कि मनुष्य का अधिकार केवल कर्म करने में है, फल में कभी नहीं। जब मनुष्य फल की चिंता किए बिना कर्म करता है तो उसका मन शांत रहता है, तनाव नहीं होता और वह अपना सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन कर पाता है। तीसरा सिद्धांत है लोकसंग्रह का, जिसमें व्यक्ति को अपने कर्मों द्वारा समाज का कल्याण करना चाहिए। यह सिद्धांत व्यक्ति को स्वार्थ से ऊपर उठाकर समष्टि के हित में सोचने के लिए प्रेरित करता है। चौथा सिद्धांत है स्वधर्म का पालन, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमता और स्वभाव के अनुसार अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। पाँचवा सिद्धांत है समत्व भाव का, जिसमें मनुष्य को सुख-दुःख, लाभ-हानि और सफलता-असफलता में समान रहना चाहिए। छठा सिद्धांत है राग-द्वेष से मुक्ति का, जिसमें व्यक्ति को पक्षपात रहित होकर कर्म करना चाहिए। सातवाँ सिद्धांत है इंद्रिय नियंत्रण का, जिसमें काम, क्रोध आदि विकारों पर विजय पाना आवश्यक है। इन सभी सिद्धांतों का व्यावहारिक जीवन में अनेक प्रकार से प्रयोग किया जा सकता है। व्यावसायिक जीवन में निष्काम कर्म का सिद्धांत लागू करने से व्यक्ति तनाव मुक्त रहता है और बेहतर प्रदर्शन करता है। जब कर्मचारी या व्यवसायी केवल अपना कार्य ईमानदारी से करने पर ध्यान देता है और परिणाम की चिंता नहीं करता, तो वह अधिक उत्पादक और संतुष्ट रहता है। पारिवारिक जीवन में लोकसंग्रह और राग-द्वेष से मुक्ति के सिद्धांत अत्यंत उपयोगी हैं। जब परिवार के सदस्य स्वार्थ रहित होकर एक-दूसरे की भलाई के लिए कार्य करते हैं और किसी के प्रति पक्षपात नहीं रखते, तो परिवार में प्रेम और सद्भाव बना रहता है। शैक्षणिक जीवन में स्वधर्म के पालन का सिद्धांत महत्वपूर्ण है। छात्रों को अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार विषय का चयन करना चाहिए, न कि दूसरों की नकल करनी चाहिए। सामाजिक जीवन में समत्व भाव और इंद्रिय नियंत्रण के सिद्धांत सामाजिक सद्भाव बनाए रखने में सहायक होते हैं। आधुनिक युग में जब मनुष्य अत्यधिक तनाव, प्रतिस्पर्धा और भौतिकवाद से ग्रस्त है, तब कर्मयोग के ये सिद्धांत जीवन में शांति, संतुलन और सफलता लाने में अत्यंत सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

3.6 महत्वपूर्ण श्लोकों का भावार्थ और व्याख्या

भगवद्गीता के तृतीय अध्याय में अनेक महत्वपूर्ण श्लोक हैं जो कर्मयोग के सिद्धांतों को स्पष्ट करते हैं। सबसे पहला महत्वपूर्ण श्लोक है जिसमें भगवान कहते हैं कि कोई भी मनुष्य क्षण भर के लिए भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता क्योंकि सभी प्रकृति के गुणों द्वारा विवश होकर कर्म करते हैं। इस श्लोक का भावार्थ यह है कि कर्म जीवन का अनिवार्य अंग है और इससे बचने का कोई उपाय नहीं है। इसलिए कर्म से भागने के बजाय सही तरीके से कर्म करना सीखना चाहिए। दूसरा अत्यंत महत्वपूर्ण श्लोक है कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन, जिसका अर्थ है कि तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, फल में कभी नहीं। यह गीता का सबसे प्रसिद्ध संदेश है जो हमें सिखाता है कि हमें अपना कर्तव्य पूरी निष्ठा से करना चाहिए बिना फल की चिंता किए। यह श्लोक तनाव मुक्त जीवन जीने का मूल मंत्र है। तीसरा महत्वपूर्ण श्लोक लोकसंग्रह से संबंधित है जिसमें भगवान कहते हैं कि श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा ही करते हैं और वह जो प्रमाण बनाता है, संसार उसी का अनुसरण करता है। इस श्लोक से हमें नेतृत्व और जिम्मेदारी का पाठ मिलता है कि समाज के प्रभावशाली लोगों को अपने आचरण से आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए। चौथा महत्वपूर्ण श्लोक है जिसमें भगवान कहते हैं कि अच्छी तरह आचरण किए गए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, अपने धर्म

में मरना भी कल्याणकारक है परंतु दूसरे का धर्म भयावह है। यह श्लोक हमें सिखाता है कि अपने कर्तव्य का पालन सर्वोत्तम है चाहे वह कितना भी साधारण क्यों न हो। पाँचवा महत्वपूर्ण श्लोक काम के स्वरूप से संबंधित है जिसमें भगवान कहते हैं कि रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खाने वाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषय में वैरी जान। इस श्लोक से हमें शिक्षा मिलती है कि काम मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है जो उसे पाप की ओर ले जाता है और इस पर नियंत्रण आवश्यक है। छठा महत्वपूर्ण श्लोक इंद्रियों की शक्ति के बारे में है जिसमें कहा गया है कि इंद्रियाँ बलवान हैं, इंद्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धि से भी जो परे है वह आत्मा है। इस श्लोक से हमें यह ज्ञान मिलता है कि आत्म-नियंत्रण के लिए एक क्रमिक विधि है और बुद्धि का उपयोग करके इंद्रियों पर विजय पाई जा सकती है। ये सभी श्लोक केवल आध्यात्मिक ज्ञान नहीं हैं बल्कि व्यावहारिक जीवन में लागू होने वाले जीवन सूत्र हैं जो मनुष्य को सफल, शांत और संतुष्ट जीवन जीने में सहायता करते हैं।

बोध प्रश्न—(वस्तुनिष्ठ)

1. कर्मयोग का मूल सिद्धांत है :
 - (क) कर्म का त्याग
 - (ख) निष्काम कर्म
 - (ग) सकाम कर्म
 - (घ) अकर्म
2. यज्ञ का अर्थ है :
 - (क) हवन करना
 - (ख) त्याग और परोपकार
 - (ग) पूजा करना
 - (घ) दान देना
3. कर्म में कुशलता को क्या कहते हैं?
 - (क) भक्तियोग
 - (ख) ज्ञानयोग
 - (ग) कर्मयोग
 - (घ) राजयोग

3.7 यज्ञ का दर्शन और सृष्टि चक्र

भगवद्गीता के तृतीय अध्याय में यज्ञ के दार्शनिक और व्यावहारिक पहलू का विस्तृत वर्णन किया गया है जो कर्मयोग की गहन समझ प्रदान करता है। यज्ञ का शाब्दिक अर्थ केवल हवन या अग्नि में आहुति देना नहीं है, बल्कि यह एक व्यापक अवधारणा है जिसका अर्थ है त्याग, परोपकार और समर्पण। भगवान श्रीकृष्ण ने समझाया है कि प्रजापति ब्रह्मा ने सृष्टि के आरंभ में प्रजा को यज्ञ सहित उत्पन्न करके कहा था कि इस यज्ञ

के द्वारा तुम वृद्धि को प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुम्हारे लिए इच्छित भोगों को देने वाला हो। भगवान ने एक सुंदर सृष्टि चक्र का वर्णन किया है जो बताता है कि कैसे समस्त सृष्टि एक-दूसरे पर निर्भर है और परस्पर सहयोग से ही चलती है। इस चक्र के अनुसार यज्ञ से देवता प्रसन्न होते हैं, देवता वर्षा देते हैं, वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से प्राणी जीवित रहते हैं और प्राणी फिर यज्ञ करते हैं। इस प्रकार यह चक्र निरंतर चलता रहता है। भगवान ने स्पष्ट किया है कि जो मनुष्य इस प्रकार परंपरा से चले आ रहे यज्ञ चक्र को नहीं चलाता और केवल अपने लिए जीता है, वह पापी है और उसका जीवन व्यर्थ है। यहाँ यज्ञ का व्यापक अर्थ है समाज के प्रति, प्रकृति के प्रति और सृष्टि के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना। जब कोई व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ के लिए जीता है और समाज को कुछ नहीं देता, तो वह इस सृष्टि चक्र को तोड़ता है और पाप का भागी होता है। यज्ञ का अर्थ है देना, त्यागना और दूसरों के कल्याण के लिए कार्य करना। आधुनिक संदर्भ में यज्ञ का अर्थ है हर वह कार्य जो समाज के हित में किया जाए। माता-पिता की सेवा यज्ञ है क्योंकि हम उनके ऋणी हैं। समाज सेवा यज्ञ है क्योंकि समाज ने हमें बहुत कुछ दिया है। ईमानदारी से अपना कार्य करना यज्ञ है क्योंकि इससे समाज को लाभ होता है। शिक्षक का पढ़ाना यज्ञ है, डॉक्टर का इलाज करना यज्ञ है, किसान का अन्न उत्पन्न करना यज्ञ है और सैनिक का देश की रक्षा करना यज्ञ है। जब प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्यों को यज्ञ भाव से करता है तो समाज में सुव्यवस्था बनी रहती है और सभी का कल्याण होता है। भगवान ने यह भी स्पष्ट किया है कि जो आत्मानि हैं और आत्मा में ही संतुष्ट हैं, उनके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता क्योंकि उन्होंने अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया है। परंतु ऐसे महापुरुषों को भी लोकसंग्रह के लिए कर्म करना चाहिए ताकि सामान्य जन उनका अनुसरण करें। यज्ञ का सिद्धांत हमें सिखाता है कि जीवन केवल लेने का नाम नहीं है बल्कि देने का भी नाम है। जो व्यक्ति समाज से लेता तो है परंतु समाज को देता नहीं है, वह परजीवी के समान है। सच्चा जीवन वह है जिसमें व्यक्ति अपने से अधिक समाज को देता है और इसी में उसकी सार्थकता है।

3.8 प्रकृति, पुरुष और त्रिगुण सिद्धांत का गहन विवेचन

भगवद्गीता का दार्शनिक आधार प्रकृति और पुरुष के भेद तथा त्रिगुण सिद्धांत पर टिका है जो कर्मयोग को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है। प्रकृति वह जड़ तत्व है जो सभी भौतिक कर्मों का आधार है। यह आठ प्रकार की है – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। प्रकृति ही सभी कर्म करती है और इसका स्वभाव है कर्म करना। पुरुष अर्थात् आत्मा वह चेतन तत्व है जो केवल साक्षी है, कर्ता नहीं। आत्मा शुद्ध, निर्विकार, नित्य और अनंत है। वह न जन्मती है न मरती है, न बढ़ती है न घटती है। आत्मा तो केवल देखने वाली है, अनुभव करने वाली है परंतु कर्म करने वाली नहीं है। मनुष्य का शरीर प्रकृति का अंश है और इसलिए जब तक शरीर है, कर्म होते रहेंगे। परंतु आत्मा कर्मों से अछूती रहती है। यह समझना महत्वपूर्ण है कि हम शरीर नहीं हैं बल्कि आत्मा हैं। शरीर तो एक उपकरण मात्र है जिसके माध्यम से आत्मा इस संसार में कार्य करती है। जब मनुष्य यह भूल जाता है और अपने को शरीर मान लेता है तो वह स्वयं को कर्ता मानने लगता है और कर्मों के बंधन में फंस जाता है। प्रकृति तीन गुणों से बनी है जो सभी प्राणियों और पदार्थों में विभिन्न अनुपात में विद्यमान रहते हैं। पहला गुण है सत्वगुण जो शुद्धता, ज्ञान, प्रकाश और आनंद का प्रतीक है। यह गुण मनुष्य को पवित्रता, शांति, संतोष और आध्यात्मिकता की ओर ले जाता है। सत्वगुणी व्यक्ति ज्ञान में रुचि रखता है, सात्विक आहार लेता है, सात्विक विचार करता है और सात्विक कर्म करता है। दूसरा गुण है रजोगुण जो क्रिया, आसक्ति और तृष्णा का प्रतीक है। यह गुण मनुष्य को सांसारिक कर्मों में लगाता है, धन-संपत्ति की इच्छा जगाता है और उसे भोगों की ओर प्रवृत्त करता है। रजोगुणी व्यक्ति सदैव सक्रिय रहता है, महत्वाकांक्षी होता है और फल की इच्छा से कर्म करता है। तीसरा गुण है तमोगुण जो अज्ञान, आलस्य, प्रमाद और अंधकार

का प्रतीक है। यह गुण मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है, उसे निद्रालु, आलसी और प्रमादी बना देता है। तमोगुणी व्यक्ति अज्ञान में रहता है, गलत कार्य करता है और अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करता है। ये तीनों गुण मनुष्य को बांधते हैं। सत्वगुण सुख में बांधता है, रजोगुण कर्म में बांधता है और तमोगुण प्रमाद में बांधता है। मुक्ति तब मिलती है जब मनुष्य इन तीनों गुणों से ऊपर उठ जाता है और गुणातीत हो जाता है। भगवान ने स्पष्ट किया है कि ज्ञानी व्यक्ति यह समझता है कि गुण ही गुणों में बरत रहे हैं और आत्मा इन सबसे पृथक् है। जब कोई कर्म होता है तो वास्तव में प्रकृति के गुण ही इंद्रियों के माध्यम से इंद्रिय विषयों में कर्म कर रहे हैं। आत्मा तो केवल साक्षी मात्र है। यह ज्ञान प्राप्त हो जाने पर मनुष्य कर्म करते हुए भी कर्मों के बंधन से मुक्त हो जाता है। इस सिद्धांत का व्यावहारिक महत्व यह है कि जब हम समझ जाते हैं कि हम कर्ता नहीं हैं बल्कि प्रकृति के गुण ही कर्म कर रहे हैं, तो हम अहंकार से मुक्त हो जाते हैं और निष्काम भाव से कर्म कर पाते हैं।

3.9 कर्मयोग की आधुनिक प्रासंगिकता और युवाओं के लिए संदेश

आज के आधुनिक युग में जब मनुष्य अत्यधिक तनाव, प्रतिस्पर्धा, भौतिकवाद और नैतिक मूल्यों के ह्रास से जूझ रहा है, तब कर्मयोग के सिद्धांत पहले से भी अधिक प्रासंगिक हो गए हैं। आज का मनुष्य सफलता की अंधी दौड़ में इतना व्यस्त हो गया है कि वह अपनी शांति खो बैठा है। परिणाम की अत्यधिक चिंता उसे अंदर से खोखला बना रही है और वह तनाव, अवसाद और चिंता का शिकार हो रहा है। कर्मयोग का निष्काम कर्म का सिद्धांत इस समस्या का सबसे बड़ा समाधान है। जब व्यक्ति यह समझ लेता है कि उसका अधिकार केवल कर्म करने में है, फल में नहीं, तो वह तनाव मुक्त हो जाता है। वह अपना सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन करता है परंतु परिणाम की चिंता उसे नहीं सताती। यह दृष्टिकोण न केवल मानसिक शांति देता है बल्कि वास्तव में बेहतर परिणाम भी देता है क्योंकि जब मन शांत होता है तो व्यक्ति अधिक कुशलता से कार्य कर पाता है। आज की कठोर प्रतिस्पर्धा में युवा यह भूल गए हैं कि सच्ची प्रतिस्पर्धा दूसरों से नहीं बल्कि स्वयं से होनी चाहिए। कर्मयोग सिखाता है कि हमें दूसरों को हराने पर ध्यान नहीं देना चाहिए बल्कि अपना सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन करने पर ध्यान देना चाहिए। जब हम अपने कल के स्वयं से बेहतर बनने का प्रयास करते हैं तो यह स्वस्थ प्रतिस्पर्धा है। भौतिकवाद ने आज के मनुष्य को यंत्र बना दिया है। वह धन, पद और प्रतिष्ठा की अंधी दौड़ में अपने मानवीय मूल्यों को खो रहा है। कर्मयोग का लोकसंग्रह का सिद्धांत हमें याद दिलाता है कि जीवन का उद्देश्य केवल स्वयं के लिए जीना नहीं है बल्कि समाज के कल्याण के लिए कार्य करना भी है। जब युवा यह समझ लेते हैं कि सच्ची सफलता वह है जो समाज को भी कुछ दे, तो उनका जीवन सार्थक हो जाता है। नैतिक मूल्यों का ह्रास आज की सबसे बड़ी समस्या है। लोग सफलता के लिए किसी भी मार्ग को अपनाने को तैयार हैं। कर्मयोग सिखाता है कि स्वधर्म का पालन सर्वोच्च है। अर्थात् अपने कर्तव्यों का ईमानदारी और नैतिकता से पालन करना चाहिए। जब व्यक्ति निष्काम भाव से कर्म करता है तो वह स्वतः नैतिक हो जाता है क्योंकि अनैतिकता का कारण ही है फल की अत्यधिक इच्छा। युवाओं के लिए कर्मयोग का विशेष संदेश है कि वे अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार अपना कैरियर चुनें, न कि केवल धन या प्रतिष्ठा देखकर। स्वधर्म का पालन करने से जीवन में संतुष्टि मिलती है। उन्हें अपना सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन करना चाहिए परंतु परिणाम की चिंता नहीं करनी चाहिए। उन्हें समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझना चाहिए और लोकहित में कार्य करना चाहिए। उन्हें राग-द्वेष से मुक्त होकर निष्पक्ष रूप से कार्य करना चाहिए। उन्हें अपनी इंद्रियों और मन को नियंत्रित करना सीखना चाहिए। व्यावसायिक जगत में भी कर्मयोग के सिद्धांत अत्यंत उपयोगी हैं। नेतृत्व में लोकसंग्रह का सिद्धांत, टीम वर्क में निष्काम भाव, उत्पादकता में समत्व भाव और नैतिक व्यापार में स्वधर्म का पालन – ये सभी कर्मयोग के व्यावहारिक प्रयोग हैं। इस प्रकार कर्मयोग केवल एक प्राचीन धार्मिक सिद्धांत नहीं है बल्कि आधुनिक जीवन की समस्याओं का व्यावहारिक समाधान है जो मनुष्य को शांति, सफलता और संतुष्टि प्रदान

कर सकता है।

3.10 सारांश

भगवद्गीता का तृतीय अध्याय कर्मयोग का व्यापक और गहन विवेचन प्रस्तुत करता है जो मानव जीवन के लिए एक संपूर्ण मार्गदर्शक है। इस अध्याय की मुख्य शिक्षाएं जीवन के हर क्षेत्र में लागू होती हैं और मनुष्य को सांसारिक जीवन जीते हुए भी आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाती हैं। पहली महत्वपूर्ण शिक्षा यह है कि कर्म जीवन का अनिवार्य अंग है और इससे बचना न तो संभव है न ही उचित। जब तक शरीर है, कर्म होते रहेंगे। इसलिए कर्म से भागने के बजाय सही तरीके से कर्म करना सीखना चाहिए। दूसरी महत्वपूर्ण शिक्षा है निष्काम कर्म की, जिसमें व्यक्ति फल की इच्छा के बिना अपने कर्तव्यों का पालन करता है। यह गीता का सबसे महत्वपूर्ण संदेश है जो तनाव मुक्त और सफल जीवन का आधार है। तीसरी शिक्षा है लोकसंग्रह की, जो हमें सिखाती है कि जीवन केवल अपने लिए नहीं बल्कि समाज के कल्याण के लिए भी है। चौथी शिक्षा है स्वधर्म के पालन की, जो बताती है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमता और स्वभाव के अनुसार अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। पाँचवी शिक्षा है राग-द्वेष से मुक्त होकर कर्म करने की, जो मनुष्य को निष्पक्ष और संतुलित बनाती है। छठी शिक्षा है इंद्रिय नियंत्रण की, जो काम, क्रोध आदि विकारों पर विजय पाने का मार्ग बताती है। सातवी शिक्षा है यज्ञ भावना की, जो हमें सिखाती है कि सभी कर्म त्याग और परोपकार की भावना से करने चाहिए। आठवी शिक्षा है प्रकृति और पुरुष के भेद को समझने की, जो हमें बताती है कि आत्मा कर्ता नहीं बल्कि साक्षी है। नवी शिक्षा है त्रिगुण सिद्धांत की, जो हमें प्रकृति के कार्य करने के तरीके को समझाती है। दसवी शिक्षा है ज्ञानी और अज्ञानी के लक्षणों की, जो हमें सच्चे ज्ञान का मार्ग दिखाती है। ये सभी शिक्षाएं केवल सैद्धांतिक नहीं हैं बल्कि अत्यंत व्यावहारिक हैं और आधुनिक जीवन की समस्याओं का समाधान प्रदान करती हैं। कर्मयोग हमें सिखाता है कि कैसे कर्म करते हुए भी कर्म के बंधन से मुक्त रहा जा सकता है, कैसे सांसारिक जीवन जीते हुए भी आध्यात्मिक उन्नति की जा सकती है और कैसे सफलता और शांति दोनों को एक साथ प्राप्त किया जा सकता है। यह अध्याय विशेष रूप से आज के युग में प्रासंगिक है जब मनुष्य तनाव, प्रतिस्पर्धा और भौतिकवाद से ग्रस्त है। कर्मयोग के सिद्धांत इन सभी समस्याओं का समाधान प्रदान करते हैं और मनुष्य को एक संतुलित, सफल और संतुष्ट जीवन जीने में सहायता करते हैं।

3.11 बोध प्रश्न

1. कर्मयोग क्या है?
2. भगवद्गीता के तृतीय अध्याय के आधार पर कर्म के प्रमुख सिद्धांतों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
3. निष्काम कर्मयोग का क्या अर्थ है?
4. काम को कैसे नियंत्रित किया जा सकता है?

खण्ड-2 ज्ञान कर्म एवं अध्ययन की प्रगति

खण्ड परिचय

श्रीमद्भगवद्गीता के उस गूढ़ दर्शन को सरल रूप में प्रस्तुत करता है जिसमें मनुष्य के जीवन में ज्ञान कर्म और योग की वास्तविक भूमिका स्पष्ट होती है। यह खंड बताता है कि मानव जीवन केवल कर्म करने तक सीमित नहीं है बल्कि कर्म के साथ सही ज्ञान, विवेक और निरंतर अभ्यास आवश्यक है। इस खंड का मुख्य उद्देश्य साधक को यह समझाना है कि कर्म करते हुए भी आत्मिक उन्नति कैसे संभव है और संन्यास का सही अर्थ क्या है। यहाँ कर्म को बंधन का कारण नहीं बल्कि मुक्ति का साधन बताया गया है यदि वह ज्ञान और निष्काम भावना से किया जाए। इस खंड की इकाई-4 ज्ञान कर्म संन्यास योग में यह स्पष्ट किया गया है कि सच्चा संन्यास बाहरी त्याग नहीं बल्कि आंतरिक शुद्धि और अज्ञान का नाश है। इसमें बताया गया है कि ज्ञान से युक्त कर्म व्यक्ति को संसार में रहते हुए भी मुक्त बना सकता है। इकाई-5 कर्म संन्यास योग में कर्म और संन्यास के बीच के भ्रम को दूर करते हुए निष्काम कर्म आत्मसंयम और सेवा भाव पर बल दिया गया है जिससे मनुष्य मानसिक शांति और संतुलन प्राप्त करता है। वहीं इकाई-6 अभ्यास योग की भूमिका साधक को निरंतर अभ्यास धैर्य और वैराग्य का महत्व समझाती है तथा यह बताती है कि नियमित साधना द्वारा चित्त को नियंत्रित कर आत्मबोध और स्थिरता प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार यह पूरा खंड जीवन को कर्ममय, ज्ञानमय और योगमय बनाकर व्यक्ति को नैतिक मानसिक और आध्यात्मिक रूप से विकसित करने की दिशा में मार्गदर्शन करता है।

संरचना

- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 यज्ञ कर्म का स्पष्टीकरण
- 4.3 कर्म के प्रकार
- 4.4 वास्तविक कर्म का स्वरूप
- 4.5 योगियों का आचरण
- 4.6 यज्ञ का स्वरूप और विभिन्न प्रकार
- 4.7 साधना की विधि और गुरु का महत्व
- 4.8 ज्ञान की महिमा और उसका प्रभाव
- 4.9 भगवान का अवतार और उसका रहस्य
- 4.10 कर्म का रहस्य और कर्म—अकर्म विवेक
- 4.11 ज्ञानी पुरुष की विशेषताएं
- 4.12 आसक्ति और कामना से मुक्ति
- 4.13 कर्मयोग का सार और व्यावहारिक जीवन में प्रयोग
- 4.14 इंद्रिय संयम और मन का नियंत्रण
- 4.15 अध्याय का उपसंहार और संदेश
- 4.16 इकाई के अंत में दीर्घ उत्तरीय बोध प्रश्न
- 4.17 बोध प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

भगवद्गीता का चौथा अध्याय ज्ञान, कर्म और संन्यास के गहन रहस्यों को उजागर करता है। इस अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन को यह समझाते हैं कि कर्म करते हुए भी मनुष्य कैसे मुक्ति प्राप्त कर सकता है। यह अध्याय विशेष रूप से यज्ञ की महत्ता, कर्म के विभिन्न स्वरूपों और साधना की सही विधि को स्पष्ट करता है। श्रीकृष्ण इस अध्याय में सबसे पहले गीता ज्ञान की परंपरा का वर्णन करते हैं और बताते हैं कि यह ज्ञान सूर्य से मनु को, मनु से इक्ष्वाकु को और इस प्रकार राजर्षियों की परंपरा में आगे बढ़ता रहा। किंतु कालांतर में यह परम गुह्य ज्ञान लुप्त हो गया, जिसे अब श्रीकृष्ण अर्जुन को पुनः प्रदान कर रहे हैं।

इस अध्याय का मूल संदेश यह है कि मनुष्य को कर्म करना अनिवार्य है, किंतु कर्म करने की पद्धति ही महत्वपूर्ण है। जब कर्म यज्ञ भावना से, निष्काम भाव से और ज्ञान के प्रकाश में किया जाता है, तो वह बंधन का कारण नहीं बनता, बल्कि मुक्ति का साधन बन जाता है। श्रीकृष्ण यह भी स्पष्ट करते हैं कि वे स्वयं अजन्मा और अव्यय होते हुए भी युग—युग में धर्म की स्थापना के लिए अवतार लेते हैं। यह ज्ञान साधक को यह समझने

में सहायता करता है कि ईश्वर की लीला और मनुष्य के कर्म में क्या अंतर है।

4.2 यज्ञ कर्म का स्पष्टीकरण

यज्ञ शब्द का अर्थ केवल अग्नि में आहुति देना नहीं है, बल्कि यह एक व्यापक दार्शनिक अवधारणा है। यज्ञ का वास्तविक अर्थ है त्याग, समर्पण और परोपकार की भावना से किया गया कोई भी कर्म। जब मनुष्य अपने स्वार्थ को त्यागकर, समष्टि के हित में कार्य करता है, तो वह कर्म यज्ञ बन जाता है। श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि सृष्टि के आरंभ में ब्रह्मा ने प्रजा और यज्ञ को एक साथ उत्पन्न किया और कहा कि इस यज्ञ के द्वारा तुम वृद्धि को प्राप्त करो और यह यज्ञ तुम्हारे लिए इच्छित भोगों को देने वाला हो।

यज्ञ कर्म का मूल सिद्धांत यह है कि मनुष्य को प्राकृतिक और सामाजिक व्यवस्था के साथ सामंजस्य बनाकर रहना चाहिए। जब हम यज्ञ करते हैं, तो देवता प्रसन्न होते हैं और वे हमें वर्षा, अन्न और समृद्धि प्रदान करते हैं। यहां देवताओं का अर्थ प्रकृति की विभिन्न शक्तियों और सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न अंगों से है। यज्ञ के माध्यम से एक चक्र स्थापित होता है – अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षा से होता है, वर्षा यज्ञ से होती है, और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। यह एक सतत प्रवाह है जो सृष्टि को गतिमान रखता है।

जो मनुष्य इस यज्ञ चक्र को आगे नहीं बढ़ाता, वह केवल अपने लिए जीता है और पाप का भागी बनता है। ऐसा व्यक्ति व्यर्थ ही जीवन व्यतीत करता है क्योंकि वह समाज से लेता तो है किंतु समाज को कुछ देता नहीं। यज्ञ कर्म का सिद्धांत हमें सिखाता है कि हम सब एक-दूसरे पर निर्भर हैं और हमारा कर्तव्य है कि हम अपने योगदान से इस विश्व को बेहतर बनाएं। यह केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं है, बल्कि एक जीवन दर्शन है जो हमें स्वार्थ से परमार्थ की ओर ले जाता है। यज्ञ कर्म में फल की कामना नहीं होती, बल्कि कर्तव्य की भावना होती है।

4.3 कर्म के प्रकार

श्रीकृष्ण गीता के चौथे अध्याय में कर्म के विभिन्न प्रकारों का विस्तृत वर्णन करते हैं। कर्म को समझना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि हमारा संपूर्ण जीवन कर्म पर ही आधारित है। कर्म के मुख्य रूप से पांच प्रकार होते हैं जिन्हें समझना प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक है।

4.3.1 सकाम कर्म : यह फल की इच्छा से किया जाता है। यह साधारण मनुष्यों का कर्म है जो धन, यश, स्वर्ग या अन्य भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए कार्य करते हैं। यह कर्म बंधन का कारण बनता है क्योंकि फल की आसक्ति मनुष्य को जन्म-मरण के चक्र में बांधे रखती है।

4.3.2 निष्काम कर्म : यह बिना फल की इच्छा के केवल कर्तव्य भावना से किया जाता है। यह योगियों और ज्ञानियों का मार्ग है। निष्काम कर्म में व्यक्ति कर्म करता है किंतु कर्म के फल में आसक्त नहीं होता। यह कर्म मुक्ति का साधन बनता है।

4.3.3 विहित कर्म : यह शास्त्र और धर्म द्वारा निर्धारित कर्तव्य कर्म है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसकी स्थिति, आश्रम और वर्ण के अनुसार कुछ कर्तव्य निर्धारित हैं जिन्हें विहित कर्म कहते हैं।

4.3.4 निषिद्ध कर्म : यह शास्त्रों और नैतिकता के विरुद्ध है। ऐसे कर्म पाप के कारण बनते हैं और दुख की ओर ले जाते हैं।

4.3.5 अकर्म की स्थिति : यह परम ज्ञानियों की स्थिति है जहां व्यक्ति कर्म करते हुए भी कर्ता भाव से मुक्त रहता है। इसके अतिरिक्त यज्ञ कर्म भी एक विशेष प्रकार का कर्म है जो त्याग और समर्पण की भावना से किया जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म, अकर्म और विकर्म को समझना बहुत गहन विषय है। बुद्धिमान लोग भी इसमें

मोहित हो जाते हैं। कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखना ही वास्तविक ज्ञान है। जो व्यक्ति इस रहस्य को समझ लेता है, वही सच्चा ज्ञानी और योगी है।

4.4 वास्तविक कर्म का स्वरूप

वास्तविक कर्म वह है जो आत्मा के स्वरूप के अनुकूल हो और जो मनुष्य को परमात्मा की ओर ले जाए। श्रीकृष्ण गीता में स्पष्ट करते हैं कि वास्तविक कर्म का अर्थ केवल शारीरिक क्रियाशीलता नहीं है, बल्कि यह एक आंतरिक भाव है जो कर्म को पवित्र और मुक्तिदायक बनाता है। वास्तविक कर्म में तीन तत्व अनिवार्य हैं – निष्काम भाव, यज्ञ भावना और ज्ञान का प्रकाश। निष्काम भाव का अर्थ है कि कर्म फल की आसक्ति रहित हो। जब हम कर्म करते हैं किंतु उसके परिणाम के प्रति उदासीन रहते हैं, तो वह कर्म बंधन का कारण नहीं बनता।

यज्ञ भावना का तात्पर्य है कि हमारा कर्म केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए न हो, बल्कि समष्टि कल्याण के लिए हो। जब हम अपने कर्म को समाज, राष्ट्र या मानवता की सेवा के रूप में देखते हैं, तो वह यज्ञ बन जाता है। ज्ञान का प्रकाश यह है कि हम समझें कि हम केवल निमित्त मात्र हैं, वास्तविक कर्ता परमात्मा है। यह ज्ञान हमें अहंकार से मुक्त करता है। वास्तविक कर्म में कर्ता, कर्म और फल तीनों का समर्पण परमात्मा को हो जाता है। ऐसे कर्म को करने वाला व्यक्ति कर्म करते हुए भी अकर्ता रहता है, ठीक वैसे ही जैसे कमल का पत्ता जल में रहकर भी जल से अलिप्त रहता है।

वास्तविक कर्म का एक और महत्वपूर्ण पहलू है स्वधर्म का पालन। श्रीकृष्ण कहते हैं कि अपने धर्म में मरना भी श्रेयस्कर है, परधर्म भयावह है। इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रकृति, क्षमता और परिस्थिति के अनुसार कर्म करना चाहिए। दूसरों की नकल करना या अपनी प्रकृति के विरुद्ध जाना हानिकारक है। वास्तविक कर्म वह है जो हमारे स्वभाव के अनुकूल हो, समाज के लिए उपयोगी हो और जो हमें आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाए। ऐसे कर्म में पूर्णता और आनंद की अनुभूति होती है।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: यज्ञ का वास्तविक अर्थ क्या है? केवल अग्नि में आहुति देना ही यज्ञ क्यों नहीं है?

4.5 योगियों का आचरण

योगी वह व्यक्ति है जो योग में स्थित है, अर्थात् जो समत्व में स्थित है और जिसका मन सदैव परमात्मा में लगा रहता है। योगियों का आचरण साधारण मनुष्यों से भिन्न होता है क्योंकि उनका दृष्टिकोण और जीवन का उद्देश्य ही अलग है। योगी संसार में रहते हुए भी संसार से अलिप्त रहता है। वह कर्म करता है किंतु कर्म में आसक्त नहीं होता। उसके लिए सुख-दुख, लाभ-हानि, जय-पराजय सब समान हैं। यह समत्व भाव ही योगी की पहचान है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिसकी सभी कामनाएं नष्ट हो गई हैं, जो कर्म फल की आसक्ति से रहित है और जिसका मन संयमित है, वही वास्तविक योगी है।

योगी का आचरण सात्विक होता है। वह मन, वचन और कर्म से पवित्र रहता है। उसका भोजन, विहार और व्यवहार सभी संयमित और नियमित होते हैं। योगी के लिए इंद्रियां साधन हैं, स्वामी नहीं। वह इंद्रियों को अपने नियंत्रण में रखता है, न कि इंद्रियां उसे नियंत्रित करती हैं। योगी की वाणी मधुर, सत्य और हितकारी होती है। वह कभी किसी को कटु वचन नहीं कहता। उसके मन में किसी के प्रति द्वेष नहीं होता, वह सबके प्रति समान भाव रखता है। योगी दूसरों के दोष नहीं देखता, वह सदैव अपनी कमियों को दूर करने का प्रयास

करता है।

योगी का आचरण निष्कपट और निर्मल होता है। उसमें दिखावा नहीं होता, वह जैसा होता है वैसा ही दिखता है। योगी सदैव वर्तमान में जीता है, न तो अतीत का शोक करता है और न भविष्य की चिंता। वह जो कुछ भी मिलता है उसमें संतुष्ट रहता है। योगी के लिए सोना और मिट्टी का ढेला समान हैं। वह न तो प्रशंसा से प्रसन्न होता है और न निंदा से दुखी। योगी का जीवन सरल और सहज होता है। वह भोग विलास में नहीं पड़ता और न ही अत्यधिक कठोर तप करता है। उसका मार्ग मध्यम मार्ग है। योगी का प्रत्येक कर्म यज्ञ होता है, प्रत्येक श्वास ध्यान होता है और प्रत्येक क्षण परमात्मा की उपासना होती है।

4.6 यज्ञ का स्वरूप और विभिन्न प्रकार

श्रीकृष्ण गीता के चौथे अध्याय में यज्ञ के अनेक स्वरूपों का वर्णन करते हैं। यह दर्शाता है कि यज्ञ केवल एक विशेष अनुष्ठान नहीं है, बल्कि जीवन का प्रत्येक क्षेत्र यज्ञ बन सकता है।

4.6.1 द्रव्य यज्ञ : इसमें देवताओं को विभिन्न द्रव्यों की आहुति दी जाती है। यह बाह्य यज्ञ है जो शास्त्रों में वर्णित विधि-विधान से किया जाता है। यद्यपि यह यज्ञ महत्वपूर्ण है, किंतु इससे भी उच्च यज्ञ हैं।

4.6.2 संयम यज्ञ : इसमें साधक अपनी इंद्रियों को संयमित करके उन्हें यज्ञ की अग्नि में आहुति देता है। जब व्यक्ति विषयों से अपनी इंद्रियों को हटाकर आत्मा में स्थिर करता है, तो यह संयम यज्ञ होता है।

4.6.3 तप यज्ञ : इसमें शारीरिक, मानसिक और वाचिक तप किया जाता है। कठोर नियमों का पालन, व्रत, उपवास आदि इसके अंतर्गत आते हैं।

4.6.4 स्वाध्याय यज्ञ : इसमें शास्त्रों का अध्ययन और मनन किया जाता है। जब हम शास्त्रों को पढ़ते हैं, उन पर चिंतन करते हैं और उनके अनुसार जीवन जीने का प्रयास करते हैं, तो यह स्वाध्याय यज्ञ है।

4.6.5 ज्ञान यज्ञ : यह सबसे उत्तम यज्ञ है। इसमें साधक आत्मान की अग्नि में अपनी अज्ञानता को समाप्त कर देता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि सभी द्रव्य यज्ञों से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि समस्त कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं।

इसके अलावा प्राणायाम यज्ञ भी है जिसमें प्राण और अपान की गति को नियंत्रित करके आत्मसाक्षात्कार का प्रयास किया जाता है। कुछ योगी आहार को नियंत्रित करके आहार यज्ञ करते हैं। वे संयमित और सात्विक भोजन करते हैं और भोजन को भी एक यज्ञ के रूप में देखते हैं। योगासन और प्राणायाम के माध्यम से शरीर को शुद्ध करना भी एक प्रकार का यज्ञ है। सभी यज्ञों का उद्देश्य एक ही है — चित्त की शुद्धि और परमात्मा की प्राप्ति। यज्ञ का सच्चा स्वरूप त्याग है। जब हम अपने अहंकार, स्वार्थ और कामनाओं का त्याग करते हैं, तो वही परम यज्ञ है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो व्यक्ति इन विभिन्न यज्ञों को जानकर उनका अनुष्ठान करता है, वह यज्ञ से उत्पन्न हुए अन्न रूपी अमृत से तृप्त होकर सनातन ब्रह्म को प्राप्त करता है।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: ज्ञान यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ यज्ञ क्यों माना गया है? इसका अभ्यास कैसे किया जाता है?

4.7 साधना की विधि और गुरु का महत्व

साधना का अर्थ है आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नियमित और निरंतर प्रयास। श्रीकृष्ण गीता में साधना की स्पष्ट विधि बताते हैं। सबसे पहले साधक को तत्त्वज्ञानी गुरु की शरण में जाना चाहिए। गुरु वह है

जो ब्रह्म को जानता है और जो साधक को अंधकार से प्रकाश की ओर ले जा सके। श्रीकृष्ण कहते हैं कि तत्व को जानने वाले ज्ञानियों के पास जाकर उन्हें प्रणाम करो, उनकी सेवा करो और सरलता से प्रश्न-करो। वे परम तत्व को जानने वाले ज्ञानी तुम्हें उस ज्ञान का उपदेश करेंगे। गुरु की खोज साधना का प्रथम और अत्यंत महत्वपूर्ण चरण है।

4.7.1 गुरु के पास जाने की विधि : गुरु के पास जाकर साधक को तीन कार्य करने चाहिए – प्रणिपात, परिप्रश्न-और सेवा। प्रणिपात का अर्थ है विनम्रता और श्रद्धा से गुरु के चरणों में झुकना। यह अहंकार का त्याग है। परिप्रश्न-का अर्थ है सच्ची जिज्ञासा से प्रश्न-करना। ये प्रश्न-केवल बुद्धि की तृप्ति के लिए नहीं, बल्कि आत्मान की प्राप्ति के लिए होने चाहिए। सेवा का अर्थ है गुरु की निस्वार्थ सेवा करना। सेवा से साधक का चित्त शुद्ध होता है और गुरु की कृपा प्राप्त होती है। जब गुरु की कृपा हो जाती है तो ज्ञान का प्रकाश स्वतः ही हो जाता है।

4.7.2 नियमित अभ्यास : साधना की विधि में दूसरा महत्वपूर्ण अंग है नियमित अभ्यास। साधक को प्रतिदिन एक निश्चित समय पर ध्यान, जप, प्राणायाम और शास्त्र अध्ययन करना चाहिए। नियमितता साधना की आत्मा है। जैसे बूंद-बूंद से घड़ा भरता है, वैसे ही नियमित साधना से आध्यात्मिक प्रगति होती है।

4.7.3 वैराग्य और विवेक : तीसरा अंग है वैराग्य अर्थात् विषयों से वैराग्य और आत्मा में राग। जब तक मन विषयों में आसक्त है, तब तक साधना में गहराई नहीं आती। चौथा अंग है विवेक – नित्य और अनित्य का, सत्य और असत्य का विवेक। यह विवेक साधक को सही मार्ग पर ले जाता है।

4.7.4 धैर्य और श्रद्धा : साधना में धैर्य अत्यंत आवश्यक है। आध्यात्मिक प्रगति तुरंत नहीं होती, इसमें समय लगता है। साधक को निराश नहीं होना चाहिए। श्रद्धा और दृढ़ संकल्प के साथ निरंतर प्रयास करते रहना चाहिए। साधना में एकांत का भी महत्व है। एकांत में मन शांत होता है और आत्मचिंतन के लिए उचित वातावरण मिलता है। साधक को सत्संग भी करना चाहिए। सत्संग से प्रेरणा मिलती है और मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को दूर करने में सहायता मिलती है। साधना का अंतिम लक्ष्य है आत्मसाक्षात्कार, जहां साधक अपने सच्चे स्वरूप को जान लेता है और सभी बंधनों से मुक्त हो जाता है।

4.8 ज्ञान की महिमा और उसका प्रभाव

श्रीकृष्ण गीता के चौथे अध्याय में ज्ञान की महिमा का विस्तृत वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला कोई साधन नहीं है। जब साधक ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो सभी पाप और अशुद्धियां स्वतः ही नष्ट हो जाती हैं, ठीक वैसे ही जैसे सूर्य के उदय होने पर अंधकार स्वतः ही विलीन हो जाता है। ज्ञान एक प्रकाश है जो अज्ञान के अंधकार को दूर करता है और सत्य को प्रकट करता है। यह ज्ञान केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं है, बल्कि आत्मसाक्षात्कार है जो प्रत्यक्ष अनुभव से प्राप्त होता है।

4.8.1 ज्ञान का शुद्धिकारी प्रभाव : ज्ञान का प्रभाव अद्भुत है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि कोई सभी पापियों से भी अधिक पापी है, तो भी वह ज्ञान रूपी नौका से संसार सागर को पार कर सकता है। ज्ञान की अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है, जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ी को भस्म कर देती है। यह दर्शाता है कि ज्ञान की शक्ति असीमित है।

4.8.2 ज्ञान से मुक्ति : जब व्यक्ति को यह ज्ञान हो जाता है कि मैं शरीर नहीं, मन नहीं, बल्कि शुद्ध चैतन्य आत्मा हूं, तो सभी बंधन टूट जाते हैं। यह ज्ञान व्यक्ति को जन्म-मरण के चक्र से मुक्त कर देता है।

4.8.3 ज्ञान प्राप्ति के लिए श्रद्धा : ज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रद्धा आवश्यक है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि श्रद्धावान व्यक्ति जो इंद्रियों को वश में रखता है, वही ज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त करके वह शीघ्र ही परम शांति

को प्राप्त होता है। इसके विपरीत, जो श्रद्धाहीन है, संशयातमा है, वह न इस लोक में सुखी होता है और न परलोक में। संशय साधना का सबसे बड़ा शत्रु है। इसलिए साधक को अपने संशयों को दूर करने के लिए गुरु और शास्त्रों की शरण में जाना चाहिए। ज्ञान प्राप्त होने के बाद व्यक्ति का जीवन पूर्णतया बदल जाता है। वह सभी प्राणियों में एक ही आत्मा को देखता है, सुख-दुख में समान रहता है और निर्भय हो जाता है।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: साधक को गुरु के पास किन तीन भावों से जाना चाहिए और क्यों?

4.9 कर्म का रहस्य और कर्म-अकर्म विवेक

श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म क्या है, अकर्म क्या है, और विकर्म क्या है — इसे विद्वान लोग भी भली-भांति नहीं समझ पाते। इस विषय को मैं तुम्हें भली-भांति समझाऊंगा, जिसे जानकर तुम अशुभ से मुक्त हो जाओगे। कर्म का रहस्य बहुत गहन है। सामान्यतः लोग समझते हैं कि शारीरिक या मानसिक क्रियाशीलता ही कर्म है, किंतु यह पूर्ण सत्य नहीं है।

4.9.1 कर्म का वास्तविक अर्थ : कर्म का वास्तविक अर्थ है कर्तृत्व की भावना। जब व्यक्ति यह मानता है कि मैं कर्ता हूँ, तब कर्म बंधन का कारण बनता है। किंतु जब वह समझता है कि मैं केवल निमित्त मात्र हूँ, वास्तविक कर्ता परमात्मा है, तब वही क्रिया अकर्म बन जाती है।

4.9.2 कर्म में अकर्म देखना : श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो कर्म में अकर्म को देखता है और अकर्म में कर्म को देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है, वह योगी है और सब कर्मों को करने वाला है। इसका अर्थ है कि जो व्यक्ति कर्म करते हुए भी अपने को अकर्ता मानता है, वह कर्म में अकर्म देखता है। और जो निष्क्रिय दिखते हुए भी कर्तृत्व के अहंकार में है, वह अकर्म में कर्म देखता है।

4.9.3 वास्तविक योगी : वास्तविक योगी वह है जो शरीर से सभी कर्म करता है किंतु आत्मा से निर्लिप्त रहता है। उसके लिए कर्म करना और न करना समान है क्योंकि वह जानता है कि गुण ही गुणों में बर्ताव कर रहे हैं, मैं कुछ नहीं कर रहा।

4.9.4 विकर्म : विकर्म वह कर्म है जो शास्त्र विरुद्ध और अधर्मपूर्ण है। ऐसे कर्म से बचना चाहिए क्योंकि वे पाप और पतन का कारण बनते हैं। कर्म का सही ज्ञान तब होता है जब साधक यह समझ लेता है कि तीनों प्रकार की क्रियाएं — कर्म, अकर्म और विकर्म — वास्तव में आत्मा को प्रभावित नहीं करतीं। आत्मा सदा निर्लिप्त और अकर्ता है। यह ज्ञान प्राप्त करके साधक कर्म करते हुए भी बंधन से मुक्त रहता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिसके सभी कर्म कामना और संकल्प से रहित हैं और जिसके सभी कर्म ज्ञानाग्नि से भस्म हो गए हैं, उसे पंडित लोग ज्ञानी कहते हैं।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: 'कर्म में अकर्म देखना' और 'अकर्म में कर्म देखना' का क्या अर्थ है?

4.10 आसक्ति और कामना से मुक्ति

संसार में मनुष्य के सभी दुखों का मूल कारण आसक्ति और कामना है। श्रीकृष्ण गीता में बार-बार इन दोनों से मुक्त होने का उपदेश देते हैं। आसक्ति का अर्थ है किसी व्यक्ति, वस्तु या स्थिति के प्रति अत्यधिक

लगाव। जब हम किसी चीज से अत्यधिक जुड़ जाते हैं, तो उसके न मिलने या छिन जाने पर हमें दुख होता है। कामना का अर्थ है इच्छा। जब तक मन में इच्छाएं हैं, तब तक शांति नहीं मिल सकती। एक इच्छा पूरी होती है तो दस नई इच्छाएं उत्पन्न हो जाती हैं। यह एक ऐसा चक्र है जिसका कोई अंत नहीं है।

4.10.1 आसक्ति और कामना का प्रभाव : श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो व्यक्ति सभी कामनाओं को त्यागकर, ममता और अहंकार से रहित होकर विचरण करता है, वही शांति को प्राप्त होता है। आसक्ति और कामना से मुक्ति का अर्थ यह नहीं है कि हम सब कुछ छोड़कर जंगल में चले जाएं। इसका अर्थ है आंतरिक वैराग्य। हम संसार में रहें, अपने कर्तव्यों का पालन करें, किंतु मन में आसक्ति न रखें।

4.10.2 आंतरिक वैराग्य : जैसे कमल का पत्ता जल में रहकर भी जल से अलिप्त रहता है, वैसे ही हम संसार में रहकर भी संसार से अलिप्त रह सकते हैं। आसक्ति से मुक्त होने के लिए विवेक और वैराग्य दोनों आवश्यक हैं। विवेक से हम यह समझते हैं कि यह संसार नश्वर है और सच्ची प्रसन्नता बाहरी वस्तुओं में नहीं, आत्मा में है। वैराग्य से हम धीरे-धीरे संसार के प्रति अपनी आसक्ति कम करते हैं।

4.10.3 संतोष का महत्व : कामना से मुक्ति के लिए संतोष आवश्यक है। जब हम जो है उसमें संतुष्ट रहते हैं, तो नई कामनाएं उत्पन्न नहीं होतीं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो व्यक्ति आत्मा में ही संतुष्ट है, वही सच्चा योगी है। आसक्ति और कामना से मुक्त व्यक्ति वास्तव में स्वतंत्र होता है। वह किसी पर निर्भर नहीं रहता और कोई परिस्थिति उसे विचलित नहीं कर सकती। यह मुक्ति जीवन में ही प्राप्त की जा सकती है, इसके लिए निष्काम कर्म वह है जो बिना फल की इच्छा के, केवल कर्तव्य भावना से किया जाता है। यह योगियों और ज्ञानियों का मार्ग है और यह मुक्ति का साधन बनता है।

अकर्म का अर्थ है क्रिया का अभाव। जब कोई व्यक्ति कुछ नहीं कर रहा होता, शांत बैठा होता है, तो वह अकर्म की स्थिति में होता है। किंतु गीता में अकर्म का एक और गहरा अर्थ है। जब व्यक्ति कर्म करते हुए भी कर्ता भाव से मुक्त हो जाता है, जब वह जानता है कि वास्तव में मैं कुछ नहीं कर रहा, गुण ही गुणों में बर्ताव कर रहे हैं, तब वह अकर्म की स्थिति में होता है। यह परम ज्ञानियों की स्थिति है जहां शरीर से कर्म होता है किंतु आत्मा अकर्ता रहती है। ऐसे व्यक्ति के लिए कर्म और अकर्म में कोई अंतर नहीं रहता क्योंकि वह दोनों स्थितियों में समान रहता है।

विकर्म वह कर्म है जो शास्त्र विरुद्ध, अधर्मपूर्ण और समाज के लिए हानिकारक है। ऐसे कर्म जो दूसरों को दुख पहुंचाते हैं, जो नैतिकता के विरुद्ध हैं, जो अपने या समाज के पतन का कारण बनते हैं, वे सब विकर्म हैं। हिंसा, चोरी, झूठ, व्यभिचार आदि विकर्म के उदाहरण हैं। विकर्म करने से पाप लगता है और मनुष्य नीचे की योनियों में जाता है। विकर्म से हमेशा बचना चाहिए।

‘कर्म में अकर्म देखने’ का अर्थ है कि साधक कर्म करते हुए भी अपने को अकर्ता मानता है। वह समझता है कि शरीर, मन और इंद्रियां तो कर्म कर रही हैं, किंतु वास्तविक आत्मा कर्ता नहीं है। आत्मा तो केवल साक्षी है, द्रष्टा है। जैसे आकाश में बादल आते-जाते हैं किंतु आकाश उनसे प्रभावित नहीं होता, वैसे ही शरीर में कर्म होते हैं किंतु आत्मा उनसे प्रभावित नहीं होती। यह ज्ञान मनुष्य को कर्म के बंधन से मुक्त कर देता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो कर्म में अकर्म को देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है, वह योगी है और सब कर्मों को करने वाला है।

‘अकर्म में कर्म देखने’ का अर्थ है कि जो व्यक्ति बाहर से निष्क्रिय दिखता है किंतु मन में कर्तृत्व का अहंकार रखता है, वह वास्तव में कर्म में बंधा हुआ है। उदाहरण के लिए, कोई संन्यासी बाहर से सब कुछ त्यागकर बैठा है, किंतु यदि उसके मन में यह अहंकार है कि मैंने सब कुछ त्याग दिया, मैं महान हूं, तो वह अकर्म में कर्म देख रहा है। उसका यह मानसिक भाव उसे बांधता है।

व्यावहारिक जीवन में इस ज्ञान का अनुप्रयोग बहुत महत्वपूर्ण है। जब हम किसी कार्य को करते हैं, तो हमें यह भावना रखनी चाहिए कि मैं तो केवल निमित्त मात्र हूँ, वास्तविक कर्ता परमात्मा है। यह दृष्टिकोण हमें अहंकार से बचाता है। जब कार्य में सफलता मिलती है, तो हम अहंकारी नहीं होते और जब असफलता मिलती है, तो निराश नहीं होते। हम समझते हैं कि सफलता और असफलता दोनों परमात्मा की इच्छा हैं, हमारा कर्तव्य केवल प्रयास करना है। यह भावना हमें तनाव मुक्त रखती है। हम पूरी निष्ठा से कार्य करते हैं किंतु परिणाम की चिंता नहीं करते। यह कर्म करने की सबसे स्वस्थ और आनंददायक विधि है। इस प्रकार कर्म, अकर्म और विकर्म का ज्ञान हमें सही मार्ग दिखाता है और जीवन को सार्थक बनाता है।

निष्काम कर्म भगवद्गीता का केंद्रीय सिद्धांत है और यह कर्मयोग की आत्मा है। निष्काम कर्म का अर्थ है फल की इच्छा रहित कर्म, अर्थात् वह कर्म जो बिना किसी स्वार्थ या फल की आशा के केवल कर्तव्य भावना से किया जाता है। निष्काम कर्म में व्यक्ति कर्म करता है किंतु कर्म के परिणाम के प्रति उदासीन रहता है। वह यह नहीं सोचता कि इस कर्म से मुझे क्या मिलेगा, बल्कि वह केवल यह सोचता है कि यह मेरा कर्तव्य है और मुझे इसे पूरी निष्ठा से करना चाहिए। निष्काम कर्म में कर्म तो पूरी शक्ति से किया जाता है, किंतु फल की आसक्ति नहीं होती।

सकाम कर्म उसे कहते हैं जो फल की इच्छा से किया जाता है। यह सामान्य मनुष्यों का स्वाभाविक तरीका है। हम सभी कुछ पाने के लिए कार्य करते हैं — धन के लिए, यश के लिए, सुख के लिए, स्वर्ग के लिए। सकाम कर्म में व्यक्ति का ध्यान कर्म से अधिक फल पर होता है। वह यह सोचता रहता है कि मुझे इस कार्य से क्या लाभ होगा, मुझे कितना मिलेगा। यदि अपेक्षित फल मिल जाता है तो वह प्रसन्न होता है और यदि नहीं मिलता तो दुखी होता है। सकाम कर्म के कई दोष हैं — यह चिंता और तनाव का कारण बनता है, यह निराशा लाता है जब अपेक्षित फल नहीं मिलता, और सबसे बड़ी बात यह कि यह बंधन का कारण बनता है।

निष्काम और सकाम कर्म में मूल अंतर मनोवृत्ति का है, कर्म का नहीं। दोनों स्थितियों में व्यक्ति कर्म तो करता ही है, अंतर यह है कि एक फल की आशा से करता है और दूसरा फल की आशा के बिना। निष्काम कर्म में कर्म करने की प्रक्रिया ही महत्वपूर्ण होती है, फल नहीं। सकाम कर्म में फल महत्वपूर्ण होता है, प्रक्रिया गौण हो जाती है। निष्काम कर्म करने वाला व्यक्ति वर्तमान में जीता है, पूरी तरह कर्म में डूब जाता है। सकाम कर्म करने वाला भविष्य में जीता है, कर्म करते हुए भी उसका मन फल में लगा रहता है।

निष्काम कर्म को मुक्ति का साधन इसलिए माना गया है क्योंकि यह कर्म के बंधन को तोड़ देता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म बंधन का कारण तब बनता है जब उसमें आसक्ति हो। निष्काम कर्म में आसक्ति न होने से कर्म बंधन का कारण नहीं बनता। जब व्यक्ति फल की इच्छा करता है, तो उस इच्छा की पूर्ति के लिए उसे पुनः जन्म लेना पड़ता है। किंतु जब कोई इच्छा ही नहीं रहती, तो पुनर्जन्म का कारण ही समाप्त हो जाता है। निष्काम कर्म चित्त को शुद्ध करता है। जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तो उसमें ज्ञान का उदय होता है और ज्ञान से मुक्ति मिलती है।

निष्काम कर्म अहंकार को समाप्त करता है। जब हम फल की इच्छा नहीं करते, तो धीरे-धीरे यह भाव आता है कि मैं कर्ता नहीं हूँ, परमात्मा ही सब कुछ कर रहा है। यह भाव अहंकार को मिटा देता है और अहंकार के मिटने से मुक्ति मिलती है। निष्काम कर्म से समत्व भाव आता है। जब फल की आशा नहीं रहती तो सफलता-असफलता, लाभ-हानि में समानता आ जाती है। यह समत्व ही योग है और योग से मुक्ति मिलती है।

आधुनिक जीवन में निष्काम कर्म का पालन करना कठिन लगता है किंतु असंभव नहीं है। सबसे पहले हमें अपने दृष्टिकोण को बदलना होगा। हम जो भी कार्य करें, उसे कर्तव्य के रूप में देखें, व्यापार के रूप में

नहीं। उदाहरण के लिए, यदि हम नौकरी कर रहे हैं, तो इसे केवल वेतन पाने का साधन न मानें, बल्कि इसे समाज की सेवा का एक अवसर मानें। हम यह सोचें कि हम अपने कर्म से समाज को कुछ दे रहे हैं। यह भावना परिवर्तन कर्म को निष्काम बना देता है।

दूसरा, हमें कर्म करते समय पूरी तरह कर्म में डूब जाना चाहिए, फल के बारे में सोचना नहीं चाहिए। जब हम किसी कार्य को कर रहे हों, तो उसी में पूरी तरह मग्न हो जाएं। फल की चिंता बाद में करेंगे, पहले कर्म को पूर्णता से करें। तीसरा, हमें यह समझना चाहिए कि फल हमारे हाथ में नहीं है। फल अनेक कारणों पर निर्भर करता है जो हमारे नियंत्रण में नहीं हैं। इसलिए फल की चिंता करना व्यर्थ है। हम केवल प्रयास कर सकते हैं, परिणाम परमात्मा पर छोड़ देना चाहिए।

चौथा, हमें अपने कर्म को यज्ञ बनाना चाहिए। प्रत्येक कर्म को परमात्मा की पूजा समझकर करें। जैसे पूजा में हम फल की आशा नहीं करते, केवल भक्ति भाव से करते हैं, वैसे ही अपने सभी कर्मों को करें। पांचवां, हमें संतोष का अभ्यास करना चाहिए। जो मिल जाए उसमें संतुष्ट रहें, अधिक की लालसा न करें। संतोष से निष्काम भाव आता है। इस प्रकार धीरे-धीरे अभ्यास से आधुनिक जीवन में भी निष्काम कर्म का पालन किया जा सकता है और जीवन को शांतिपूर्ण और सार्थक बनाया जा सकता है।

भगवद्गीता के चौथे अध्याय में श्रीकृष्ण ने अवतार के गहन रहस्य को प्रकट किया है। यह हिंदू धर्म का एक अनूठा सिद्धांत है जो ईश्वर को निराकार और साकार दोनों रूपों में स्वीकार करता है। अर्जुन के प्रश्न—के उत्तर में श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म हो चुके हैं। तुम उन्हें नहीं जानते किंतु मैं सब जानता हूँ। यद्यपि मैं अजन्मा और अविनाशी हूँ और सभी प्राणियों का ईश्वर हूँ, फिर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ। यह अवतार का मूल रहस्य है।

इसका अर्थ यह है कि परमात्मा वास्तव में अजन्मा है, उसका जन्म—मरण नहीं होता। किंतु विश्व कल्याण के लिए वह अपनी इच्छा से मनुष्य रूप में प्रकट होता है। यह प्रकटीकरण सामान्य मनुष्यों के जन्म की तरह नहीं है। सामान्य मनुष्य का जन्म कर्म के कारण होता है, वह विवश होकर जन्म लेता है। किंतु भगवान का जन्म स्वेच्छा से होता है, वह अपनी योगमाया से प्रकट होता है। भगवान अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता, वह सदा अपने परम स्वरूप में ही रहता है, केवल लीला के लिए मनुष्य रूप धारण करता है।

सबसे प्रसिद्ध श्लोक है —

“यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥”

इसका अर्थ है — हे भारत! जब—जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है, तब—तब मैं स्वयं को प्रकट करता हूँ। साधुओं की रक्षा करने के लिए, दुष्टों का विनाश करने के लिए और धर्म की स्थापना के लिए मैं युग—युग में अवतार लेता हूँ।

इस श्लोक में अवतार के तीन मुख्य उद्देश्य बताए गए हैं। प्रथम है साधुओं की रक्षा। जब पृथ्वी पर साधु पुरुष, धर्मात्मा लोग अत्याचार से पीड़ित होते हैं, जब सत्य और नैतिकता का पालन करने वाले लोगों पर संकट आता है, तब भगवान उनकी रक्षा के लिए अवतार लेते हैं। द्वितीय है दुष्टों का विनाश। जो लोग अधर्म का मार्ग अपनाते हैं, जो दूसरों को कष्ट देते हैं, जो समाज में अशांति फैलाते हैं, उनका विनाश करने के लिए

भगवान अवतार लेते हैं। तृतीय और सबसे महत्वपूर्ण है धर्म की स्थापना। जब समाज में अनाचार बढ़ जाता है, नैतिक मूल्य नष्ट हो जाते हैं, लोग कर्तव्य मार्ग से भटक जाते हैं, तब भगवान मनुष्य रूप में अवतार लेकर धर्म की पुनर्स्थापना करते हैं।

धर्म की ग्लानि का अर्थ केवल धार्मिक अनुष्ठानों का अभाव नहीं है। धर्म का अर्थ है वह व्यवस्था जो समाज को धारण करती है, जो जीवन को सही दिशा देती है। जब समाज में सत्य, न्याय, करुणा, दया जैसे मूल्य नष्ट हो जाते हैं, जब शक्तिशाली लोग कमजोरों का शोषण करते हैं, जब स्वार्थ परमार्थ पर हावी हो जाता है, तब धर्म की ग्लानि होती है। ऐसे समय में समाज को मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है और भगवान अवतार लेकर वह मार्गदर्शन प्रदान करते हैं।

श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि जो मेरे इस दिव्य जन्म और कर्म को तत्व से जानता है, वह शरीर त्यागने के बाद पुनः जन्म को प्राप्त नहीं होता, बल्कि मुझे ही प्राप्त होता है। यह बताता है कि अवतार को समझना केवल ऐतिहासिक ज्ञान नहीं है, बल्कि यह एक आध्यात्मिक साधना है। जब साधक यह समझ लेता है कि भगवान निराकार होते हुए भी लीला के लिए साकार रूप धारण करते हैं, जब वह भगवान के दिव्य जन्म और कर्म में श्रद्धा रखता है, तब उसकी भक्ति गहरी हो जाती है और वह भगवान के साथ एकत्व प्राप्त कर लेता है।

अवतार का सिद्धांत आध्यात्मिक साधना में बहुत सहायक है। यह साधक को एक मूर्त आलंबन देता है। निराकार ब्रह्म की उपासना कठिन है, किंतु साकार अवतार की उपासना सरल है। अवतार के जीवन और उपदेश से साधक को प्रेरणा मिलती है। श्रीराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध जैसे अवतारों के आदर्श जीवन से साधक सीखता है कि कैसे जीना चाहिए। अवतार में विश्वास से साधक को यह भरोसा मिलता है कि भगवान उसके साथ हैं, कठिन समय में भगवान उसकी रक्षा करेंगे। यह विश्वास साधक को शक्ति देता है। अवतार का सिद्धांत यह भी बताता है कि परमात्मा निर्गुण और सगुण दोनों हैं, वे दूर भी हैं और पास भी, वे अगम्य भी हैं और सुलभ भी। यह समग्र दृष्टि साधक को पूर्णता की ओर ले जाती है।

भगवद्गीता के चौथे अध्याय में श्रीकृष्ण ने अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया है — द्रव्य यज्ञ, तप यज्ञ, योग यज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ आदि। किंतु इन सबमें ज्ञान यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। श्रीकृष्ण स्पष्ट शब्दों में कहते हैं —

“श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।

सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥”

अर्थात् हे परंतप! सभी द्रव्यमय यज्ञों से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि हे पार्थ! समस्त कर्म संपूर्णता से ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं।

ज्ञान यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ मानने के अनेक कारण हैं। प्रथम, सभी यज्ञों का अंतिम लक्ष्य ज्ञान की प्राप्ति है। द्रव्य यज्ञ, तप यज्ञ आदि चित्त की शुद्धि के साधन हैं, किंतु ज्ञान यज्ञ में साधक प्रत्यक्ष आत्मसाक्षात्कार करता है। जैसे कोई व्यक्ति अनेक मार्गों से चलकर अंततः मंजिल पर पहुंचता है, वैसे ही सभी यज्ञ अंततः ज्ञान में समाप्त होते हैं। द्वितीय, ज्ञान ही मुक्ति का प्रत्यक्ष साधन है। अन्य यज्ञ परोक्ष रूप से मुक्ति में सहायक हैं, किंतु ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से मुक्ति देता है। जब साधक को आत्मान हो जाता है, उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है।

तृतीय, ज्ञान की अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है। श्रीकृष्ण कहते हैं —

“यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसातकुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसातकुरुते तथा ॥”

जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ी को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है। यहां कर्मों को भस्म करने का अर्थ है कर्मों के बंधनकारी प्रभाव को समाप्त कर देना। जब ज्ञान हो जाता है तो पूर्व के सभी कर्म व्यक्ति को बांध नहीं सकते।

चतुर्थ, ज्ञान सबसे अधिक पवित्र करने वाला है। श्रीकृष्ण कहते हैं —

“न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥”

इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला कोई साधन नहीं है। जो व्यक्ति योग में सिद्ध है, वह उचित समय आने पर स्वयं ही अपने आप में ज्ञान को पा लेता है। ज्ञान सभी पापों और अशुद्धियों को दूर कर देता है। यदि कोई व्यक्ति सभी पापियों से भी अधिक पापी है, तो भी वह ज्ञान रूपी नौका से संसार सागर को पार कर सकता है।

ज्ञान की महिमा अपार है। ज्ञान वह प्रकाश है जो अज्ञान के अंधकार को दूर करता है। जैसे सूर्य के उदय होने पर अंधकार स्वतः ही विलीन हो जाता है, वैसे ही ज्ञान के उदय होने पर सभी भ्रम, संशय और दुःख स्वतः समाप्त हो जाते हैं। ज्ञान व्यक्ति को जन्म-मरण के चक्र से मुक्त कर देता है। ज्ञान से व्यक्ति सभी प्राणियों में एक ही आत्मा को देखने लगता है। यह ज्ञान उसे द्वेष से मुक्त करता है और सार्वभौमिक प्रेम से भर देता है।

ज्ञान प्राप्त करने की विधि श्रीकृष्ण ने स्पष्ट बताई है। वे कहते हैं —

“तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥”

उस ज्ञान को तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर समझ। उन्हें प्रणाम करके, उनकी सेवा करके और सरलता से प्रश्न-करके जान। वे परमात्मतत्त्व को जानने वाले ज्ञानीजन तुझे उस तत्त्वज्ञान का उपदेश करेंगे।

ज्ञान प्राप्ति के लिए सबसे पहले तत्त्वदर्शी गुरु की खोज करनी चाहिए। गुरु वह है जो स्वयं ब्रह्म को जानता है और जो शिष्य में भी वह ज्ञान जगा सके। गुरु के पास जाकर तीन कार्य करने चाहिए। प्रथम है प्रणिपात, अर्थात् विनम्रतापूर्वक समर्पण। अहंकार ज्ञान का सबसे बड़ा शत्रु है। जब शिष्य विनम्र होता है, तब वह ज्ञान को ग्रहण करने योग्य बनता है। द्वितीय है परिप्रश्न, अर्थात् सच्ची जिज्ञासा से प्रश्न-करना। केवल सुनने से ज्ञान पूर्ण नहीं होता। शिष्य को अपने संशयों को दूर करने के लिए प्रश्न-करने चाहिए। तृतीय है सेवा, अर्थात् गुरु की निस्वार्थ सेवा। सेवा से चित्त की शुद्धि होती है और गुरु की कृपा प्राप्त होती है।

इसके अतिरिक्त ज्ञान प्राप्ति के लिए श्रद्धा आवश्यक है। श्रीकृष्ण कहते हैं —

“श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥”

श्रद्धावान्, तत्पर और इंद्रियों को वश में रखने वाला मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है और ज्ञान को प्राप्त होकर वह शीघ्र ही परम शांति को प्राप्त हो जाता है। श्रद्धा का अर्थ है गुरु, शास्त्र और ईश्वर में विश्वास। संयमित इंद्रियां भी आवश्यक हैं। यदि इंद्रियां विषयों में भटकती रहें तो ज्ञान नहीं हो सकता।

ज्ञान और अज्ञान के परिणाम एकदम विपरीत हैं। ज्ञान मुक्ति देता है, अज्ञान बंधन में डालता है। ज्ञानी

व्यक्ति सभी प्राणियों में एक ही आत्मा को देखता है, इसलिए वह द्वेष से मुक्त हो जाता है। अज्ञानी व्यक्ति भेद देखता है, इसलिए द्वेष, ईर्ष्या और शत्रुता में फंसा रहता है। ज्ञानी सुख-दुख में समान रहता है क्योंकि वह जानता है कि आत्मा इनसे परे है। अज्ञानी सुख में प्रसन्न और दुख में दुखी होता है। ज्ञानी कर्म करते हुए भी बंधन में नहीं पड़ता क्योंकि वह अपने को अकर्ता जानता है। अज्ञानी कर्म के बंधन में फंसा रहता है और जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि अज्ञानी, श्रद्धाहीन और संशयातमा व्यक्ति का पतन होता है। ऐसा मनुष्य न इस लोक में सुखी होता है, न परलोक में। संशय सबसे बड़ा शत्रु है। जो व्यक्ति सदैव संशय में रहता है, वह किसी निर्णय पर नहीं पहुंच पाता और जीवन भर भटकता रहता है। इसके विपरीत, ज्ञानी व्यक्ति निर्भय होता है क्योंकि वह जानता है कि आत्मा अमर है। वह परम शांति को प्राप्त करता है और जीवन मुक्त हो जाता है। ज्ञान यज्ञ इसलिए सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि यह व्यक्ति को न केवल इस लोक में शांति देता है, बल्कि परलोक में भी मुक्ति प्रदान करता है।

कर्मयोग भगवद्गीता का सबसे महत्वपूर्ण योग है और यह गृहस्थों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त मार्ग है। कर्मयोग का शाब्दिक अर्थ है कर्म के माध्यम से योग अर्थात् परमात्मा से मिलन। श्रीकृष्ण कहते हैं – “योगः कर्मसु कौशलम्” अर्थात् कर्मों में कुशलता ही योग है। यह कुशलता बाहरी नहीं बल्कि आंतरिक है। कर्मयोग का सार है कर्म करना किंतु कर्म फल में आसक्त न होना। जब व्यक्ति अपने सभी कर्म परमात्मा को समर्पित करके, निष्काम भाव से, केवल कर्तव्य भावना से करता है, तो वह कर्मयोग है।

कर्मयोग के तीन मुख्य सिद्धांत हैं। प्रथम है निष्काम कर्म – फल की इच्छा के बिना कर्म करना। हम कर्म करते समय यह नहीं सोचें कि इससे मुझे क्या मिलेगा, बल्कि यह सोचें कि यह मेरा कर्तव्य है। द्वितीय है समत्व भाव – सफलता और असफलता, लाभ और हानि में समान रहना। जब हम समत्व में स्थित होते हैं, तो मन शांत रहता है। तृतीय है यज्ञ भावना – प्रत्येक कर्म को यज्ञ अर्थात् समर्पण बनाना। जब हम अपने कर्म को परमात्मा की पूजा समझकर करते हैं, तो वह पवित्र हो जाता है।

कर्मयोग को व्यावहारिक जीवन में लागू करना बहुत सरल है। सबसे पहले हमें अपने प्रत्येक कर्म को पूरी निष्ठा और ईमानदारी से करना चाहिए। चाहे वह कर्म छोटा हो या बड़ा, हमें उसमें अपना सर्वश्रेष्ठ देना चाहिए। यह उत्कृष्टता की खोज ही कर्मयोग है। दूसरा, हमें कर्म करते समय वर्तमान में रहना चाहिए। न तो अतीत का शोक करें और न भविष्य की चिंता। जो कार्य हाथ में है, उसी में पूरी तरह डूब जाएं। यह एकाग्रता कर्मयोग का महत्वपूर्ण अंग है।

तीसरा, हमें परिणाम की चिंता नहीं करनी चाहिए। हम केवल प्रयास कर सकते हैं, परिणाम अनेक कारणों पर निर्भर करता है जो हमारे नियंत्रण में नहीं हैं। इसलिए परिणाम को परमात्मा पर छोड़ दें। चौथा, हमें अपने कर्म को सेवा के रूप में देखना चाहिए। जो भी कर्म हम कर रहे हैं, उसे समाज की सेवा समझें। यह दृष्टिकोण कर्म को पवित्र बना देता है। पांचवां, हमें अहंकार से मुक्त रहना चाहिए। यह न सोचें कि मैं कर्ता हूं, बल्कि यह समझें कि परमात्मा ही सब कुछ कर रहा है और मैं केवल निमित्त हूं।

एक उदाहरण से समझें – मान लीजिए एक शिक्षक है। यदि वह कर्मयोगी है तो वह पढ़ाने को केवल नौकरी नहीं समझेगा, बल्कि यह समझेगा कि मैं बच्चों के जीवन को संवार रहा हूं, यह समाज सेवा है। वह पूरी निष्ठा से पढ़ाएगा, परिणाम की चिंता नहीं करेगा कि कितने बच्चे पास होंगे। यदि परीक्षा परिणाम अच्छे आएंगे तो वह अहंकार नहीं करेगा और यदि खराब आएंगे तो निराश नहीं होगा। इस प्रकार प्रत्येक व्यवसाय में कर्मयोग लागू किया जा सकता है।

कर्मयोग और संन्यास में मूल अंतर है। संन्यास का अर्थ है कर्मों का त्याग। संन्यासी सभी सांसारिक

कर्मों को छोड़कर केवल आत्म चिंतन में लीन रहता है। कर्मयोग का अर्थ है कर्म करते हुए भी योग में स्थित रहना। कर्मयोगी कर्म नहीं छोड़ता, वह केवल कर्म फल की आसक्ति छोड़ता है। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया है कि दोनों मार्ग मोक्ष की ओर ले जाते हैं, किंतु गृहस्थों के लिए कर्मयोग अधिक उपयुक्त है। संन्यास मार्ग कठिन है और सबके लिए संभव नहीं है। कर्मयोग मार्ग सरल है और सभी के लिए उपयुक्त है।

वास्तव में श्रीकृष्ण कहते हैं कि संन्यास के बिना कर्मयोग की प्राप्ति कठिन है, और कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि केवल बाहरी कर्मों का त्याग करना पर्याप्त नहीं है। आंतरिक त्याग अर्थात् आसक्ति का त्याग आवश्यक है। कर्मयोगी कर्म करते हुए भी आंतरिक रूप से संन्यासी होता है। वह कर्म करता है किंतु कर्म में आसक्त नहीं होता। यह आंतरिक संन्यास ही वास्तविक संन्यास है।

आधुनिक युग में कर्मयोग की प्रासंगिकता और भी बढ़ गई है। आज का युग अत्यधिक प्रतिस्पर्धा का युग है। लोग तनाव, चिंता और अवसाद से ग्रस्त हैं। इसका मुख्य कारण है कि हम परिणाम पर अत्यधिक ध्यान देते हैं और कर्म पर कम। कर्मयोग हमें सिखाता है कि हम अपना ध्यान कर्म पर केंद्रित करें, परिणाम पर नहीं। यह दृष्टिकोण तनाव को कम करता है। जब हम जानते हैं कि परिणाम हमारे हाथ में नहीं है, तो हम उसकी चिंता नहीं करते।

कर्मयोग आधुनिक प्रबंधन के सिद्धांतों से भी मेल खाता है। आज प्रबंधन विशेषज्ञ कहते हैं कि प्रक्रिया पर ध्यान दो, परिणाम स्वतः आएगा। यही कर्मयोग का संदेश है। कर्मयोग व्यक्ति को समाज से जोड़ता है। जब हम अपने कर्म को सेवा समझते हैं, तो हम समाज के प्रति जिम्मेदार बनते हैं। यह सामाजिक सद्भाव के लिए आवश्यक है। कर्मयोग व्यक्ति को आध्यात्मिक उन्नति भी देता है। कर्म करते हुए भी व्यक्ति मुक्ति की ओर बढ़ सकता है। उसे संसार छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार कर्मयोग एक संपूर्ण जीवन दर्शन है जो आधुनिक युग के लिए अत्यंत प्रासंगिक है।

इस प्रकार भगवद्गीता का चौथा अध्याय हमें जीवन जीने की एक संपूर्ण कला सिखाता है। यह अध्याय हमें बताता है कि कर्म से भागना नहीं है, बल्कि कर्म को योग बनाना है। प्रत्येक कर्म यज्ञ बन सकता है यदि हम उसे सही भावना से करें। ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का समन्वय ही संपूर्ण साधना है। इस अध्याय का अध्ययन करके साधक समझ जाता है कि साधारण जीवन जीते हुए भी आध्यात्मिक उन्नति संभव है।

श्रीकृष्ण का संदेश स्पष्ट है – अपने संशयों को दूर करो, ज्ञान के प्रकाश में अपने कर्तव्य का पालन करो, और निष्काम भाव से कर्म करो। यही जीवन का सार है, यही मुक्ति का मार्ग है। इस अध्याय के सिद्धांतों को जीवन में उतारकर कोई भी व्यक्ति शांति, आनंद और अंततः मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

“तस्माद् अज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनातमनः।

छित्त्वेन संशयं योगम् आतिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥”

अतः हे भारत! अपने हृदय में स्थित अज्ञान से उत्पन्न इस संशय को ज्ञान रूपी तलवार से काटकर, योग में स्थित होकर युद्ध के लिए खड़े हो जा।

बोध प्रश्न

आसक्ति और प्रेम में क्या अंतर है? क्या आसक्ति से मुक्त होने का अर्थ निर्मम हो जाना है?

4.11 कर्मयोग का सार और व्यावहारिक जीवन में प्रयोग

कर्मयोग गीता का केंद्रीय संदेश है। इसका अर्थ है कर्म में कुशलता, कर्म करते हुए योग में स्थित रहना। श्रीकृष्ण कहते हैं कि योगः कर्मसु कौशलम् – कर्मों में कुशलता ही योग है। यह कुशलता बाहरी नहीं, आंतरिक है। कर्मयोग का सार है कर्म करना किंतु फल में आसक्त न होना। यह साधारण मनुष्य के लिए सबसे उपयुक्त मार्ग है क्योंकि हर व्यक्ति को कर्म तो करना ही पड़ता है। प्रश्न—यह है कि कर्म कैसे किया जाए कि वह बंधन का कारण न बने। कर्मयोग इसका उत्तर देता है – कर्म को यज्ञ बना दो, कर्म को समर्पण बना दो, कर्म को साधना बना दो।

4.11.1 व्यावहारिक अनुप्रयोग :व्यावहारिक जीवन में कर्मयोग का प्रयोग बहुत सरल है। जो भी कर्म हम कर रहे हैं – चाहे वह घर का काम हो, दफ्तर का काम हो, व्यापार हो या सेवा – उसे पूरी निष्ठा और ईमानदारी से करें। कर्म करते समय यह भावना रखें कि मैं यह कर्म परमात्मा की सेवा के रूप में कर रहा हूं। परिणाम की चिंता न करें, केवल अपना कर्तव्य पूरा करें। यदि सफलता मिले तो अहंकार न करें, यदि असफलता मिले तो निराश न हों। दोनों स्थितियों में समान रहें। यह समत्व भाव ही कर्मयोग का प्राण है।

4.11.2 कर्म के प्रति दृष्टिकोण :कर्मयोग में कर्म छोड़ना नहीं है, बल्कि कर्म के प्रति दृष्टिकोण बदलना है। जब हम कर्म को भार समझते हैं तो वह दुखदायी होता है, किंतु जब हम उसे सेवा समझते हैं तो वही कर्म आनंददायी बन जाता है। कर्मयोग का व्यावहारिक अर्थ यह भी है कि हम अपने प्रत्येक कर्म में उत्कृष्टता लाने का प्रयास करें। आलस्य, लापरवाही और अधूरा कर्म करना कर्मयोग नहीं है। कर्मयोगी अपने कर्म को पूर्ण समर्पण से करता है, वह अपना सर्वश्रेष्ठ देने का प्रयास करता है। साथ ही वह यह भी जानता है कि परिणाम उसके हाथ में नहीं है।

4.11.3 जीवन को सरल बनाना :कर्मयोग हमें सिखाता है कि असफलता कोई पाप नहीं है, किंतु प्रयास न करना पाप है। जो व्यक्ति कर्मयोग के अनुसार जीवन जीता है, वह कभी तनाव में नहीं रहता क्योंकि वह जानता है कि उसका कर्तव्य केवल कर्म करना है, फल देना परमात्मा का काम है। यह दृष्टिकोण जीवन को सरल, शांत और आनंदमय बना देता है।

बोध प्रश्न

निष्काम कर्म और सकाम कर्म में क्या अंतर है? निष्काम कर्म मुक्ति का साधन कैसे बनता है?

4.12 अध्याय का उपसंहार और संदेश

गीता का चौथा अध्याय अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों मार्गों का समन्वय मिलता है। श्रीकृष्ण इस अध्याय में स्पष्ट करते हैं कि ये तीनों मार्ग अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने वाले विभिन्न साधन हैं। कर्म ज्ञान से युक्त होना चाहिए, ज्ञान भक्ति से सुशोभित होना चाहिए, और भक्ति कर्म में प्रकट होनी चाहिए। यही संपूर्ण साधना है। इस अध्याय का मुख्य संदेश यह है कि मनुष्य को कर्म से भागना नहीं चाहिए, बल्कि कर्म को योग बनाना चाहिए। कर्म त्याग नहीं, कर्म फल त्याग साधना का मार्ग है।

4.12.1 अध्याय का मुख्य संदेश :श्रीकृष्ण अध्याय के अंत में कहते हैं कि हे भरतवंशी अर्जुन! इसलिए अज्ञान से उत्पन्न हुए हृदय स्थित इस संशय को ज्ञान रूपी तलवार से काटकर योग में स्थित हो जा और युद्ध के लिए खड़ा हो जा। यह संदेश केवल अर्जुन के लिए नहीं, बल्कि हम सभी के लिए है। हम सभी के जीवन में कोई न कोई 'शुद्ध' है – कर्तव्य और स्वार्थ का युद्ध, धर्म और अधर्म का युद्ध, ज्ञान और अज्ञान का युद्ध। इस युद्ध में हमें संशय को त्यागकर, ज्ञान के प्रकाश में, निष्काम भाव से अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए।

4.12.2 साधारण जीवन में आध्यात्मिकता :इस अध्याय का सबसे महत्वपूर्ण संदेश यह है कि साधारण जीवन जीते हुए भी आध्यात्मिक उन्नति संभव है। हमें संन्यास लेने की आवश्यकता नहीं है, हमें केवल अपने दृष्टिकोण को बदलने की आवश्यकता है। प्रत्येक कर्म को यज्ञ बनाया जा सकता है, प्रत्येक क्षण को साधना बनाया जा सकता है। जीवन और साधना अलग नहीं हैं, जीवन ही साधना है जब हम उसे सही दृष्टि से देखें। यही इस अध्याय का शाश्वत संदेश है जो आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना पांच हजार वर्ष पूर्व था।

4.13 बोध प्रश्न

प्रश्न-1 : यज्ञ का क्या अर्थ है? गीता के चौथे अध्याय में वर्णित विभिन्न प्रकार के यज्ञों का विस्तार से वर्णन कीजिए। यज्ञ का व्यावहारिक जीवन में क्या महत्व है?

प्रश्न-2: कर्म, अकर्म और विकर्म में क्या अंतर है? श्रीकृष्ण ने 'कर्म में अकर्म देखने' को क्यों महत्वपूर्ण बताया है? इसका व्यावहारिक जीवन में क्या अनुप्रयोग है?

संरचना

- 5.1 प्रस्तावना
- 5.2 यज्ञभोक्ता परमपुरुष
- 5.3 संन्यास का स्वरूप
- 5.4 कर्मयोग और संन्यास में तुलना
- 5.5 संन्यास में कर्म की उपादेयता
- 5.6 संन्यासी की पहचान
- 5.7 ब्रह्म में स्थिति और समत्व भाव
- 5.8 आत्मान और निर्लिप्तता
- 5.9 योगी का जीवन और आचरण
- 5.10 इंद्रिय संयम और मन की शांति
- 5.11 मोक्ष का मार्ग और साधन
- 5.12 ब्रह्मनिर्वाण और परम शांति
- 5.13 अध्याय का उपसंहार और संदेश
- 5.14 बोध प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

भगवद्गीता का पांचवां अध्याय कर्म-संन्यास योग के नाम से जाना जाता है। यह अध्याय अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें संन्यास के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। अर्जुन चौथे अध्याय में ज्ञान और कर्म के विषय में श्रीकृष्ण का उपदेश सुनकर कुछ भ्रमित हो जाता है। उसके मन में यह प्रश्न-उठता है कि आखिर कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है – कर्मयोग या संन्यास? वह श्रीकृष्ण से स्पष्ट निर्णय चाहता है कि दोनों में से कौन सा मार्ग उसके लिए अधिक कल्याणकारी होगा। इस प्रश्न-के उत्तर में श्रीकृष्ण पांचवें अध्याय का प्रारंभ करते हैं।

इस अध्याय में श्रीकृष्ण बताते हैं कि संन्यास और कर्मयोग दोनों ही मोक्ष की ओर ले जाने वाले मार्ग हैं, किंतु दोनों में कर्मयोग अधिक सुगम और व्यावहारिक है। संन्यास का अर्थ केवल बाहरी कर्मों का त्याग नहीं है, बल्कि आंतरिक आसक्ति का त्याग है। जो व्यक्ति कर्म करते हुए भी कर्म फल में आसक्त नहीं होता, वही वास्तविक संन्यासी है। यह अध्याय हमें सिखाता है कि हम कर्म करते हुए भी संन्यासी बन सकते हैं, हमें जंगल में जाने की आवश्यकता नहीं है। मन की स्थिति ही वास्तविक संन्यास है, न कि बाहरी वेशभूषा या परिस्थिति।

श्रीकृष्ण इस अध्याय में यह भी स्पष्ट करते हैं कि ज्ञानी और कर्मयोगी में कोई अंतर नहीं है। दोनों एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं – परम शांति और मोक्ष की प्राप्ति। जो व्यक्ति ब्रह्म को जान लेता है, वह सभी

प्राणियों में समान भाव रखता है। उसके लिए सुख-दुख, मान-अपमान, सोना-मिट्टी सब एक समान हो जाते हैं। यह समत्व भाव ही योग है और यही मुक्ति का मार्ग है। इस अध्याय का अध्ययन करके साधक यह समझ जाता है कि संन्यास कोई भागने का मार्ग नहीं है, बल्कि कर्म करते हुए आंतरिक मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग है।

5.2 यज्ञभोक्ता परमपुरुष

श्रीकृष्ण इस अध्याय के अंत में परमपुरुष के स्वरूप का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति मुझे सभी यज्ञों और तपों का भोक्ता, संपूर्ण लोकों का महान ईश्वर और सभी प्राणियों का सुहृद जानकर मुझे तत्व से जान लेता है, वह शांति को प्राप्त हो जाता है। यह ज्ञान अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह हमें परमात्मा के तीन मुख्य स्वरूपों से परिचित कराता है। प्रथम, परमात्मा सभी यज्ञों और तपों का भोक्ता है। जब हम कोई यज्ञ, तप या साधना करते हैं, तो उसका फल देने वाला परमात्मा ही है। हमारी सभी पूजा-अर्चना, सभी साधना परमात्मा तक ही पहुंचती है और वही उसे स्वीकार करता है।

द्वितीय, परमात्मा संपूर्ण लोकों का महान ईश्वर है। सृष्टि के सभी लोक, सभी विश्व, सभी ब्रह्मांड उसी की सत्ता में स्थित हैं। वही सबका स्वामी है, सबका नियंता है। कोई भी वस्तु, कोई भी प्राणी उसकी इच्छा के बिना कुछ नहीं कर सकता। यह ज्ञान हमें विनम्र बनाता है और हमारे अहंकार को दूर करता है। जब हम समझ लेते हैं कि सब कुछ परमात्मा का है, तो हम किसी वस्तु पर अपना अधिकार नहीं जताते। यह समझ ममता और आसक्ति को समाप्त कर देती है।

तृतीय और सबसे सुंदर बात यह है कि परमात्मा सभी प्राणियों का सुहृद अर्थात् निस्वार्थ मित्र है। सुहृद वह मित्र होता है जो बिना किसी स्वार्थ के, बिना किसी अपेक्षा के केवल हमारे हित की कामना करता है। परमात्मा भी हमसे कुछ नहीं चाहता, वह केवल हमारा कल्याण चाहता है। वह सदैव हमारी रक्षा करने के लिए तैयार रहता है। जब हम इस सत्य को जान लेते हैं कि परमात्मा हमारा सच्चा मित्र है, तो हमारे सभी भय समाप्त हो जाते हैं। हम यह समझ लेते हैं कि हम अकेले नहीं हैं, परमात्मा सदैव हमारे साथ है।

यह त्रिविध ज्ञान — परमात्मा यज्ञभोक्ता है, महान ईश्वर है और सुहृद है — जब साधक के हृदय में दृढ़ हो जाता है, तो उसे परम शांति की प्राप्ति होती है। वह सभी चिंताओं से मुक्त हो जाता है। उसे यह विश्वास हो जाता है कि जो कुछ भी हो रहा है, परमात्मा की इच्छा से हो रहा है और हमारे हित के लिए ही हो रहा है। यह विश्वास जीवन को सरल और आनंदमय बना देता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह ज्ञान प्राप्त करके साधक ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होता है, अर्थात् वह परम शांति में स्थित हो जाता है और संसार के सभी बंधनों से मुक्त हो जाता है।

5.3 संन्यास का स्वरूप

संन्यास शब्द सुनते ही सामान्यतः लोगों के मन में यह विचार आता है कि घर-परिवार छोड़कर, गेरुआ वस्त्र धारण करके जंगल में चले जाना ही संन्यास है। किंतु भगवद्गीता में संन्यास का अर्थ इससे बहुत गहरा और व्यापक है। गीता के अनुसार संन्यास एक आंतरिक स्थिति है, न कि बाहरी परिस्थिति। संन्यास का वास्तविक अर्थ है आसक्ति का त्याग, कामना का त्याग, और अहंकार का त्याग। जो व्यक्ति कर्म करते हुए भी कर्म फल में आसक्त नहीं है, जो किसी भी वस्तु या व्यक्ति के प्रति ममता नहीं रखता, जो यह नहीं सोचता कि मैं कर्ता हूँ, वही वास्तविक संन्यासी है।

5.3.1 आंतरिक संन्यास : गीता में दो प्रकार के संन्यास का वर्णन है — कर्म संन्यास और कर्म फल संन्यास। कर्म संन्यास का अर्थ है सभी कर्मों का त्याग कर देना। यह मार्ग अत्यंत कठिन है और बहुत कम लोगों के लिए उपयुक्त है। कर्म फल संन्यास का अर्थ है कर्म तो करना किंतु उसके फल में आसक्त न होना। यह मार्ग अधिक

व्यावहारिक और सरल है। श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं कि दोनों मार्ग मोक्ष की ओर ले जाते हैं, किंतु कर्म फल संन्यास अर्थात् कर्मयोग अधिक श्रेष्ठ है।

5.3.2 वास्तविक संन्यासी की परिभाषा : संन्यासी वह नहीं है जो केवल अग्नि और क्रियाओं का त्याग कर देता है। संन्यासी वह है जिसने संकल्प का त्याग कर दिया है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो व्यक्ति बिना संकल्प के कर्म करता है, वही योगी है और वही संन्यासी है। संकल्प का अर्थ है मन में यह दृढ़ निश्चय करना कि मुझे यह करना है, मुझे यह पाना है। जब यह संकल्प समाप्त हो जाता है, जब व्यक्ति यह समझ लेता है कि सब कुछ परमात्मा की इच्छा से हो रहा है, तब वह सच्चा संन्यासी बन जाता है।

5.3.3 संन्यास और गृहस्थ जीवन : गीता का संन्यास गृहस्थ जीवन के विरोध में नहीं है। एक गृहस्थ व्यक्ति भी संन्यासी हो सकता है यदि वह आसक्ति रहित होकर अपने कर्तव्यों का पालन करे। वह अपने परिवार का पालन करे, अपने व्यवसाय में लगा रहे, समाज की सेवा करे, किंतु मन में यह भाव रखे कि यह सब मेरा कर्तव्य है, यह परमात्मा की सेवा है। जब यह भावना आ जाती है तो गृहस्थ भी संन्यासी बन जाता है। यही गीता का क्रांतिकारी संदेश है कि हमें संसार छोड़ने की आवश्यकता नहीं है, हमें केवल आसक्ति छोड़नी है।

5.3.4 समत्व भाव ही संन्यास : संन्यास का एक और महत्वपूर्ण पहलू है समत्व भाव। जो व्यक्ति सुख-दुख में, मान-अपमान में, जय-पराजय में समान रहता है, वही सच्चा संन्यासी है। बाहरी परिस्थितियां उसे विचलित नहीं कर सकतीं। वह जानता है कि यह सब आते-जाते रहते हैं, स्थायी कुछ भी नहीं है। केवल आत्मा और परमात्मा ही नित्य हैं, बाकी सब परिवर्तनशील है। यह ज्ञान उसे सभी परिस्थितियों में शांत रखता है। इस प्रकार गीता का संन्यास जीवन का एक सकारात्मक दर्शन है जो हमें संसार में रहते हुए भी मुक्त रहना सिखाता है।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: परमात्मा के तीन स्वरूप कौन से हैं जिनका वर्णन श्रीकृष्ण ने किया है? इन्हें जानने से क्या लाभ होता है?

5.4 कर्मयोग और संन्यास में तुलना

अर्जुन के प्रश्न—के उत्तर में श्रीकृष्ण कर्मयोग और संन्यास की तुलना करते हैं। वे कहते हैं कि संन्यास और कर्मयोग दोनों ही परम कल्याण करने वाले हैं, किंतु इन दोनों में कर्मयोग संन्यास से श्रेष्ठ है। यह कथन बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह स्पष्ट करता है कि गीता कर्म विरोधी नहीं है। गीता का संदेश यह है कि कर्म करो, किंतु आसक्ति रहित होकर करो। संन्यास अर्थात् कर्मों का पूर्ण त्याग बहुत कठिन मार्ग है। जो व्यक्ति कर्म किए बिना ही ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, वह महान कष्ट को प्राप्त होता है।

5.4.1 कर्मयोग की श्रेष्ठता : कर्मयोग श्रेष्ठ है क्योंकि यह अधिक व्यावहारिक है। मनुष्य की प्रकृति ही कर्म करने की है। क्षण भर भी कोई व्यक्ति बिना कर्म किए नहीं रह सकता। यहां तक कि श्वास लेना भी एक कर्म है। इसलिए कर्म से भागना संभव नहीं है। समझदारी इसी में है कि हम कर्म को ही साधना बना लें। जब हम कर्म को यज्ञ बनाकर, परमात्मा को समर्पित करके करते हैं, तो वही कर्म हमें मुक्ति की ओर ले जाता है। कर्मयोग में कर्म छोड़ना नहीं है, बल्कि कर्म के प्रति दृष्टिकोण बदलना है।

5.4.2 संन्यास की कठिनाई : संन्यास मार्ग कठिन है क्योंकि इसमें सभी कर्मों का त्याग करना पड़ता है। किंतु बिना कर्म किए चित्त की शुद्धि कैसे होगी? बिना चित्त शुद्धि के ज्ञान कैसे होगा? इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म करते हुए ही चित्त शुद्ध होता है और ज्ञान प्राप्त होता है। जो व्यक्ति कर्म योग से युक्त होकर शुद्धात्मा बन जाता है, जिसने इंद्रियों को जीत लिया है और सभी प्राणियों के आत्मा को अपना आत्मा बना लिया है, वह कर्म

करते हुए भी लिप्त नहीं होता।

5.4.3 दोनों का अंतिम लक्ष्य एक : यद्यपि कर्मयोग और संन्यास दो अलग मार्ग दिखते हैं, किंतु दोनों का अंतिम लक्ष्य एक ही है — मोक्ष की प्राप्ति। संन्यास और कर्मयोग जिस स्थान को प्राप्त कराते हैं, वह एक ही है। जो व्यक्ति संन्यास और कर्मयोग को एक देखता है, वही सही देखता है। अज्ञानी लोग ही इन दोनों को भिन्न मानते हैं। ज्ञानी जानता है कि दोनों मार्ग अलग-अलग होते हुए भी एक ही मंजिल की ओर ले जाते हैं। इसलिए साधक को चाहिए कि वह अपनी प्रकृति और परिस्थिति के अनुसार किसी एक मार्ग को चुने और उस पर दृढ़ता से चले।

5.4.4 कर्मयोग का सुगम मार्ग : श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं कि कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। जो व्यक्ति कर्म करते हुए भी आसक्त नहीं है, जो कर्म फल को परमात्मा पर छोड़ देता है, वह पाप से लिप्त नहीं होता, जैसे कमल का पत्ता जल से लिप्त नहीं होता। यह उपमा बहुत सुंदर है। कमल का पत्ता जल में रहता है, जल से ही उसका पोषण होता है, किंतु जल उसे छूता नहीं। वैसे ही कर्मयोगी संसार में रहता है, कर्म करता है, किंतु कर्म उसे बांधते नहीं। यही कर्मयोग की सुंदरता है और यही इसकी श्रेष्ठता का कारण है। यह एक बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न—है जो संन्यास के बारे में प्रचलित भ्रांतियों को दूर करता है। सामान्यतः लोग समझते हैं कि संन्यास का अर्थ है सभी कर्मों का त्याग। किंतु भगवद्गीता में श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं कि संन्यास में भी कर्म की बहुत आवश्यकता है। वास्तव में बिना कर्म के संन्यास संभव ही नहीं है। कर्म के बिना न तो चित्त की शुद्धि होती है और न ज्ञान की प्राप्ति। कर्म करते-करते ही साधक धीरे-धीरे उस स्थिति को प्राप्त होता है जहां वह कर्ता भाव से मुक्त हो जाता है। यह एक क्रमिक प्रक्रिया है जिसमें कर्म की महत्वपूर्ण भूमिका है।

सबसे पहले, संन्यास की पहली सीढ़ी है चित्त की शुद्धि। जब तक चित्त शुद्ध नहीं होता, तब तक ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। चित्त में मल होने से, विकार होने से ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता। चित्त की शुद्धि निष्काम कर्म से होती है। जब हम बिना फल की इच्छा के, केवल कर्तव्य भावना से कर्म करते हैं, तो हमारे चित्त की मल धीरे-धीरे दूर होती जाती है। स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार जैसे विकार समाप्त होने लगते हैं। चित्त निर्मल होने पर उसमें ज्ञान का प्रकाश स्वतः ही प्रकट हो जाता है, जैसे स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिंब स्पष्ट दिखता है। इसलिए कर्म संन्यास का आधार है, विरोधी नहीं। दूसरा, संन्यास में इंद्रिय संयम अत्यंत आवश्यक है। किंतु इंद्रियों को केवल दबाने से संयम नहीं आता। इंद्रियों को सही दिशा में लगाना, उन्हें सात्विक कर्मों में व्यस्त रखना ही वास्तविक संयम है। जब इंद्रियां पवित्र कर्मों में लगी रहती हैं, तो वे विषयों की ओर नहीं दौड़तीं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो व्यक्ति इंद्रियों को बलपूर्वक रोकने का प्रयास करता है किंतु मन से उन विषयों का चिंतन करता रहता है, वह मिथ्याचारी है।

वास्तविक संन्यासी वह है जो इंद्रियों को कर्म में लगाए रखता है किंतु आसक्ति नहीं रखता। इस प्रकार कर्म इंद्रिय संयम का साधन है। संन्यास का एक मुख्य उद्देश्य है अहंकार का नाश। अहंकार तभी नष्ट होता है जब हम यह समझ लें कि हम कर्ता नहीं हैं। यह समझ केवल बौद्धिक ज्ञान से नहीं आती, बल्कि कर्म करते-करते आती है। जब हम निष्काम भाव से कर्म करते हैं और देखते हैं कि परिणाम हमारे नियंत्रण में नहीं है, कभी हमारे प्रयास के अनुसार फल मिलता है और कभी नहीं मिलता, तो धीरे-धीरे यह बोध होता है कि वास्तविक कर्ता परमात्मा है, हम तो केवल निमित्त हैं। यह बोध अहंकार को समाप्त कर देता है। इसलिए कर्म अहंकार नाश का साधन है। संन्यास का अंतिम लक्ष्य है आत्मान की प्राप्ति। आत्मान भी कर्म के माध्यम से ही प्राप्त होता है। जब हम निष्काम कर्म करते हैं, तो चित्त शुद्ध होता है। शुद्ध चित्त में ज्ञान का उदय होता है। यह ज्ञान हमें बताता है कि हम शरीर नहीं, मन नहीं, बल्कि शुद्ध चैतन्य आत्मा हैं। जब यह ज्ञान दृढ़ हो जाता है, तब व्यक्ति वास्तविक संन्यासी बन जाता है। वह कर्म करते हुए भी अकर्ता रहता है। इस प्रकार कर्म ज्ञान प्राप्ति का साधन है।

कर्म और ज्ञान का संबंध बहुत गहरा है। कर्म ज्ञान का साधन है और ज्ञान कर्म को पूर्णता देता है। बिना कर्म के ज्ञान नहीं हो सकता और बिना ज्ञान के कर्म अपूर्ण रहता है। जब कर्म और ज्ञान दोनों मिल जाते हैं, तो मोक्ष की प्राप्ति होती है। कर्म चित्त को शुद्ध करता है और ज्ञान को प्रकट करता है। ज्ञान कर्म को निष्काम बनाता है और उसे बंधन का कारण बनने से रोकता है। इसलिए श्रीकृष्ण बार-बार कहते हैं कि कर्म और ज्ञान दोनों आवश्यक हैं। केवल कर्म करने से या केवल ज्ञान की बातें करने से मोक्ष नहीं मिलता। कर्म और ज्ञान का समन्वय ही मोक्ष का मार्ग है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बिना कर्म के संन्यास संभव नहीं है। जो व्यक्ति केवल बाहरी कर्मों का त्याग करके बैठ जाता है किंतु चित्त शुद्धि, इंद्रिय संयम, अहंकार नाश और ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रयास नहीं करता, वह वास्तविक संन्यासी नहीं है। वास्तविक संन्यासी वह है जो कर्म करते हुए भी आसक्ति रहित है, जो कर्म को साधना का माध्यम बनाता है। यही गीता का संदेश है और यही व्यावहारिक संन्यास है।

5.5 संन्यास में कर्म की उपादेयता

यह विषय अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे एक बहुत बड़ी भ्रांति दूर होती है। सामान्यतः लोग समझते हैं कि संन्यास का अर्थ है कर्म छोड़ देना। किंतु गीता में श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं कि संन्यास में भी कर्म की बहुत आवश्यकता है। वास्तव में बिना कर्म के संन्यास संभव ही नहीं है। कर्म के बिना न तो चित्त की शुद्धि होती है और न ज्ञान की प्राप्ति। कर्म करते-करते ही साधक धीरे-धीरे उस स्थिति को प्राप्त होता है जहां वह कर्ता भाव से मुक्त हो जाता है। यह एक क्रमिक प्रक्रिया है जिसमें कर्म की महत्वपूर्ण भूमिका है।

5.5.1 चित्त शुद्धि के लिए कर्म : संन्यास की पहली सीढ़ी है चित्त की शुद्धि। जब तक चित्त शुद्ध नहीं होता, तब तक ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। चित्त की शुद्धि निष्काम कर्म से होती है। जब हम बिना फल की इच्छा के, केवल कर्तव्य भावना से कर्म करते हैं, तो हमारे चित्त की मल धीरे-धीरे दूर होती जाती है। स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार जैसे विकार समाप्त होने लगते हैं। चित्त निर्मल होने पर उसमें ज्ञान का प्रकाश स्वतः ही प्रकट हो जाता है। इसलिए कर्म संन्यास का आधार है, विरोधी नहीं।

5.5.2 इंद्रिय संयम के लिए कर्म : संन्यास में इंद्रिय संयम अत्यंत आवश्यक है। किंतु इंद्रियों को केवल दबाने से संयम नहीं आता। इंद्रियों को सही दिशा में लगाना, उन्हें सात्विक कर्मों में व्यस्त रखना ही वास्तविक संयम है। जब इंद्रियां पवित्र कर्मों में लगी रहती हैं, तो वे विषयों की ओर नहीं दौड़तीं। इसलिए कर्म इंद्रिय संयम का साधन है। जो व्यक्ति इंद्रियों को बलपूर्वक रोकने का प्रयास करता है, वह मन से उन विषयों का चिंतन करता रहता है। ऐसा मिथ्याचारी कहलाता है। वास्तविक संन्यासी वह है जो इंद्रियों को कर्म में लगाए रखता है किंतु आसक्ति नहीं रखता।

5.5.3 अहंकार नाश के लिए कर्म : संन्यास का एक मुख्य उद्देश्य है अहंकार का नाश। अहंकार तभी नष्ट होता है जब हम यह समझ लें कि हम कर्ता नहीं हैं। यह समझ केवल बौद्धिक ज्ञान से नहीं आती, बल्कि कर्म करते-करते आती है। जब हम निष्काम भाव से कर्म करते हैं और देखते हैं कि परिणाम हमारे नियंत्रण में नहीं है, तो धीरे-धीरे यह बोध होता है कि वास्तविक कर्ता परमात्मा है, हम तो केवल निमित्त हैं। यह बोध अहंकार को समाप्त कर देता है। इसलिए कर्म संन्यास का विरोधी नहीं, बल्कि सहायक है।

5.5.4 आत्मान के लिए कर्म : अंतिम लक्ष्य है आत्मान की प्राप्ति। आत्मान भी कर्म के माध्यम से ही प्राप्त होता है। जब हम निष्काम कर्म करते हैं, तो चित्त शुद्ध होता है। शुद्ध चित्त में ज्ञान का उदय होता है। यह ज्ञान हमें बताता है कि हम शरीर नहीं, मन नहीं, बल्कि शुद्ध चैतन्य आत्मा हैं। जब यह ज्ञान दृढ़ हो जाता है, तब व्यक्ति वास्तविक संन्यासी बन जाता है। वह कर्म करते हुए भी अकर्ता रहता है। इस प्रकार कर्म संन्यास की नींव है। बिना कर्म के संन्यास एक कल्पना मात्र है, वास्तविकता नहीं। श्रीकृष्ण इसीलिए बार-बार कर्म की महत्ता पर

बल देते हैं।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: कर्मयोग को संन्यास से श्रेष्ठ क्यों माना गया है? दोनों में क्या समानता है?

5.6 संन्यासी की पहचान

श्रीकृष्ण इस अध्याय में सच्चे संन्यासी की विशेषताओं का सुंदर वर्णन करते हैं। यह जानना अत्यंत आवश्यक है कि वास्तविक संन्यासी कैसा होता है, क्योंकि बाहरी वेशभूषा से कोई संन्यासी नहीं बन जाता। सच्चा संन्यास आंतरिक भाव है, बाहरी दिखावा नहीं। सबसे पहली और महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि सच्चा संन्यासी न किसी से द्वेष करता है और न किसी की कामना करता है। उसके मन में किसी भी प्राणी के प्रति शत्रुता या घृणा नहीं होती। वह सबको समान भाव से देखता है। साथ ही, उसके मन में कोई इच्छा या कामना नहीं होती। वह जो मिल जाता है उसमें संतुष्ट रहता है। यह द्वंद्व रहित स्थिति ही वास्तविक संन्यास है। सच्चे संन्यासी की पहचान बाहरी वेशभूषा या परिस्थिति से नहीं, बल्कि उसकी आंतरिक स्थिति से होती है। श्रीकृष्ण गीता के पांचवें अध्याय में सच्चे संन्यासी की विशेषताओं का सुंदर वर्णन करते हैं। सबसे पहली और महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि सच्चा संन्यासी न किसी से द्वेष करता है और न किसी की कामना करता है। उसके मन में किसी भी प्राणी के प्रति शत्रुता या घृणा नहीं होती। वह सबको समान भाव से देखता है। साथ ही, उसके मन में कोई इच्छा या कामना नहीं होती। वह जो मिल जाता है उसमें संतुष्ट रहता है। यह द्वंद्व रहित स्थिति ही वास्तविक संन्यास है।

दूसरी विशेषता है समत्व भाव। सच्चा संन्यासी सुख—दुख, शीत—उष्ण, मान—अपमान आदि सभी द्वंद्वों से मुक्त होता है। ये सभी द्वंद्व उसे विचलित नहीं कर सकते। वह जानता है कि ये सब शरीर और मन के धर्म हैं। 5.9.4 निरंतर ध्यान में स्थिति : योगी सदैव ध्यान में स्थित रहता है। उसकी बुद्धि परमात्मा में लगी रहती है, उसका मन परमात्मा में स्थित रहता है। वह परमात्मा में ही निष्ठा रखता है और परमात्मा को ही परम लक्ष्य मानता है। ज्ञान द्वारा पापों का नाश होने पर ऐसे योगी अपुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं अर्थात् वे पुनः जन्म—मरण के चक्र में नहीं आते। यह योगी का जीवन आदर्श है। बाहर से वह सामान्य जीवन जीता है, किंतु भीतर से वह परमात्मा में लीन रहता है। यही गीता का व्यावहारिक संदेश है कि हम संसार में रहकर भी परमात्मा में स्थित रह सकते हैं।

5.6.1 समत्व भाव में स्थिति : सच्चा संन्यासी सुख—दुख, शीत—उष्ण, मान—अपमान आदि सभी द्वंद्वों से मुक्त होता है। ये सभी द्वंद्व उसे विचलित नहीं कर सकते। वह जानता है कि ये सब शरीर और मन के धर्म हैं, आत्मा का नहीं। आत्मा तो सदा एक समान रहती है। यह ज्ञान उसे सभी परिस्थितियों में शांत रखता है। चाहे कोई उसकी प्रशंसा करे या निंदा, चाहे सफलता मिले या असफलता, वह समान भाव रहता है। यह समत्व भाव ही योग है और यही संन्यास का लक्षण है।

5.6.2 निर्लिप्तता में स्थिति : सच्चा संन्यासी कर्म करते हुए भी निर्लिप्त रहता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो योगी ब्रह्म में आसक्ति रखता है और कर्मों में आसक्ति का त्याग कर देता है, वह पाप से लिप्त नहीं होता। वह मन, बुद्धि, इंद्रियों और शरीर से भी आसक्ति रहित होकर केवल आत्मशुद्धि के लिए कर्म करता है। यह निर्लिप्तता कोई उदासीनता नहीं है। संन्यासी पूरी तत्परता से कर्म करता है, किंतु कर्म में या कर्म फल में आसक्त नहीं होता। वह जानता है कि यह शरीर, मन, इंद्रियां सब प्रकृति के हैं, आत्मा तो केवल साक्षी है।

5.6.3 आत्मान में स्थिति :सच्चे संन्यासी की सबसे बड़ी पहचान है उसका आत्मान। वह जानता है कि मैं कुछ नहीं करता। देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ और ग्रहण करता हुआ भी वह यही समझता है कि इंद्रियां इंद्रियों के विषयों में बर्ताव कर रही हैं। यह ज्ञान उसे सभी कर्मों से मुक्त रख देता है। वह कर्म करते हुए भी अकर्ता रहता है। यही वास्तविक संन्यास है।

5.6.4 ब्रह्म में स्थिति :सच्चा संन्यासी सदैव ब्रह्म में स्थित रहता है। उसका मन परमात्मा में लगा रहता है। बाहर से वह कर्म करता दिखता है, किंतु भीतर से वह सदा परमात्मा के चिंतन में लीन रहता है। यह स्थिति उसे अद्भुत शांति देती है। संसार के सभी उतार-चढ़ाव उसके लिए एक खेल के समान हो जाते हैं। वह जानता है कि वास्तविकता तो केवल ब्रह्म है, बाकी सब मिथ्या है। यह ज्ञान उसे संसार के सभी बंधनों से मुक्त कर देता है। ऐसा संन्यासी ही ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होता है और परम शांति में स्थित हो जाता है।

5.7 ब्रह्म में स्थिति और समत्व भाव

ब्रह्म में स्थिति गीता का एक मूलभूत विषय है। ब्रह्म का अर्थ है वह परम सत्य, वह शाश्वत तत्व जो सबमें व्याप्त है, जो कभी बदलता नहीं। जब साधक इस सत्य को जान लेता है और इस ज्ञान में स्थित हो जाता है, तो उसे ब्रह्म में स्थिति कहते हैं। ब्रह्म में स्थित होने का अर्थ है यह जानना कि मैं ब्रह्म हूँ, सब कुछ ब्रह्म है, और ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जब यह ज्ञान साधक के हृदय में दृढ़ हो जाता है, तो वह सभी भेदों से परे चला जाता है। उसके लिए फिर कोई अपना-पराया नहीं रहता, कोई मित्र-शत्रु नहीं रहता। सब एक ही ब्रह्म के विभिन्न रूप दिखाई देते हैं।

5.7.1 ब्रह्म ज्ञान का महत्व :ब्रह्म को जानने वाला व्यक्ति पुनः मोह को प्राप्त नहीं होता। जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि सब कुछ ब्रह्म ही है, तो फिर किस वस्तु की कामना करे? किस वस्तु से मोह करे? सब कुछ तो उसका अपना ही स्वरूप है। यह ज्ञान सभी कामनाओं और मोहों को समाप्त कर देता है। ऐसा व्यक्ति ब्रह्मनिर्वाण में स्थित हो जाता है अर्थात् ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। उसके लिए जीवन और मरण में कोई अंतर नहीं रहता, क्योंकि वह जानता है कि आत्मा अमर है, केवल शरीर बदलता है।

5.7.2 समत्व भाव की प्राप्ति :ब्रह्म में स्थित होने पर स्वतः ही समत्व भाव आ जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ब्रह्म को जानने वाला विद्वान् पंडित में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में और चांडाल में भी समान भाव रखता है। यह कथन बहुत क्रांतिकारी है। यह सभी सामाजिक भेदभावों को समाप्त कर देता है। जब हम सबमें एक ही ब्रह्म को देखते हैं, तो फिर कोई ऊंच-नीच कैसे रह सकता है? यह समदर्शिता ही वास्तविक ज्ञान है और यही मुक्ति का मार्ग है।

5.7.3 सांसारिक जीवन में समत्व :समत्व भाव केवल दार्शनिक अवधारणा नहीं है, बल्कि यह व्यावहारिक जीवन में भी लागू होता है। जो व्यक्ति समत्व भाव में स्थित है, वह सुख में प्रसन्न नहीं होता और दुख में दुखी नहीं होता। वह जानता है कि सुख-दुख तो शरीर और मन के धर्म हैं, ये आते-जाते रहते हैं। आत्मा तो सदा शांत और आनंदमय है। यह ज्ञान उसे सभी परिस्थितियों में संतुलित रखता है। वह न तो प्रशंसा से फूलता है और न निंदा से सिकुड़ता है। दोनों स्थितियों में वह समान रहता है।

5.7.4 समत्व से मुक्ति :श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिन्होंने समत्व भाव प्राप्त कर लिया है, उन्होंने इसी जीवन में संसार को जीत लिया है। ऐसे लोग ब्रह्म में स्थित हो जाते हैं क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और समान है। यह कथन बहुत महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ है कि मुक्ति के लिए मरने की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। जीवित

रहते हुए ही समत्व भाव प्राप्त करके मुक्ति पाई जा सकती है। यही जीवन मुक्ति है। ऐसा व्यक्ति संसार में रहते हुए भी संसार से मुक्त हो जाता है। यही गीता का अद्भुत संदेश है।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: सच्चे संन्यासी की मुख्य विशेषताएं क्या हैं? बाहरी संन्यासी और आंतरिक संन्यासी में क्या अंतर है?

5.8 आत्मान और निर्लिप्तता

आत्मान गीता का सबसे महत्वपूर्ण विषय है। आत्मान का अर्थ है अपने वास्तविक स्वरूप को जानना। हम कौन हैं? क्या हम यह शरीर हैं? क्या हम यह मन हैं? या हम कुछ और हैं? जब साधक गहराई से इन प्रश्नों पर विचार करता है, तो उसे यह ज्ञान होता है कि मैं न शरीर हूं, न मन, न बुद्धि, न इंद्रियां। मैं शुद्ध चैतन्य आत्मा हूं जो इन सबका साक्षी है। यह आत्मा अजन्मा है, अमर है, शाश्वत है। शरीर नष्ट हो सकता है, किंतु आत्मा कभी नष्ट नहीं होती। यह ज्ञान जब दृढ़ हो जाता है, तो व्यक्ति सभी भयों से मुक्त हो जाता है।

5.8.1 आत्मा का स्वरूप :आत्मा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है। वह सभी विकारों से परे है। क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या ये सब मन के विकार हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा तो सदा शांत और आनंदमय है। जब साधक इस सत्य को जान लेता है, तो उसकी दृष्टि बदल जाती है। वह अपने को विकारों से अलग देखने लगता है। वह समझता है कि विकार तो मन में आते-जाते हैं, मैं तो साक्षी मात्र हूं। यह ज्ञान उसे विकारों से मुक्त कर देता है। वह विकारों से प्रभावित नहीं होता।

5.8.2 निर्लिप्तता का अभ्यास :आत्मान से निर्लिप्तता स्वतः आ जाती है। जब हम जान लेते हैं कि हम कर्ता नहीं हैं, तो कर्म हमें बांधते नहीं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि तत्त्ववित् योगी यह जानता है कि देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, चलते, सोते, श्वास लेते, बोलते, त्यागते और ग्रहण करते हुए भी वह कुछ नहीं करता। वह समझता है कि इंद्रियां ही इंद्रियों के विषयों में बर्ताव कर रही हैं। यह ज्ञान उसे सभी कर्मों से निर्लिप्त रख देता है। वह कर्म करते हुए भी अकर्ता रहता है।

5.8.3 ब्रह्म में आसक्ति :निर्लिप्तता का अर्थ सब कुछ छोड़ देना नहीं है। निर्लिप्तता का अर्थ है संसार में आसक्ति छोड़कर ब्रह्म में आसक्ति रखना। जो व्यक्ति ब्रह्म में आसक्ति रखता है और कर्मों में आसक्ति का त्याग कर देता है, वह पाप से लिप्त नहीं होता। वह जल में कमल के पत्ते की तरह रहता है। कमल का पत्ता जल में रहता है, जल से ही उसका पोषण होता है, किंतु जल उसे छूता नहीं। वैसे ही ज्ञानी संसार में रहता है, कर्म करता है, किंतु कर्म उसे बांधते नहीं।

5.8.4 परम शांति की प्राप्ति :आत्मान और निर्लिप्तता से परम शांति की प्राप्ति होती है। योगी कर्म फल को त्यागकर परम शांति को प्राप्त होता है। जबकि अयोगी व्यक्ति कामना से प्रेरित होकर कर्म फल में आसक्त होने के कारण बंधन को प्राप्त होता है। यह अंतर बहुत महत्वपूर्ण है। दोनों कर्म करते हैं, किंतु एक मुक्त हो जाता है और दूसरा बंध जाता है। अंतर केवल मनोवृत्ति का है। इसलिए गीता कहती है कि बाहरी परिस्थिति नहीं, आंतरिक भाव महत्वपूर्ण है। जो व्यक्ति आत्मान और निर्लिप्तता को प्राप्त कर लेता है, वह जीवन में ही मुक्ति का अनुभव करता है।

5.9 योगी का जीवन और आचरण

योगी का जीवन एक आदर्श जीवन है जो सभी के लिए अनुकरणीय है। योगी वह है जो योग में स्थित है, जो समत्व में स्थित है, जो ब्रह्म में स्थित है। ऐसे योगी का जीवन और आचरण कैसा होता है, इसका सुंदर वर्णन श्रीकृष्ण इस अध्याय में करते हैं। योगी बाहर से सामान्य व्यक्ति की तरह दिखता है, किंतु उसकी आंतरिक स्थिति बिल्कुल अलग होती है। वह संसार में रहता है, कर्म करता है, किंतु संसार से बंधा नहीं होता। उसका जीवन एक सुंदर संतुलन है — बाहर से सक्रिय, भीतर से शांत। यह संतुलन ही योग है।

5.9.1 मन का नियंत्रण :योगी सबसे पहले अपने मन को नियंत्रित करता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मन से सभी कर्मों को समर्पित करके, आशारहित और ममतारहित होकर योगी मन से ही नौ द्वारों वाले शरीर रूपी घर में सुखपूर्वक निवास करता है। वह न तो कर्म करता है और न करवाता है। यह कथन बहुत गहरा है। इसका अर्थ यह है कि योगी मन को इतना नियंत्रित कर लेता है कि मन शांत हो जाता है। शांत मन में कोई विकल्प नहीं उठते। ऐसी स्थिति में योगी शरीर में रहते हुए भी शरीर से परे हो जाता है।

5.9.2 अकर्ता भाव में स्थिति :योगी का सबसे बड़ा गुण है उसका अकर्ता भाव। वह जानता है कि वास्तव में स्वभाव ही सभी कर्मों को करवा रहा है। न तो परमात्मा कर्तृत्व को उत्पन्न करता है, न कर्मों को और न कर्म फल के संयोग को। केवल स्वभाव ही प्रवृत्त होता है। यह ज्ञान योगी को सभी कर्मों से मुक्त रख देता है। वह समझता है कि प्रकृति के तीन गुण — सत्व, रज और तम — ही सभी कर्म करवा रहे हैं। आत्मा तो केवल साक्षी है। यह ज्ञान उसे अहंकार से मुक्त कर देता है।

5.9.3 ज्ञान का प्रकाश :योगी के हृदय में ज्ञान का प्रकाश होता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि परमात्मा न किसी के पाप को ग्रहण करता है और न पुण्य को। ज्ञान अज्ञान से ढका हुआ है, इसी से प्राणी मोहित होते हैं। किंतु जिनका अज्ञान ज्ञान द्वारा नष्ट हो गया है, उनका ज्ञान सूर्य की तरह परमतत्त्व को प्रकाशित कर देता है। योगी का ज्ञान सूर्य के समान प्रकाशमान होता है। यह ज्ञान सभी अंधकार को दूर कर देता है और सत्य को प्रकट कर देता है।

5.9.4 निरंतर ध्यान में स्थिति :योगी सदैव ध्यान में स्थित रहता है। उसकी बुद्धि परमात्मा में लगी रहती है, उसका मन परमात्मा में स्थित रहता है। वह परमात्मा में ही निष्ठा रखता है और परमात्मा को ही परम लक्ष्य मानता है। ज्ञान द्वारा पापों का नाश होने पर ऐसे योगी अप होता है जब हम यह समझ लें कि हम कर्ता नहीं हैं। यह समझ केवल बौद्धिक ज्ञान से नहीं आती, बल्कि कर्म करते-करते आती है। जब हम निष्काम भाव से कर्म करते हैं और देखते हैं कि परिणाम हमारे नियंत्रण में नहीं है, तो धीरे-धीरे यह बोध होता है कि वास्तविक कर्ता परमात्मा है, हम तो केवल निमित्त हैं। यह बोध अहंकार को समाप्त कर देता है। इसलिए क दूसरी विशेषता है समत्व भाव। सच्चा संन्यासी सुख—दुख, शीत—उष्ण, मान—अपमान आदि सभी द्वंद्वों से मुक्त होता है। ये सभी द्वंद्व उसे विचलित नहीं कर सकते। वह जानता है कि ये सब शरीर और मन के धर्म हैं, आत्मा का नहीं। आत्मा तो सदा एक समान रहती है। यह ज्ञान उसे सभी परिस्थितियों में शांत रखता है। चाहे कोई उसकी प्रशंसा करे या निंदा, चाहे सफलता मिले या असफलता, वह समान भाव रहता है। यह समत्व भाव ही योग है और यही संन्यास का लक्षण है।

तीसरी विशेषता है निर्लिप्तता। सच्चा संन्यासी कर्म करते हुए भी निर्लिप्त रहता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो योगी ब्रह्म में आसक्ति रखता है और कर्मों में आसक्ति का त्याग कर देता है, वह पाप से लिप्त नहीं होता। वह मन, बुद्धि, इंद्रियों और शरीर से भी आसक्ति रहित होकर केवल आत्मशुद्धि के लिए कर्म करता है। यह निर्लिप्तता कोई उदासीनता नहीं है। संन्यासी पूरी तत्परता से कर्म करता है, किंतु कर्म में या कर्म फल में आसक्त नहीं होता। वह जानता है कि यह शरीर, मन, इंद्रियां सब प्रकृति के हैं, आत्मा तो केवल साक्षी है।

चौथी विशेषता है आत्मान। सच्चे संन्यासी की सबसे बड़ी पहचान है उसका आत्मान। वह जानता है

कि मैं कुछ नहीं करता। देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ और ग्रहण करता हुआ भी वह यही समझता है कि इंद्रियां इंद्रियों के विषयों में बर्ताव कर रही हैं। यह ज्ञान उसे सभी कर्मों से मुक्त रख देता है। वह कर्म करते हुए भी अकर्ता रहता है। यही वास्तविक संन्यास है।

पांचवीं विशेषता है ब्रह्म में स्थिति। सच्चा संन्यासी सदैव ब्रह्म में स्थित रहता है। उसका मन परमात्मा में लगा रहता है। बाहर से वह कर्म करता दिखता है, किंतु भीतर से वह सदा परमात्मा के चिंतन में लीन रहता है। यह स्थिति उसे अद्भुत शांति देती है। संसार के सभी उतार-चढ़ाव उसके लिए एक खेल के समान हो जाते हैं। वह जानता है कि वास्तविकता तो केवल ब्रह्म है, बाकी सब मिथ्या है। यह ज्ञान उसे संसार के सभी बंधनों से मुक्त कर देता है।

ब्रह्म में स्थित व्यक्ति का जीवन और आचरण अद्भुत होता है। वह बाहर से सामान्य व्यक्ति की तरह दिखता है, किंतु उसकी आंतरिक स्थिति बिल्कुल अलग होती है। वह संसार में रहता है, कर्म करता है, किंतु संसार से बंधा नहीं होता। उसका जीवन एक सुंदर संतुलन है — बाहर से सक्रिय, भीतर से शांत। वह सभी प्राणियों में एक ही ब्रह्म को देखता है। इसलिए उसके लिए कोई अपना-पराया नहीं रहता। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ब्रह्म को जानने वाला विद्वान पंडित में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में और चांडाल में भी समान भाव रखता है। यह समदर्शिता उसकी सबसे बड़ी पहचान है।

ब्रह्म में स्थित व्यक्ति का मन सदा शांत रहता है। बाहरी परिस्थितियां उसे विचलित नहीं कर सकती। वह न तो सुख से प्रसन्न होता है और न दुख से दुखी। वह न प्रशंसा से फूलता है और न निंदा से सिकुड़ता है। दोनों स्थितियों में वह समान रहता है। यह समत्व उसकी ब्रह्म में स्थिति का प्रमाण है। उसका आचरण सात्विक होता है। वह सत्य बोलता है, अहिंसा का पालन करता है, किसी को दुख नहीं पहुंचाता। किंतु इन सबमें भी उसका कोई अभिमान नहीं होता। वह जानता है कि यह सब प्रकृति के गुण हैं, आत्मा तो इन सबसे परे है। समत्व भाव से मुक्ति का गहरा संबंध है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिन्होंने समत्व भाव प्राप्त कर लिया है, उन्होंने इसी जीवन में संसार को जीत लिया है। ऐसे लोग ब्रह्म में स्थित हो जाते हैं क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और समान है। यह कथन बहुत महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ है कि मुक्ति के लिए मरने की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। जीवित रहते हुए ही समत्व भाव प्राप्त करके मुक्ति पाई जा सकती है। यही जीवन मुक्ति है।

समत्व भाव मुक्ति का साधन इसलिए है क्योंकि समत्व ही ब्रह्म का स्वभाव है। ब्रह्म सबमें समान रूप से व्याप्त है। उसके लिए कोई ऊंच-नीच नहीं है। जब साधक भी इस समत्व को प्राप्त कर लेता है, तो वह ब्रह्म के स्वभाव को प्राप्त कर लेता है। यह समत्व बंधन को तोड़ देता है। बंधन आसक्ति और द्वेष से होता है। जब हम किसी से प्रेम करते हैं तो उससे बंध जाते हैं, जब किसी से घृणा करते हैं तो उससे भी बंध जाते हैं। किंतु जब हम सबको समान देखते हैं, तो न प्रेम का बंधन रहता है और न घृणा का। यही मुक्ति है। इस प्रकार समत्व भाव जीवन मुक्ति का प्रत्यक्ष साधन है। भगवद्गीता के पांचवें अध्याय के अंत में श्रीकृष्ण परमात्मा के तीन महत्वपूर्ण स्वरूपों का वर्णन करते हैं। ये तीन स्वरूप हैं — यज्ञभोक्ता, महेश्वर और सुहृद। इन तीनों को समझना और जानना आध्यात्मिक जीवन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रथम, परमात्मा सभी यज्ञों और तपों का भोक्ता है। इसका अर्थ यह है कि हम जो भी यज्ञ, पूजा, तप या साधना करते हैं, वह सब परमात्मा तक ही पहुंचती है। परमात्मा ही उसे स्वीकार करता है और उसका फल देता है। हम जो भी अच्छा कर्म करते हैं, वह व्यर्थ नहीं जाता। परमात्मा उसे देख रहा है, ग्रहण कर रहा है।

यज्ञभोक्ता के रूप में परमात्मा का अर्थ यह भी है कि सभी पूजा-अर्चना अंततः उसी तक पहुंचती है। हम चाहे किसी भी देवता की पूजा करें, वास्तव में वह परमात्मा की ही पूजा है क्योंकि सभी देवता उसी के

विभिन्न रूप हैं। यह ज्ञान हमें संकीर्णता से मुक्त करता है। हम यह नहीं सोचते कि केवल हमारा पूजा का तरीका ही सही है। हम समझते हैं कि सभी मार्ग अंततः एक ही परमात्मा की ओर ले जाते हैं। यह ज्ञान धार्मिक सहिष्णुता और भाईचारा लाता है।

द्वितीय, परमात्मा सभी लोकों का महान ईश्वर है। इसका अर्थ है कि सृष्टि के सभी लोक, सभी विश्व, सभी ब्रह्मांड उसी की सत्ता में स्थित हैं। वही सबका स्वामी है, सबका नियंता है। इस पृथ्वी से लेकर सभी स्वर्ग लोकों तक, सब कुछ उसी के अधीन है। कोई भी वस्तु, कोई भी प्राणी उसकी इच्छा के बिना कुछ नहीं कर सकता। यह ज्ञान हमें विनम्र बनाता है और हमारे अहंकार को दूर करता है। जब हम समझ लेते हैं कि सब कुछ परमात्मा का है, तो हम किसी वस्तु पर अपना अधिकार नहीं जताते।

महेश्वर के रूप में परमात्मा को जानने से हमें यह समझ आता है कि हम कुछ भी नहीं हैं, सब कुछ परमात्मा ही है। हमारी शक्ति, हमारी बुद्धि, हमारी संपत्ति सब कुछ उसी की देन है। हम तो केवल न्यासी हैं, स्वामी नहीं। यह समझ ममता और आसक्ति को समाप्त कर देती है। जब हम जानते हैं कि यह शरीर भी उसका है, यह धन भी उसका है, तो हम उससे आसक्त नहीं होते। यह ज्ञान हमें स्वार्थ से मुक्त करता है और हमें परमार्थ की ओर ले जाता है।

तृतीय और सबसे सुंदर स्वरूप है — परमात्मा सभी प्राणियों का सुहृद अर्थात् निस्वार्थ मित्र है। सुहृद वह मित्र होता है जो बिना किसी स्वार्थ के, बिना किसी अपेक्षा के केवल हमारे हित की कामना करता है। साधारण मित्र भी कभी-कभी स्वार्थ रखता है, किंतु सुहृद पूर्णतया निस्वार्थ होता है। परमात्मा भी हमसे कुछ नहीं चाहता, वह केवल हमारा कल्याण चाहता है। वह सदैव हमारी रक्षा करने के लिए तैयार रहता है। वह हमारे सुख-दुख में सदा हमारे साथ है।

सुहृद के रूप में परमात्मा का ज्ञान हमारे सभी भयों को दूर कर देता है। जब हम जानते हैं कि परमात्मा हमारा सच्चा मित्र है, तो हम यह समझ लेते हैं कि हम अकेले नहीं हैं। कठिन समय में भी परमात्मा हमारे साथ है। यह विश्वास अद्भुत शक्ति देता है। हम किसी भी परिस्थिति का सामना करने के लिए तैयार हो जाते हैं क्योंकि हम जानते हैं कि परमात्मा हमारी रक्षा करेगा। यह विश्वास जीवन को निर्भय बना देता है।

इन तीनों स्वरूपों को जानने से अद्भुत लाभ होता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो व्यक्ति मुझे इन तीनों रूपों में तत्व से जान लेता है, वह शांति को प्राप्त होता है। यह शांति कोई साधारण शांति नहीं है, बल्कि परम शांति है जो सभी चिंताओं और भयों से मुक्त करती है। जब हम जानते हैं कि परमात्मा हमारी सभी पूजा को स्वीकार करता है, कि वह सर्वशक्तिमान है और कि वह हमारा सच्चा मित्र है, तो हमें और क्या चाहिए? हम पूर्णतया संतुष्ट और शांत हो जाते हैं।

व्यावहारिक जीवन में यह ज्ञान बहुत सहायक है। प्रथम, जब हम जानते हैं कि परमात्मा हमारी साधना को देख रहा है, तो हम निरुत्साहित नहीं होते। हम जानते हैं कि हमारा प्रत्येक प्रयास, प्रत्येक अच्छा कर्म परमात्मा तक पहुंच रहा है। द्वितीय, जब हम जानते हैं कि सब कुछ परमात्मा का है, तो हम किसी वस्तु के लिए अत्यधिक लालायित नहीं होते। हम समझते हैं कि जो मिलना है वह मिलेगा, परमात्मा की इच्छा से। तृतीय, जब हम जानते हैं कि परमात्मा हमारा मित्र है, तो हम कठिन परिस्थितियों में भी निराश नहीं होते।

यह ज्ञान हमें भरोसा देता है कि जो कुछ भी हो रहा है, हमारे हित के लिए ही हो रहा है। कभी-कभी हमें लगता है कि हमारे साथ अन्याय हो रहा है, किंतु जब हम विश्वास करते हैं कि परमात्मा हमारा सुहृद है, तो हम समझते हैं कि यह परिस्थिति भी हमारे विकास के लिए आवश्यक है। यह विश्वास जीवन को सरल और सुखी बना देता है। इस प्रकार परमात्मा के इन तीन स्वरूपों को जानना व्यावहारिक जीवन के लिए अत्यंत उपयोगी है।

ब्रह्मनिर्वाण भगवद्गीता में वर्णित सर्वोच्च स्थिति है। ब्रह्मनिर्वाण का शाब्दिक अर्थ है ब्रह्म में निर्वाण अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाना। निर्वाण का अर्थ है बुझ जाना, विलीन हो जाना। जैसे दीपक बुझ जाता है, वैसे ही व्यक्तित्व ब्रह्म में विलीन हो जाता है। यह वह स्थिति है जहां व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है और केवल ब्रह्म रह जाता है। यह अवर्णनीय स्थिति है जिसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह केवल अनुभव की जा सकती है। जो साधक इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है, वह परम शांति को प्राप्त होता है।

ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति एक क्रमिक प्रक्रिया है। सबसे पहले साधक को ज्ञान प्राप्त करना होता है। यह ज्ञान केवल बौद्धिक नहीं होता, बल्कि यह एक गहरा अनुभव होता है। साधक को यह अनुभव होता है कि मैं शरीर नहीं, मन नहीं, बल्कि शुद्ध चैतन्य आत्मा हूं। जब यह ज्ञान दृढ़ हो जाता है, तो साधक का अज्ञान नष्ट हो जाता है। अज्ञान के नष्ट होने पर सभी बंधन टूट जाते हैं। साधक यह समझ लेता है कि मैं ब्रह्म हूं, सब कुछ ब्रह्म है, और ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यह अनुभव ब्रह्मनिर्वाण है।

ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति के लिए कई साधन हैं। प्रथम है निष्काम कर्म। जब साधक निष्काम भाव से कर्म करता है, तो उसका चित्त शुद्ध होता है। शुद्ध चित्त में ज्ञान का उदय होता है। द्वितीय है समत्व भाव। जब साधक सुख-दुख, मान-अपमान में समान रहता है, तो वह द्वंद्वों से मुक्त हो जाता है। यह मुक्ति ब्रह्मनिर्वाण की ओर ले जाती है। तृतीय है ध्यान। निरंतर ध्यान से साधक का मन शांत होता है और ब्रह्म का अनुभव होता है। चतुर्थ है परमात्मा को यज्ञभोक्ता, महेश्वर और सुहृद के रूप में जानना। यह ज्ञान परम शांति देता है जो ब्रह्मनिर्वाण की प्रारंभिक अवस्था है।

जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति में महत्वपूर्ण अंतर है। जीवन मुक्ति वह स्थिति है जब साधक जीवित रहते हुए, शरीर में रहते हुए ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। वह संसार में रहकर भी संसार से मुक्त हो जाता है। वह कर्म करते हुए भी अकर्ता रहता है। बाहर से वह सामान्य व्यक्ति की तरह दिखता है, किंतु भीतर से वह ब्रह्म में लीन रहता है। जीवन मुक्त व्यक्ति के लिए शरीर एक वस्त्र की तरह है। वह जानता है कि मैं शरीर नहीं हूं, इसलिए शरीर के सुख-दुख उसे प्रभावित नहीं करते।

विदेह मुक्ति वह स्थिति है जब जीवन मुक्त व्यक्ति का शरीर छूट जाता है। मृत्यु के बाद आत्मा पूर्णतया ब्रह्म में विलीन हो जाती है। कोई व्यक्तित्व नहीं रहता, कोई अलगाव नहीं रहता। केवल ब्रह्म रह जाता है। यह परम लक्ष्य है जिसकी ओर सभी साधना ले जाती है। जीवन मुक्ति में अभी शरीर का बंधन है, यद्यपि मन मुक्त है। विदेह मुक्ति में शरीर का बंधन भी समाप्त हो जाता है और पूर्ण मुक्ति होती है। जीवन मुक्त व्यक्ति कभी-कभी शरीर के कारण कुछ सीमाओं का अनुभव कर सकता है, किंतु विदेह मुक्ति में कोई सीमा नहीं रहती।

आधुनिक युग में मुक्ति की अवधारणा अत्यंत प्रासंगिक है। आज का मनुष्य अनेक बंधनों में जकड़ा हुआ है। वह भौतिक वस्तुओं का दास बन गया है। उसकी सारी प्रसन्नता बाहरी चीजों पर निर्भर है। जब वे मिलती हैं तो वह प्रसन्न होता है, जब नहीं मिलतीं तो दुखी होता है। यह निर्भरता ही बंधन है। मुक्ति हमें सिखाती है कि हम बाहरी चीजों पर निर्भर न रहें। हमारी प्रसन्नता आंतरिक होनी चाहिए, बाहरी नहीं। जब हम यह समझ लेते हैं कि सच्ची प्रसन्नता आत्मा में है, न कि वस्तुओं में, तो हम मुक्त हो जाते हैं।

आधुनिक युग में तनाव, चिंता और अवसाद बहुत बढ़ गए हैं। इनका मूल कारण है बंधन — वस्तुओं से बंधन, लोगों से बंधन, पदों से बंधन। मुक्ति इन सभी बंधनों से मुक्ति है। यह एक मानसिक स्वतंत्रता है। जब हम मुक्त होते हैं, तो हम शांत होते हैं, संतुलित होते हैं। कोई भी परिस्थिति हमें विचलित नहीं कर सकती। यह मानसिक स्वास्थ्य के लिए बहुत आवश्यक है। इसलिए आधुनिक युग में मुक्ति की अवधारणा न केवल आध्यात्मिक, बल्कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण और प्रासंगिक है।

5.10 इंद्रिय संयम और मन की शांति

इंद्रिय संयम और मन की शांति योग साधना के अत्यंत महत्वपूर्ण अंग हैं। बिना इंद्रिय संयम के और बिना मन की शांति के आध्यात्मिक प्रगति संभव नहीं है। इंद्रियां बहुत शक्तिशाली होती हैं और यदि उन्हें नियंत्रित न किया जाए तो वे मनुष्य को भटका देती हैं। इंद्रियों का स्वभाव है विषयों की ओर दौड़ना। आंख रूप देखना चाहती है, कान शब्द सुनना चाहते हैं, जीभ स्वाद लेना चाहती है। यदि हम इंद्रियों के पीछे चलते हैं तो हम कभी शांति नहीं पा सकते क्योंकि इंद्रियों की तृप्ति कभी नहीं होती। एक विषय मिलने पर दस नई इच्छाएं उत्पन्न हो जाती हैं।

5.10.1 इंद्रिय संयम की विधि : इंद्रिय संयम का अर्थ इंद्रियों को मारना या दबाना नहीं है। इंद्रिय संयम का अर्थ है इंद्रियों को अपने नियंत्रण में रखना। यह नियंत्रण बल से नहीं, बल्कि विवेक से आता है। जब हम समझ लेते हैं कि विषय सुख क्षणिक है और उसके बाद दुख ही आता है, तो इंद्रियां स्वतः नियंत्रित होने लगती हैं। साथ ही, इंद्रियों को सही दिशा में लगाना भी आवश्यक है। जब इंद्रियां सात्विक कर्मों में व्यस्त रहती हैं, तो वे विषयों की ओर नहीं दौड़तीं।

5.10.2 बाहरी विषयों से वैराग्य : श्रीकृष्ण कहते हैं कि बाहरी विषयों को तो इंद्रियों से रोका हुआ पुरुष भी त्याग देता है, किंतु उनके प्रति राग बना रहता है। यह राग भी परम तत्त्व को प्राप्त होने पर नष्ट हो जाता है। यह बहुत महत्वपूर्ण बात है। केवल बाहर से विषयों का त्याग करना पर्याप्त नहीं है। मन में यदि विषयों के प्रति राग बना रहा तो वह त्याग अधूरा है। वास्तविक त्याग तब होता है जब मन से भी विषयों के प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है। यह तभी संभव है जब हमें परम तत्त्व का अनुभव हो जाता है। परमात्मा के आनंद के सामने विषयों का सुख तुच्छ लगने लगता है।

5.10.3 मन की शांति के उपाय : मन की शांति के लिए सबसे पहले मन को एकाग्र करना आवश्यक है। जब मन यहां-वहां भटकता रहता है, तो वह कभी शांत नहीं हो सकता। मन को एक ही विषय पर केंद्रित करना चाहिए और वह विषय परमात्मा होना चाहिए। जब मन परमात्मा के चिंतन में लग जाता है, तो धीरे-धीरे वह शांत हो जाता है। साथ ही, समत्व भाव भी मन को शांत करता है। जब हम सुख-दुख, लाभ-हानि में समान रहते हैं, तो मन में उथल-पुथल नहीं होती और मन शांत रहता है।

5.10.4 विवेक का महत्व : इंद्रिय संयम और मन की शांति के लिए विवेक अत्यंत आवश्यक है। विवेक का अर्थ है सत्य-असत्य का, नित्य-अनित्य का, शाश्वत-अशाश्वत का भेद जानना। जब हम विवेक से देखते हैं तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार के सभी विषय अनित्य हैं, केवल आत्मा और परमात्मा नित्य हैं। यह विवेक हमें विषयों से विमुख करता है और परमात्मा की ओर मोड़ता है। विवेकी व्यक्ति इंद्रियों और मन को सरलता से नियंत्रित कर लेता है क्योंकि वह जानता है कि वास्तविक सुख इंद्रिय विषयों में नहीं, बल्कि आत्मा में है। इस प्रकार इंद्रिय संयम और मन की शांति परम शांति और मोक्ष की ओर ले जाने वाले साधन हैं।

5.11 मोक्ष का मार्ग और साधन

मोक्ष गीता का परम लक्ष्य है। मोक्ष का अर्थ है सभी बंधनों से मुक्ति, जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति, सभी दुखों से मुक्ति। मोक्ष की प्राप्ति ही मानव जीवन का परम उद्देश्य है। किंतु यह मोक्ष कैसे प्राप्त हो? गीता के इस पांचवें अध्याय में श्रीकृष्ण मोक्ष के मार्ग और साधनों को स्पष्ट करते हैं। मोक्ष कोई दूर की वस्तु नहीं है जो केवल मरने के बाद मिलती है। मोक्ष जीवन में ही प्राप्त की जा सकती है। जीवन मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है। जो व्यक्ति जीवित रहते हुए ही सभी बंधनों से मुक्त हो जाता है, वही सच्चा मुक्त पुरुष है।

5.11.1 ज्ञान द्वारा मोक्ष : मोक्ष का मुख्य साधन है ज्ञान। जब साधक को यह ज्ञान हो जाता है कि मैं शुद्ध चैतन्य

आत्मा हूं, मैं अजन्मा और अमर हूं, तो सभी बंधन स्वतः टूट जाते हैं। यह ज्ञान अज्ञान के अंधकार को दूर कर देता है। जैसे सूर्य के उदय होने पर अंधकार स्वतः विलीन हो जाता है, वैसे ही ज्ञान के उदय होने पर अज्ञान स्वतः नष्ट हो जाता है। और अज्ञान के नष्ट होने पर बंधन भी नष्ट हो जाते हैं क्योंकि बंधन अज्ञान के ही कारण हैं।

5.11.2 कर्मयोग द्वारा मोक्ष :ज्ञान के साथ-साथ कर्मयोग भी मोक्ष का साधन है। निष्काम कर्म करते हुए चित्त शुद्ध होता है। शुद्ध चित्त में ज्ञान का उदय होता है और ज्ञान से मोक्ष मिलता है। इसलिए कर्मयोग परोक्ष रूप से मोक्ष का साधन है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। जो व्यक्ति कर्म करते हुए भी आसक्ति रहित है, जो सभी प्राणियों में एक ही आत्मा को देखता है, वह कर्म करते हुए भी पाप से लिप्त नहीं होता और मोक्ष को प्राप्त होता है। आधुनिक संदर्भ में देखें तो कर्मयोग अत्यंत प्रासंगिक है। आज के युग में सभी को कर्म करना पड़ता है। कोई भी बिना कर्म किए जीवन नहीं चला सकता। इसलिए कर्मयोग सभी के लिए उपयुक्त मार्ग है। हम अपने दैनिक कर्मों को ही साधना बना सकते हैं। यदि हम अपने कार्यालय के काम को, अपने घर के काम को निष्काम भाव से करें, यदि हम उन्हें परमात्मा की सेवा समझकर करें, तो वही कर्मयोग है। इस प्रकार कर्मयोग एक व्यावहारिक मार्ग है जो आधुनिक युग के लिए अत्यंत उपयुगी है।

5.11.3 समत्व भाव द्वारा मोक्ष :समत्व भाव भी मोक्ष का एक महत्वपूर्ण साधन है। जिन्होंने समत्व को प्राप्त कर लिया, उन्होंने इसी जीवन में संसार को जीत लिया। ऐसे लोग ब्रह्म में स्थित हो जाते हैं। समत्व का अर्थ है सुख-दुख, मान-अपमान, जय-पराजय में समान रहना। जब साधक इस समत्व को प्राप्त कर लेता है, तो वह सभी द्वंद्वों से परे चला जाता है। द्वंद्वों से परे जाना ही मोक्ष है। इसलिए समत्व भाव मोक्ष का प्रत्यक्ष साधन है।

5.11.4 भक्ति द्वारा मोक्ष :अध्याय के अंत में श्रीकृष्ण बताते हैं कि परमात्मा को यज्ञभोक्ता, सर्वेश्वर और सुहृद के रूप में जानकर शांति प्राप्त होती है। यह भक्ति का मार्ग है। जब साधक परमात्मा को अपना सच्चा मित्र समझने लगता है, जब वह सब कुछ परमात्मा को समर्पित कर देता है, तो उसे परम शांति मिलती है। यह परम शांति ही मोक्ष है। इस प्रकार गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों मार्गों से मोक्ष की प्राप्ति बताई गई है। साधक अपनी प्रकृति के अनुसार किसी भी मार्ग को चुन सकता है। सभी मार्ग एक ही लक्ष्य – मोक्ष – की ओर ले जाते हैं।

बोध प्रश्न

प्रश्न—इंद्रिय संयम क्यों आवश्यक है? केवल बाहरी विषयों का त्याग पर्याप्त क्यों नहीं है?

5.12 ब्रह्मनिर्वाण और परम शांति

ब्रह्मनिर्वाण गीता में वर्णित सर्वोच्च स्थिति है। ब्रह्मनिर्वाण का अर्थ है ब्रह्म में लीन हो जाना, ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त कर लेना। यह वह स्थिति है जहां व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है और केवल ब्रह्म रह जाता है। यह अवर्णनीय स्थिति है जिसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह केवल अनुभव की जा सकती है। जो साधक इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है, वह परम शांति को प्राप्त होता है। यह शांति कोई साधारण शांति नहीं है, बल्कि परम शांति है जो सभी उपाधियों से परे है, जो कभी भंग नहीं होती।

5.12.1 ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति :ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति तब होती है जब साधक का अज्ञान पूर्णतया नष्ट हो जाता है। जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि मैं ब्रह्म हूं, सब कुछ ब्रह्म है, और ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यह ज्ञान केवल बौद्धिक नहीं होता, बल्कि यह एक गहरा अनुभव होता है। जब यह अनुभव दृढ़ हो जाता है, तो

साधक ब्रह्म में लीन हो जाता है। वह अलग नहीं रहता, वह ब्रह्म हो जाता है। यही ब्रह्मनिर्वाण है।

5.12.2 परम शांति का स्वरूप : परम शांति वह शांति है जो बाहरी परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होती। संसार में कुछ भी हो, परम शांति को प्राप्त व्यक्ति शांत रहता है। उसके लिए सुख-दुख, जय-पराजय सब समान हो जाते हैं। वह जानता है कि यह सब शरीर और मन के स्तर पर घटित हो रहा है, आत्मा का स्तर पर कुछ नहीं बदलता। आत्मा तो सदा शांत है। इस ज्ञान से वह सदा शांत रहता है। यह शांति उसके भीतर से आती है, बाहर से नहीं। इसलिए यह कभी नष्ट नहीं होती।

5.12.3 जीवन मुक्ति : ब्रह्मनिर्वाण जीवन में ही प्राप्त किया जा सकता है। इसे जीवन मुक्ति कहते हैं। जीवन मुक्त व्यक्ति शरीर में रहते हुए भी शरीर से परे हो जाता है। वह संसार में रहते हुए भी संसार से मुक्त हो जाता है। वह कर्म करते हुए भी अकर्ता रहता है। यह एक विरोधाभासी स्थिति लगती है, किंतु यही वास्तविकता है। जीवन मुक्त व्यक्ति का जीवन एक सुंदर संतुलन है। बाहर से वह सामान्य जीवन जीता है, किंतु भीतर से वह ब्रह्म में लीन रहता है।

5.12.4 मोक्ष की अंतिम स्थिति : जीवन मुक्ति के बाद जब शरीर छूट जाता है, तो विदेह मुक्ति होती है। इसे ब्रह्मनिर्वाण की अंतिम स्थिति कहते हैं। इस स्थिति में आत्मा पूर्णतया ब्रह्म में विलीन हो जाती है। कोई व्यक्तित्व नहीं रहता, कोई अलगाव नहीं रहता। केवल ब्रह्म रह जाता है। यह परम लक्ष्य है जिसकी ओर सभी साधना ले जाती है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो व्यक्ति मुझे यज्ञभोक्ता, सर्वेश्वर और सुहृद के रूप में जान लेता है, वह परम शांति को प्राप्त होता है और ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होता है। यही गीता के इस अध्याय का अंतिम संदेश है।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: ब्रह्मनिर्वाण क्या है? जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति में क्या अंतर है?

5.13 अध्याय का उपसंहार और संदेश

गीता का पांचवां अध्याय संन्यास के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करता है। यह अध्याय हमें सिखाता है कि संन्यास कोई भागने का मार्ग नहीं है। संन्यास का अर्थ बाहरी कर्मों का त्याग नहीं है, बल्कि आंतरिक आसक्ति का त्याग है। हम संसार में रहकर, कर्म करते हुए भी संन्यासी बन सकते हैं यदि हम आसक्ति रहित होकर कर्म करें। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया है कि कर्मयोग और संन्यास दोनों मोक्ष की ओर ले जाते हैं, किंतु कर्मयोग अधिक व्यावहारिक और सुगम है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह निष्काम भाव से कर्म करे और कर्म को ही अपनी साधना बनाए। भगवद्गीता में संन्यास का स्वरूप बहुत व्यापक और गहन है। सामान्यतः लोग समझते हैं कि घर-परिवार छोड़कर, गेरुआ वस्त्र पहनकर जंगल में चले जाना ही संन्यास है। किंतु गीता कहती है कि यह केवल बाहरी संन्यास है, वास्तविक संन्यास तो आंतरिक है। संन्यास का वास्तविक अर्थ है आसक्ति का त्याग, कामना का त्याग और अहंकार का त्याग। जब व्यक्ति कर्म करते हुए भी कर्म फल में आसक्त नहीं रहता, जब वह किसी भी वस्तु या व्यक्ति के प्रति ममता नहीं रखता, जब वह यह नहीं सोचता कि मैं कर्ता हूँ, तब वह वास्तविक संन्यासी है।

श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जो व्यक्ति बिना संकल्प के कर्म करता है, वही योगी है और वही संन्यासी है। संकल्प का अर्थ है मन में दृढ़ निश्चय करना कि मुझे यह करना है, मुझे यह पाना है। जब यह संकल्प समाप्त हो जाता है, जब व्यक्ति यह समझ लेता है कि सब कुछ परमात्मा की इच्छा से हो रहा है, तब वह सच्चा संन्यासी बन जाता है। गीता में दो प्रकार के संन्यास का वर्णन है — कर्म संन्यास और कर्म फल संन्यास। कर्म संन्यास का अर्थ है सभी कर्मों का त्याग कर देना। यह मार्ग अत्यंत कठिन है और बहुत कम

लोगों के लिए उपयुक्त है। कर्म फल संन्यास का अर्थ है कर्म तो करना किंतु उसके फल में आसक्त न होना। यह मार्ग अधिक व्यावहारिक और सरल है।

बाहरी संन्यास और आंतरिक संन्यास में मूल अंतर भाव का है। बाहरी संन्यासी वह है जो केवल बाहरी रूप से संन्यासी बन जाता है — वह गेरुआ वस्त्र पहन लेता है, घर-परिवार छोड़ देता है, किंतु मन में आसक्ति, कामना और अहंकार बने रहते हैं। ऐसा व्यक्ति बाहर से संन्यासी दिखता है किंतु भीतर से गृहस्थ ही रहता है। इसके विपरीत, आंतरिक संन्यासी वह है जो बाहर से सामान्य जीवन जीता है, अपने परिवार का पालन करता है, व्यवसाय करता है, किंतु मन से पूर्णतया आसक्ति रहित है। वह कर्म करता है किंतु कर्म फल में आसक्त नहीं होता। वह जानता है कि यह सब उसका कर्तव्य है, परमात्मा की सेवा है। गीता के अनुसार आंतरिक संन्यास ही वास्तविक संन्यास है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि युद्ध करो, अपने कर्तव्य का पालन करो, किंतु आसक्ति रहित होकर करो। यह संदेश सभी गृहस्थों के लिए है। हमें अपने सांसारिक कर्तव्यों से भागना नहीं है, बल्कि उन्हें आसक्ति रहित होकर पूरा करना है। जब हम यह समझ लेते हैं कि कर्म करना हमारा कर्तव्य है और फल परमात्मा के हाथ में है, तो हम आंतरिक संन्यासी बन जाते हैं। बाहरी संन्यास अक्सर पलायन का रूप ले लेता है। व्यक्ति जिम्मेदारियों से भागना चाहता है, इसलिए संन्यास ले लेता है। किंतु यह सच्चा संन्यास नहीं है। सच्चा संन्यास तो वह है जो जिम्मेदारियों को पूरा करते हुए भी मन से मुक्त रहे।

आधुनिक युग में संन्यास की प्रासंगिकता और भी बढ़ गई है। आज का युग अत्यधिक तनाव और चिंता का युग है। लोग भौतिक सुखों के पीछे भाग रहे हैं, किंतु शांति नहीं मिल रही। इसका कारण है आसक्ति। हम चीजों से, लोगों से, पदों से अत्यधिक आसक्त हो जाते हैं और जब वे नहीं मिलते या छिन जाते हैं, तो दुखी होते हैं। गीता का संन्यास हमें सिखाता है कि हम आसक्ति छोड़ें, चीजों को नहीं। हम अपना काम करें, अपनी जिम्मेदारियां पूरी करें, किंतु मन से आसक्त न हों। यह दृष्टिकोण जीवन को सरल और शांतिपूर्ण बना देता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी इस बात की पुष्टि करता है कि आसक्ति और अपेक्षाएं तनाव का मुख्य कारण हैं। जब हम आसक्ति छोड़ देते हैं, तो तनाव स्वतः कम हो जाता है। गीता का संन्यास इसलिए आधुनिक युग के लिए अत्यंत प्रासंगिक है। यह हमें बताता है कि हम सफल हो सकते हैं, धन कमा सकते हैं, परिवार का पालन कर सकते हैं, किंतु साथ ही शांत और संतुलित भी रह सकते हैं। यह संतुलन गीता के संन्यास से आता है। इस प्रकार गीता का संन्यास एक व्यावहारिक जीवन दर्शन है जो आधुनिक युग की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है।

कर्मयोग और संन्यास भगवद्गीता के दो मुख्य मार्ग हैं। दोनों का लक्ष्य एक ही है — मोक्ष की प्राप्ति — किंतु दोनों के साधन भिन्न हैं। कर्मयोग का अर्थ है निष्काम भाव से कर्म करना। इसमें साधक कर्म तो करता है किंतु कर्म फल में आसक्त नहीं होता। वह अपने सभी कर्म परमात्मा को समर्पित कर देता है और फल की चिंता नहीं करता। कर्मयोग में कर्म का त्याग नहीं है, बल्कि कर्म फल की आसक्ति का त्याग है। संन्यास का अर्थ है कर्मों का त्याग। संन्यासी सभी सांसारिक कर्मों को छोड़कर केवल आत्म चिंतन में लीन रहता है। वह कर्म से विमुख हो जाता है और ध्यान, जप, तप आदि में समय व्यतीत करता है।

श्रीकृष्ण ने स्पष्ट रूप से कहा है कि दोनों मार्ग मोक्ष की ओर ले जाते हैं, किंतु कर्मयोग अधिक श्रेष्ठ है। इसके कई कारण हैं। प्रथम, कर्मयोग अधिक व्यावहारिक है। मनुष्य की प्रकृति ही कर्म करने की है। क्षण भर भी कोई व्यक्ति बिना कर्म किए नहीं रह सकता। यहां तक कि श्वास लेना भी एक कर्म है। इसलिए कर्म से पूर्णतया विमुख होना बहुत कठिन है। द्वितीय, संन्यास मार्ग में कर्म के बिना चित्त की शुद्धि कठिन है। बिना चित्त शुद्धि के ज्ञान का उदय नहीं होता। कर्मयोग में निष्काम कर्म करते हुए चित्त शुद्ध होता है। तृतीय, कर्मयोग सभी के लिए उपयुक्त है। गृहस्थ, व्यापारी, कर्मचारी सभी कर्मयोग का पालन कर सकते हैं। संन्यास केवल कुछ विशेष व्यक्तियों के लिए ही उपयुक्त है जिनमें अत्यधिक वैराग्य और दृढ़ संकल्प हो।

चतुर्थ, कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म के बिना संन्यास की प्राप्ति दुःखपूर्वक होती है, किंतु कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि कर्मयोग में साधक कर्म करते हुए ही साधना कर रहा होता है। उसका पूरा जीवन साधना बन जाता है। जबकि संन्यासी को कर्म और साधना को अलग-अलग रखना पड़ता है। पंचम, कर्मयोग समाज के लिए भी उपयोगी है। कर्मयोगी अपने कर्मों से समाज की सेवा करता है। संन्यासी समाज से विमुख हो जाता है।

दोनों मार्गों में समानता यह है कि दोनों का अंतिम लक्ष्य एक ही है — मोक्ष। दोनों में आसक्ति का त्याग आवश्यक है। दोनों में अहंकार का नाश होना चाहिए। दोनों में समत्व भाव आना चाहिए। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो व्यक्ति संन्यास और कर्मयोग को एक देखता है, वही सही देखता है। अज्ञानी लोग ही इन दोनों को भिन्न मानते हैं। वास्तव में दोनों एक ही सत्य के दो पहलू हैं। संन्यासी बाहरी कर्मों का त्याग करता है, कर्मयोगी आंतरिक आसक्ति का त्याग करता है। दोनों त्याग ही कर रहे हैं, केवल विधि अलग है।

भिन्नता मुख्यतः साधन में है। कर्मयोग में कर्म का सहारा लिया जाता है, संन्यास में कर्म से विमुखता रहती है। कर्मयोग बहिर्मुखी मार्ग है, संन्यास अंतर्मुखी मार्ग है। कर्मयोग में साधक संसार में रहकर साधना करता है, संन्यास में साधक संसार से अलग होकर साधना करता है। किंतु यह भिन्नता केवल बाहरी है। आंतरिक रूप से दोनों एक ही हैं। दोनों में आसक्ति का त्याग, अहंकार का नाश और समत्व की प्राप्ति होती है। इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि दोनों मार्गों में से कोई भी चुना जा सकता है, किंतु कर्मयोग अधिक सुगम और व्यावहारिक है।

5.13.1 मुख्य शिक्षाएं : इस अध्याय की मुख्य शिक्षाएं हैं — प्रथम, वास्तविक संन्यास आंतरिक है, बाहरी नहीं। द्वितीय, कर्म संन्यास का विरोधी नहीं, बल्कि सहायक है। तृतीय, समत्व भाव ही योग है और यही मुक्ति का मार्ग है। चतुर्थ, सभी प्राणियों में एक ही आत्मा को देखना ही वास्तविक ज्ञान है। पंचम, परमात्मा हमारा सुहृद है और हमारी रक्षा के लिए सदैव तत्पर है। इन शिक्षाओं को जीवन में उतारकर साधक परम शांति और मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

5.13.2 व्यावहारिक जीवन में अनुप्रयोग : इस अध्याय की शिक्षाओं को व्यावहारिक जीवन में कैसे लागू करें? सबसे पहले हमें अपने दैनिक कर्मों को निष्काम भाव से करना चाहिए। हम अपना कर्तव्य पूरी निष्ठा से करें, किंतु फल की चिंता न करें। दूसरा, हमें सभी प्राणियों में समान भाव रखना चाहिए। किसी से द्वेष न करें, किसी से ईर्ष्या न करें। तीसरा, हमें सुख-दुख, मान-अपमान में समान रहने का प्रयास करना चाहिए। चौथा, हमें यह विश्वास रखना चाहिए कि परमात्मा हमारा सच्चा मित्र है और वह सदा हमारा कल्याण चाहता है।

5.13.3 आध्यात्मिक प्रगति का मार्ग : यह अध्याय हमें बताता है कि आध्यात्मिक प्रगति के लिए संसार छोड़ना आवश्यक नहीं है। हम अपने परिवार में, अपने समाज में रहकर भी आध्यात्मिक रूप से उन्नति कर सकते हैं। आवश्यकता है केवल दृष्टिकोण बदलने की। जब हम अपने सभी कर्मों को परमात्मा की सेवा समझकर करते हैं, जब हम सभी प्राणियों में परमात्मा को देखते हैं, तो हमारा सामान्य जीवन भी साधना बन जाता है। यही गीता का व्यावहारिक और क्रांतिकारी संदेश है।

समापन

इस प्रकार भगवद्गीता का पांचवां अध्याय हमें संन्यास के वास्तविक स्वरूप को समझाता है। यह अध्याय हमें सिखाता है कि संन्यास कोई पलायन नहीं है, बल्कि जीवन जीने की एक कला है। हम संसार में रहकर, कर्म करते हुए भी मुक्त रह सकते हैं। आवश्यकता है केवल आसक्ति छोड़ने की। श्रीकृष्ण का संदेश स्पष्ट है — कर्म करो, निष्काम भाव से करो, समत्व में रहो, और परमात्मा को अपना सुहृद मानो। यही जीवन का सार है, यही मुक्ति का मार्ग है।

“भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञातवा मां शान्तिमृच्छति ॥”

5.13.3 आध्यात्मिक प्रगति का मार्ग :यह अध्याय हमें बताता है कि आध्यात्मिक प्रगति के लिए संसार छोड़ना आवश्यक नहीं है। हम अपने परिवार में, अपने समाज में रहकर भी आध्यात्मिक रूप से उन्नति कर सकते हैं। आवश्यकता है केवल दृष्टिकोण बदलने की। जब हम अपने सभी कर्मों को परमात्मा की सेवा समझकर करते हैं, जब हम सभी प्राणियों में परमात्मा को देखते हैं, तो हमारा सामान्य जीवन भी साधना बन जाता है। यही गीता का व्यावहारिक और क्रांतिकारी संदेश है।

5.13.4 अध्याय का सार :इस अध्याय का सार यह है कि कर्म और ज्ञान में कोई विरोध नहीं है। दोनों एक ही लक्ष्य की ओर ले जाते हैं। कर्मयोग निष्काम भाव से कर्म करने का मार्ग है। संन्यास आसक्ति के त्याग का मार्ग है। दोनों मिलकर साधक को परम शांति और मोक्ष की ओर ले जाते हैं। श्रीकृष्ण का अंतिम संदेश है परमात्मा को जानो, उसमें विश्वास रखो, उसे अपना सुहृद मानो और शांति प्राप्त करो। यही जीवन का परम लक्ष्य है।

5.14 बोध प्रश्न

प्रश्न—1 गीता के अनुसार संन्यास का वास्तविक स्वरूप क्या है? बाहरी संन्यास और आंतरिक संन्यास में क्या अंतर है? आधुनिक युग में संन्यास की क्या प्रासंगिकता है?

प्रश्न—2 कर्मयोग और संन्यास की तुलना कीजिए। श्रीकृष्ण ने कर्मयोग को श्रेष्ठ क्यों बताया है? दोनों मार्गों में क्या समानता है और क्या भिन्नता?

प्रश्न—3 संन्यास में कर्म की क्या उपादेयता है? यह कैसे सिद्ध होता है कि बिना कर्म के संन्यास संभव नहीं है? कर्म और ज्ञान का क्या संबंध है?

प्रश्न—4 सच्चे संन्यासी की क्या पहचान है? ब्रह्म में स्थित व्यक्ति का जीवन और आचरण कैसा होता है? समत्व भाव से मुक्ति कैसे मिलती है?

प्रश्न—5 ब्रह्म में स्थित व्यक्ति की क्या विशेषताएं होती हैं? समत्व भाव से मुक्ति कैसे मिलती है?

इकाई-6 ध्यान योग की भूमिका एवं स्वरूप

संरचना

- 6.1 ध्यान योग
 - 6.1.1 ध्यान योग का स्वरूप
 - 6.1.2 ध्यान में कर्म की भूमिका
 - 6.1.3 योगारूढ़ साधक की अवस्था
 - 6.1.4 योगी के लक्षण
 - 6.1.5 योगी का आहार विहार
- 6.2 ज्ञान विज्ञान योग
 - 6.2.1 परमात्मा का ज्ञान
 - 6.2.2 भक्तों के प्रकार
 - 6.2.3 भक्ति के स्वरूप
- 6.3 बोध प्रश्न

6.1 ध्यान योग

भगवद्गीता का छठा अध्याय ध्यान योग के विषय में एक संपूर्ण मार्गदर्शन प्रस्तुत करता है। इस अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ध्यान की विधि, ध्यानी योगी के लक्षण, और मन को वश में करने की कला सिखाई है। यह अध्याय मानव जीवन में आध्यात्मिक उन्नति के लिए ध्यान की महत्ता को प्रतिपादित करता है। ध्यान योग केवल एक शारीरिक क्रिया नहीं है, बल्कि यह मन, बुद्धि और आत्मा को एकाग्र करने की एक संपूर्ण प्रक्रिया है जो साधक को परमात्मा के निकट ले जाती है।

6.1.1 ध्यान योग का स्वरूप : अभ्यास योग का अर्थ है निरंतर और नियमित रूप से योग का अभ्यास करना। भगवान श्रीकृष्ण ने इस अध्याय के आरंभ में ही स्पष्ट किया है कि जो व्यक्ति अपने कर्तव्य कर्मों को बिना फल की आकांक्षा के करता है, वही सच्चा संन्यासी और योगी है। यहाँ एक महत्वपूर्ण बात यह है कि योग का अभ्यास केवल बाहरी क्रियाओं से नहीं होता, बल्कि आंतरिक भावना और संकल्प से होता है। जो व्यक्ति केवल अग्नि का त्याग कर देता है और कर्मों को छोड़ देता है, वह न तो संन्यासी है और न ही योगी, क्योंकि सच्चा योग तो कर्म करते हुए भी फल की इच्छा का त्याग करना है।

अभ्यास योग में सबसे पहला चरण है आत्मसंयम। जब तक साधक अपने मन और इंद्रियों को वश में नहीं कर लेता, तब तक वह योग की उच्च अवस्थाओं को प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान कृष्ण कहते हैं कि जो साधक अपने आप को ही अपना मित्र बना लेता है, वह योग में सफल हो जाता है, किंतु जो अपने आप को ही अपना शत्रु बना लेता है, वह योग में असफल रहता है। इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति अपनी इंद्रियों और मन को नियंत्रित कर लेता है, वह अपना सच्चा मित्र है, और जो इन्हें नियंत्रित नहीं कर पाता, वह स्वयं अपना शत्रु बन जाता है।

अभ्यास योग में निरंतरता अत्यंत आवश्यक है। एक दिन या कुछ दिनों का अभ्यास किसी को योगी नहीं बना सकता। योग का अभ्यास तो जीवन भर चलने वाली एक साधना है। इस साधना में साधक को धैर्य, दृढ़ संकल्प और आत्मविश्वास की आवश्यकता होती है। प्रारंभ में मन भटकता है, इंद्रियाँ विषयों की ओर दौड़ती हैं, किंतु निरंतर अभ्यास से धीरे-धीरे मन स्थिर होने लगता है और साधक योग की उच्च अवस्थाओं को प्राप्त करने लगता है। भगवान कृष्ण ने यह भी स्पष्ट किया है कि योग का अभ्यास करने वाले को एकांत और शुद्ध स्थान में बैठकर अपने मन को एकाग्र करना चाहिए।

6.1.2 ध्यान में कर्म की भूमिका : ध्यान योग और कर्म योग एक-दूसरे से पूरी तरह जुड़े हुए हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया है कि जो व्यक्ति योगारूढ़ होना चाहता है, उसके लिए कर्म करना ही साधन है। कर्म के बिना कोई भी व्यक्ति योग की प्रारंभिक अवस्था को भी प्राप्त नहीं कर सकता। यहाँ कर्म से तात्पर्य केवल सांसारिक कर्मों से नहीं है, बल्कि निष्काम कर्म से है, अर्थात् वे कर्म जो बिना फल की इच्छा के किए जाएँ। जब साधक निष्काम कर्म करता है, तो उसका मन धीरे-धीरे शुद्ध होने लगता है और वह ध्यान योग के योग्य बन जाता है।

कर्म और ध्यान के बीच का संबंध यह है कि कर्म मन को शुद्ध करता है और शुद्ध मन ही ध्यान में स्थिर हो सकता है। जिस व्यक्ति का मन विकारों से भरा है, जो सदैव सांसारिक विषयों में उलझा रहता है, वह ध्यान में कैसे स्थिर हो सकता है। इसलिए भगवान कृष्ण ने कर्म को योग की सीढ़ी बताया है। जब साधक निष्काम भाव से कर्म करता है, तो उसके मन में राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि विकार कम होने लगते हैं। धीरे-धीरे उसका मन इतना शुद्ध और स्थिर हो जाता है कि वह ध्यान में लग सकता है।

किंतु जब साधक योगारूढ़ हो जाता है, अर्थात् जब वह ध्यान योग में पूर्णतः स्थित हो जाता है, तो उसके लिए कर्म नहीं रह जाता, बल्कि केवल ध्यान ही रह जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह कर्म करना बंद कर देता है, बल्कि उसके सभी कर्म अब स्वतः ही निष्काम हो जाते हैं। उसे कर्म करने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता, क्योंकि अब उसका मन सदैव परमात्मा में लगा रहता है। ऐसे योगी के लिए कर्म और ध्यान में कोई अंतर नहीं रह जाता। वह कर्म करते हुए भी ध्यान में रहता है और ध्यान करते हुए भी उसके कर्म स्वतः होते रहते हैं।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: कर्म और ध्यान के बीच क्या संबंध है?

6.1.3 योगारूढ़ साधक की अवस्था : योगारूढ़ वह साधक है जो योग की उच्चतम अवस्था को प्राप्त कर चुका है। जब साधक निरंतर अभ्यास और वैराग्य के द्वारा अपने मन को पूर्णतः वश में कर लेता है, जब उसकी सभी इंद्रियाँ और मन एकमात्र परमात्मा में ही लगे रहते हैं, तब वह योगारूढ़ कहलाता है। योगारूढ़ साधक के लिए अब कोई बाहरी साधन की आवश्यकता नहीं रहती। उसका मन सदैव परमात्मा में स्थित रहता है, चाहे वह किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो।

योगारूढ़ साधक की पहचान यह है कि वह सभी विषयों और संकल्पों से रहित हो जाता है। उसके मन में अब किसी सांसारिक वस्तु की इच्छा नहीं रहती। वह न सुख से प्रसन्न होता है और न दुःख से दुःखी। उसके लिए सोना और मिट्टी, मित्र और शत्रु, सम्मान और अपमान सब एक समान हो जाते हैं। ऐसा साधक सदैव परमात्मा के आनंद में डूबा रहता है और बाहरी परिस्थितियों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भगवान कृष्ण ने कहा है कि जब साधक की यह अवस्था आ जाती है, तब समझना चाहिए कि वह योगारूढ़ हो गया है।

योगारूढ़ साधक की एक और विशेषता यह है कि वह सर्वत्र परमात्मा को देखता है और परमात्मा में

सबको देखता है। उसके लिए अब कोई पराया नहीं रहता, सब अपने हो जाते हैं, क्योंकि वह जानता है कि सभी में वही एक परमात्मा विद्यमान है। ऐसा योगी सब प्राणियों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानता है। वह किसी से द्वेष नहीं करता और सबके प्रति समान भाव रखता है। यही योगारूढ़ साधक की सर्वोच्च अवस्था है जिसमें वह परमात्मा के साथ पूर्णतः एकाकार हो जाता है और सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाता है।

6.1.4 योगी के लक्षण : सच्चे योगी के लक्षणों का वर्णन करते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने बताया है कि योगी वह है जो समदर्शी होता है। समदर्शिता योगी का सबसे बड़ा लक्षण है। जो व्यक्ति मित्र और शत्रु, सम्मान और अपमान, सुख और दुःख, सर्दी और गर्मी में समान भाव रखता है, वही सच्चा योगी है। ऐसा योगी किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होता। उसका मन सदैव शांत और स्थिर रहता है। बाहरी परिस्थितियाँ उसके मन को कभी डिगा नहीं सकतीं, क्योंकि वह जानता है कि ये सब परिवर्तनशील हैं और केवल परमात्मा ही शाश्वत सत्य है।

योगी का दूसरा महत्वपूर्ण लक्षण है संतोष। जो व्यक्ति ज्ञान और विज्ञान से तृप्त है, जिसकी इन्द्रियाँ पूर्णतः जीती हुई हैं, और जो मिट्टी, पत्थर और सोने को समान समझता है, वह योगी कहलाता है। संतोष का अर्थ है किसी भी परिस्थिति में प्रसन्न रहना। योगी को न तो किसी वस्तु की कमी खलती है और न ही किसी वस्तु के मिलने से अतिरिक्त प्रसन्नता होती है। वह जो कुछ भी है उसी में संतुष्ट रहता है, क्योंकि उसे पता है कि असली संतुष्टि बाहरी वस्तुओं में नहीं, बल्कि आंतरिक शांति में है।

योगी का तीसरा लक्षण है सर्वभूतहित में लगे रहना। सच्चा योगी केवल अपने हित के बारे में नहीं सोचता, बल्कि सब प्राणियों के हित में लगा रहता है। वह सबको समान भाव से देखता है और सबके प्रति करुणा और प्रेम का भाव रखता है। चाहे कोई उसके साथ अच्छा व्यवहार करे या बुरा, वह सबके प्रति समान भाव रखता है। योगी किसी से द्वेष नहीं करता और न ही किसी से राग रखता है। उसका मन सदैव निर्मल और पवित्र रहता है। ऐसा योगी सच्चा साधक है जो परमात्मा को प्राप्त करने योग्य हो जाता है। भगवान कृष्ण ने कहा है कि ऐसा योगी उन्हें अत्यंत प्रिय है।

योगी के तीन प्रमुख लक्षण हैं – पहला, समदर्शिता अर्थात् मित्र-शत्रु, सुख-दुःख, सम्मान-अपमान में समान भाव रखना। दूसरा, संतोष अर्थात् जो कुछ भी प्राप्त है उसी में तृप्त रहना और मिट्टी-सोना सबको समान समझना। तीसरा, सर्वभूतहित में लगे रहना अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति करुणा और प्रेम का भाव रखना तथा सबके हित में कार्य करना। ऐसा योगी किसी से राग-द्वेष नहीं करता और सदैव निर्मल मन से रहता है।

6.1.5 योगी का आहार विहार : योग साधना में केवल मानसिक अभ्यास ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि शारीरिक अनुशासन भी उतना ही महत्वपूर्ण है। भगवान श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया है कि जो व्यक्ति अत्यधिक भोजन करता है या बिल्कुल भोजन नहीं करता, जो अत्यधिक सोता है या बिल्कुल नहीं सोता, वह योग में सफल नहीं हो सकता। योग में सफलता के लिए मध्यम मार्ग अपनाना आवश्यक है। आहार, निद्रा, जागरण और सभी क्रियाओं में संतुलन होना चाहिए। जो साधक इस संतुलन को बनाए रखता है, वही योग में सफल होता है और सभी दुःखों का नाश कर पाता है।

आहार के विषय में भगवान ने बताया है कि योगी को सात्विक, पौष्टिक और मध्यम मात्रा में भोजन करना चाहिए। अत्यधिक तीखा, खट्टा, गर्म या बासी भोजन योग साधना में बाधक होता है। योगी को ऐसा भोजन करना चाहिए जो शरीर को स्वस्थ रखे, मन को शांत रखे और बुद्धि को स्वच्छ बनाए। भोजन करते समय योगी को यह भावना रखनी चाहिए कि वह परमात्मा को भोग लगा रहा है। इस प्रकार भोजन भी एक आध्यात्मिक क्रिया बन जाती है। योगी को कभी भी पेट भरकर भोजन नहीं करना चाहिए, बल्कि थोड़ा स्थान खाली रखना चाहिए जिससे पाचन क्रिया ठीक रहे और मन हल्का रहे।

विहार अर्थात् व्यवहार और दिनचर्या के विषय में भगवान ने कहा है कि योगी को नियमित दिनचर्या का पालन करना चाहिए। उसे प्रातःकाल उठना चाहिए, स्नान करना चाहिए, और फिर ध्यान—साधना करनी चाहिए। दिन भर के कार्यों में भी योगी को सजगता बनाए रखनी चाहिए। उसे अनावश्यक बातचीत से बचना चाहिए और एकांत में रहने का प्रयास करना चाहिए। रात को सोने से पहले भी थोड़ा ध्यान करना चाहिए। निद्रा न अधिक होनी चाहिए और न ही बहुत कम। जो व्यक्ति ऐसी संतुलित दिनचर्या का पालन करता है, वह शीघ्र ही योग में स्थिर हो जाता है और आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त कर लेता है।

6.2 ज्ञान विज्ञान योग

भगवद्गीता का सातवाँ अध्याय ज्ञान और विज्ञान योग के विषय में है। इस अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने अपने स्वरूप का, अपनी महिमा का और भक्ति के महत्व का वर्णन किया है। यहाँ ज्ञान का अर्थ है परमात्मा के तत्व का सामान्य ज्ञान और विज्ञान का अर्थ है परमात्मा के तत्व का पूर्ण और प्रत्यक्ष अनुभव। जो व्यक्ति केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह परमात्मा के बारे में जान लेता है, किंतु जो विज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह परमात्मा को प्रत्यक्ष अनुभव कर लेता है। इस अध्याय में भगवान ने बताया है कि जो भक्त उनकी शरण में आता है और उनका निरंतर चिंतन करता है, वह ज्ञान और विज्ञान दोनों को प्राप्त कर लेता है।

6.2.1 परमात्मा का ज्ञान : परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना इस जगत में सबसे कठिन कार्य है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि हजारों मनुष्यों में से कोई एक मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करता है और उन यत्न करने वालों में से भी कोई विरला ही मुझे तत्व से जान पाता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य माया के प्रभाव में रहता है और सांसारिक विषयों में उलझा रहता है। उसे यह पता ही नहीं चलता कि परमात्मा क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है। जो व्यक्ति परमात्मा को जानने का प्रयत्न करता है, उसे सबसे पहले यह समझना होता है कि यह जगत परमात्मा की माया से उत्पन्न हुआ है और परमात्मा ही इस सबका आधार है।

भगवान श्रीकृष्ण ने बताया है कि उनकी प्रकृति दो प्रकार की है — एक अपरा प्रकृति और दूसरी परा प्रकृति। अपरा प्रकृति वह है जो आठ भागों में विभक्त है — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। यह सब जड़ प्रकृति है जो हमें दिखाई देती है। किंतु इसके अतिरिक्त उनकी एक और प्रकृति है जो चेतन है, जो जीवरूपा है, और जिससे यह सारा जगत धारण किया जाता है। वह परा प्रकृति है। जब साधक इन दोनों प्रकृतियों को समझ लेता है और यह जान लेता है कि परमात्मा ही इन दोनों का आधार है, तब उसे परमात्मा का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

परमात्मा का ज्ञान केवल बुद्धि से प्राप्त नहीं होता, बल्कि इसके लिए हृदय की शुद्धि आवश्यक है। जब साधक का हृदय पूर्णतः शुद्ध हो जाता है, जब उसमें राग—द्वेष, काम—क्रोध आदि विकार नहीं रहते, तब परमात्मा का ज्ञान स्वतः उदित हो जाता है। भगवान ने कहा है कि वे सब भूतों के आदि, मध्य और अंत हैं। इस जगत में जो कुछ भी है, वह सब उन्हीं से उत्पन्न होता है, उन्हीं में स्थित रहता है और अंत में उन्हीं में लीन हो जाता है। जो साधक इस सत्य को समझ लेता है, वह परमात्मा को जान लेता है और सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाता है। भगवान की अपरा प्रकृति जड़ है जो आठ भागों में विभक्त है — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। यह वह प्रकृति है जो हमें दिखाई देती है और जिससे यह जगत बना है। किंतु परा प्रकृति चेतन है, जीवरूपा है, जो इस सारे जगत को धारण करती है। परा प्रकृति ही जीवात्मा है। यह जीवात्मा चेतन है और यही शरीर में रहकर सभी क्रियाओं को संपन्न करती है। जब जीवात्मा शरीर में प्रवेश करती है, तो शरीर जीवित हो जाता है। वह चलता है, बोलता है, सोचता है, अनुभव करता है। किंतु जब जीवात्मा शरीर से निकल जाती है, तो वही शरीर मृत हो जाता है। यह जीवात्मा ही परा प्रकृति है जो जड़ शरीर को चेतन बनाती है। भगवान ने कहा है कि यह जीवरूपा परा प्रकृति ही इस संसार को धारण करती है।

इसके बिना यह संसार चल ही नहीं सकता। जड़ प्रकृति केवल निष्क्रिय पदार्थ है, किंतु चेतन प्रकृति ही इसमें प्राण फूंकती है और इसे गतिशील बनाती है।

भगवान ने यह भी स्पष्ट किया है कि ये दोनों प्रकृतियाँ मेरी ही हैं। अपरा प्रकृति भी मुझसे उत्पन्न हुई है और परा प्रकृति भी मुझसे उत्पन्न हुई है। मैं ही इन दोनों का आधार हूँ। इस संपूर्ण जगत में मुझसे परे कुछ भी नहीं है। जैसे सूत में मणियाँ गुँथी होती हैं, वैसे ही यह सारा जगत मुझमें गुँथा हुआ है। इससे यह स्पष्ट होता है कि परमात्मा ही इस जगत का मूल कारण है। जड़ और चेतन दोनों उसी से उत्पन्न हुए हैं। परमात्मा ही सर्वव्यापी है, सर्वशक्तिमान है और सबका नियंता है। जो साधक इस सत्य को समझ लेता है, वह परमात्मा को जान लेता है।

भगवान ने आगे बताया है कि मैं ही जल में रस हूँ, सूर्य और चंद्रमा में प्रकाश हूँ, वेदों में ओंकार हूँ, आकाश में शब्द हूँ और पुरुषों में पुरुषत्व हूँ। मैं ही पृथ्वी में गंध हूँ, अग्नि में तेज हूँ, सब भूतों में जीवन हूँ और तपस्वियों में तप हूँ। इन वाक्यों से भगवान यह बता रहे हैं कि इस जगत में जो कुछ भी सार तत्व है, जो कुछ भी शक्ति है, जो कुछ भी सुंदरता है, वह सब मैं ही हूँ। जल का रस परमात्मा है, सूर्य का प्रकाश परमात्मा है, मनुष्य का जीवन परमात्मा है। परमात्मा ही सर्वत्र विद्यमान है, केवल उसके विभिन्न रूप हैं। जो साधक इस सत्य को समझ लेता है, वह सर्वत्र परमात्मा को ही देखने लगता है।

किंतु भगवान ने यह भी चेतावनी दी है कि मेरी यह माया अत्यंत दुस्तर है। साधारण मनुष्य इस माया को पार नहीं कर पाते। वे जड़ प्रकृति को ही सत्य मान लेते हैं और परमात्मा को भूल जाते हैं। वे सोचते हैं कि यह शरीर ही मैं हूँ, यह धन—संपत्ति ही मेरी है, यह परिवार ही मेरा है। वे नहीं जानते कि यह सब नश्वर है और केवल परमात्मा ही शाश्वत सत्य है। जो व्यक्ति मेरी शरण में आ जाता है, केवल वही इस माया को पार कर पाता है। जो मुझे जान लेता है, वह समझ जाता है कि मैं ही अपरा और परा दोनों प्रकृतियों का आधार हूँ, और इस संपूर्ण जगत में मुझसे परे कुछ भी नहीं है। ऐसा ज्ञानी साधक मुझे प्राप्त कर लेता है और जन्म—मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: भगवान की अपरा और परा प्रकृति में क्या अंतर है?

सच्ची भक्ति : सच्ची भक्ति केवल मंदिर जाना, पूजा—पाठ करना या धार्मिक अनुष्ठान करना नहीं है। सच्ची भक्ति का अर्थ है परमात्मा के प्रति अनन्य प्रेम और पूर्ण समर्पण। जब भक्त का हृदय परमात्मा के प्रेम से भर जाता है, जब उसका मन सदैव परमात्मा में ही लगा रहता है, जब वह सोते—जागते, उठते—बैठते, खाते—पीते सदैव परमात्मा का ही स्मरण करता है, तब वह सच्ची भक्ति है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि जो भक्त अनन्यचित्त होकर मेरा निरंतर स्मरण करता है, उसके लिए मैं सुलभ हूँ। अनन्यचित्त का अर्थ है ऐसा चित्त जो किसी अन्य में नहीं लगता, केवल परमात्मा में ही लगा रहता है। ऐसी भक्ति में भक्त और भगवान के बीच प्रेम का अटूट संबंध स्थापित हो जाता है।

भक्ति के मुख्यतः दो स्वरूप हैं — सकाम भक्ति और निष्काम भक्ति। सकाम भक्ति वह है जिसमें भक्त परमात्मा से कुछ न कुछ चाहता है। वह कहता है कि हे भगवान, मुझे धन दो, संपत्ति दो, सुख दो, मेरी इच्छा पूर्ण करो। ऐसा भक्त भगवान से सौदा करता है। वह कुछ देता है और बदले में कुछ पाना चाहता है। वह ब्रत रखता है, पूजा करता है, दान देता है, किंतु उसका उद्देश्य यह है कि भगवान उसकी इच्छाओं को पूर्ण करें। सकाम भक्ति में भक्त का प्रेम वास्तव में परमात्मा से नहीं होता, बल्कि उन वस्तुओं से होता है जो वह परमात्मा से चाहता है। यदि भगवान उसकी इच्छा पूर्ण कर देते हैं तो वह प्रसन्न होता है, और यदि नहीं करते तो वह

दुःखी हो जाता है या भगवान से नाराज हो जाता है।

निष्काम भक्ति वह है जिसमें भक्त परमात्मा से कुछ नहीं चाहता। वह कहता है कि हे प्रभु, मुझे न धन चाहिए, न संपत्ति, न सुख—सुविधा, केवल तुम्हारी भक्ति चाहिए। मुझे केवल तुम्हारा प्रेम चाहिए। ऐसा भक्त परमात्मा से स्वयं परमात्मा को माँगता है, न कि परमात्मा से कोई सांसारिक वस्तु। निष्काम भक्त का प्रेम शुद्ध और निःस्वार्थ होता है। वह परमात्मा से इसलिए प्रेम करता है क्योंकि परमात्मा प्रेम के योग्य हैं, न कि इसलिए कि परमात्मा से कुछ मिल सकता है। ऐसी भक्ति में भक्त सब कुछ परमात्मा को अर्पित कर देता है — अपना शरीर, अपना मन, अपना जीवन, अपनी सभी क्रियाएँ। वह कहता है कि हे प्रभु, मैं तुम्हारा हूँ और सब कुछ तुम्हारा है।

निष्काम भक्ति की एक विशेषता यह है कि इसमें भक्त का अहंकार पूर्णतः समाप्त हो जाता है। सकाम भक्ति में भक्त यह सोचता है कि मैं पूजा कर रहा हूँ, मैं व्रत रख रहा हूँ, मैं दान दे रहा हूँ, इसलिए भगवान को मेरी इच्छा पूर्ण करनी चाहिए। यहाँ अहंकार है। किंतु निष्काम भक्ति में भक्त यह जानता है कि मैं कुछ भी नहीं हूँ, सब कुछ भगवान ही हैं। यदि मैं पूजा कर पा रहा हूँ तो यह भी भगवान की कृपा से है। यदि मैं उनका नाम ले पा रहा हूँ तो यह भी उनकी कृपा से है। इस प्रकार निष्काम भक्त पूर्णतः विनम्र हो जाता है और अहंकार से मुक्त हो जाता है। जहाँ अहंकार नहीं है, वहाँ परमात्मा स्वयं प्रकट हो जाते हैं।

निष्काम भक्ति का दूसरा स्वरूप है शरणागति। शरणागति का अर्थ है अपने आप को पूर्णतः परमात्मा को समर्पित कर देना। भक्त कहता है कि हे प्रभु, अब मैं कुछ भी नहीं करूँगा। जो तुम्हारी इच्छा होगी, वही होगा। मैं तुम्हारे हाथों की कठपुतली हूँ। तुम जैसे नचाओ, मैं वैसे नाचूँगा। ऐसा भक्त सभी चिंताओं से मुक्त हो जाता है। वह जानता है कि भगवान उसकी देखभाल कर रहे हैं। उसे किसी बात की चिंता नहीं रहती। भगवान ने गीता में आश्वासन दिया है कि जो भक्त मुझमें मन को लगाकर मेरी शरण में रहता है, मैं उसका योगक्षेम वहन करता हूँ। योगक्षेम का अर्थ है जो प्राप्त नहीं है उसे प्राप्त करा देना और जो प्राप्त है उसकी रक्षा करना। इस प्रकार शरणागत भक्त को किसी भी प्रकार की चिंता नहीं रहती।

निष्काम भक्ति का तीसरा स्वरूप है निरंतर स्मरण। सच्चा भक्त एक दिन या एक घंटे भगवान को याद नहीं करता, बल्कि वह सदैव भगवान का स्मरण करता रहता है। चाहे वह कोई भी कार्य कर रहा हो, उसके मन में भगवान का नाम चलता रहता है। वह भोजन करते समय सोचता है कि यह भोजन भगवान का प्रसाद है। वह काम करते समय सोचता है कि मैं भगवान के लिए यह काम कर रहा हूँ। वह सोते समय भी भगवान का स्मरण करता है। इस प्रकार उसका संपूर्ण जीवन भक्तिमय हो जाता है। ऐसे भक्त के लिए संसार और परमात्मा में कोई अंतर नहीं रह जाता। वह सर्वत्र भगवान को ही देखता है और सब कार्यों को भगवान की सेवा के रूप में करता है।

निष्काम भक्ति सकाम भक्ति से श्रेष्ठ है क्योंकि निष्काम भक्ति भक्त को परमात्मा तक ले जाती है, जबकि सकाम भक्ति केवल सांसारिक सुखों तक ले जाती है। सकाम भक्त भले ही धन—संपत्ति प्राप्त कर ले, किंतु वह जन्म—मृत्यु के चक्र से मुक्त नहीं हो सकता। उसे बार—बार जन्म लेना पड़ता है और कर्मों का फल भोगना पड़ता है। किंतु निष्काम भक्त परमात्मा को प्राप्त कर लेता है और जन्म—मृत्यु के चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। भगवान ने कहा है कि जो भक्त मुझे पत्र, पुष्प, फल या जल भी प्रेम से अर्पित करता है, मैं उसे स्वीकार कर लेता हूँ। यहाँ महत्वपूर्ण यह नहीं है कि भक्त क्या अर्पित कर रहा है, बल्कि यह है कि वह कितने प्रेम से अर्पित कर रहा है। जहाँ सच्चा प्रेम है, वहाँ भगवान स्वयं उपस्थित हो जाते हैं। योगारूढ़ साधक वह है जो योग की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त कर चुका है।

जब साधक निरंतर अभ्यास और वैराग्य के द्वारा अपने मन को पूर्णतः वश में कर लेता है, जब उसकी

समस्त इंद्रियाँ और मन केवल परमात्मा में ही लगे रहते हैं, तब उसे योगारूढ़ कहा जाता है। यह योग साधना की वह अवस्था है जहाँ पहुँचकर साधक को किसी बाहरी साधन या प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती। उसका मन स्वतः ही परमात्मा में स्थित रहता है। वह चाहे जागता हो या सोता हो, चाहे किसी भी कार्य में लगा हो, उसकी चेतना सदैव परमात्मा में ही केंद्रित रहती है। यह अवस्था अत्यंत दुर्लभ है और केवल वही साधक इसे प्राप्त कर सकता है जिसने जन्म-जन्मांतरों तक साधना की हो।

योगारूढ़ साधक की पहली विशेषता यह है कि उसके मन में किसी भी सांसारिक वस्तु या व्यक्ति के प्रति आसक्ति नहीं रहती। वह न धन चाहता है, न संपत्ति, न यश, न कीर्ति। उसे इस बात की भी चिंता नहीं रहती कि लोग उसके बारे में क्या सोचते हैं या कहते हैं। वह पूर्णतः निर्लिप्त हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि जब साधक इंद्रियों के सभी विषयों से और सभी संकल्पों से रहित हो जाता है, तब वह योगारूढ़ कहलाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह संसार छोड़कर जंगल में चला जाता है, बल्कि वह संसार में रहते हुए भी संसार से निर्लिप्त रहता है। वह अपने कर्तव्यों का पालन करता है, किंतु उसका मन सदैव परमात्मा में लगा रहता है।

योगारूढ़ साधक का दूसरा महत्वपूर्ण लक्षण है समदर्शिता। वह सभी को समान भाव से देखता है। उसके लिए मित्र और शत्रु, अपना और पराया, सम्मान और अपमान, सुख और दुःख सब एक समान हैं। कोई उसकी प्रशंसा करे या निंदा, वह समान भाव से रहता है। कोई उसे सोना दे या मिट्टी, उसके लिए कोई अंतर नहीं है। यह समदर्शिता ही योगी का सबसे बड़ा गुण है। ऐसा योगी किसी से द्वेष नहीं करता और न ही किसी से अधिक प्रेम करता है। वह सबके प्रति समान भाव रखता है क्योंकि वह जानता है कि सभी में वही एक परमात्मा विद्यमान है। वह शरीर को नहीं देखता, बल्कि आत्मा को देखता है, और सभी की आत्मा तो एक ही परमात्मा का अंश है।

योगारूढ़ साधक की तीसरी विशेषता है आंतरिक शांति और आनंद। ऐसा साधक सदैव आनंद में रहता है। उसका आनंद बाहरी वस्तुओं पर निर्भर नहीं करता। सांसारिक लोग धन मिलने पर प्रसन्न होते हैं और धन चले जाने पर दुःखी हो जाते हैं। किसी से प्रशंसा मिलने पर खुश होते हैं और निंदा सुनकर दुःखी हो जाते हैं। किंतु योगारूढ़ साधक का आनंद आंतरिक है। वह परमात्मा के आनंद में डूबा रहता है। बाहरी परिस्थितियों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह जानता है कि यह संसार नश्वर है और केवल परमात्मा ही शाश्वत सत्य है। इसलिए वह सांसारिक सुख-दुःख से परे होकर परमात्मा के आनंद में स्थित रहता है।

योगारूढ़ साधक का चौथा लक्षण है कि वह सर्वत्र परमात्मा को देखता है। उसके लिए अब कोई अलग नहीं है। वह जहाँ भी देखता है, वहाँ परमात्मा को ही देखता है। वृक्ष में, पत्थर में, जीव-जंतुओं में, मनुष्यों में सब जगह उसे परमात्मा ही दिखाई देता है। यह अद्वैत दृष्टि है। भगवान् ने कहा है कि जो योगी मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, मैं उससे कभी ओझल नहीं होता और वह मुझसे ओझल नहीं होता। ऐसा योगी सबके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानता है। यदि किसी को दुःख होता है तो वह भी दुःखी हो जाता है, और यदि किसी को सुख होता है तो वह भी सुखी हो जाता है। इस प्रकार वह सबके साथ एकता का अनुभव करता है।

योगारूढ़ साधक का पाँचवाँ लक्षण है कि उसका मन कभी विचलित नहीं होता। प्रबल आँधी भी दीपक की लौ को हिला देती है, किंतु योगारूढ़ साधक के मन को कोई भी परिस्थिति विचलित नहीं कर सकती। भगवान् ने इसकी तुलना पवनरहित स्थान में स्थित दीपक से की है जो स्थिर रहता है और कंपन नहीं करता। इसी प्रकार योगारूढ़ साधक का मन सदैव स्थिर रहता है। कोई भी परिस्थिति, चाहे वह कितनी भी कठिन क्यों

न हो, उसके मन को डिगा नहीं सकती। वह जानता है कि ये सब परिस्थितियाँ परिवर्तनशील हैं और परमात्मा की इच्छा से ही हो रही हैं।

बोध प्रश्न—:

प्रश्न—1 ध्यान योग का क्या अर्थ है?

प्रश्न—2 योगारूढ़ साधक किसे कहते हैं?

6.2.2 भक्तों के प्रकार : भगवान श्रीकृष्ण ने बताया है कि चार प्रकार के सुकृती लोग उनकी भक्ति करते हैं। पहले हैं आर्त, अर्थात् वे लोग जो दुःख में पड़कर भगवान को पुकारते हैं। जब मनुष्य किसी विपत्ति में फँस जाता है, जब उसे कोई भी मार्ग नहीं सूझता, तब वह भगवान को याद करता है और उनसे प्रार्थना करता है कि वे उसे इस संकट से निकालें। यद्यपि ऐसे भक्त का उद्देश्य केवल अपने दुःख को दूर करना होता है, फिर भी भगवान उसे भी अपना भक्त मानते हैं, क्योंकि वह उनकी शरण में आया है।

दूसरे प्रकार के भक्त हैं अर्थार्थी, अर्थात् वे जो धन, संपत्ति, सुख—सुविधा की प्राप्ति के लिए भगवान की उपासना करते हैं। ऐसे भक्त मंदिरों में जाते हैं, पूजा—पाठ करते हैं और भगवान से अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रार्थना करते हैं। यद्यपि उनका उद्देश्य भी स्वार्थपूर्ण है, फिर भी वे भगवान को याद करते हैं और उनकी शरण में आते हैं, इसलिए वे भी भक्तों की श्रेणी में आते हैं। भगवान ऐसे भक्तों की भी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं और धीरे—धीरे उन्हें निष्काम भक्ति की ओर ले जाते हैं।

तीसरे प्रकार के भक्त हैं जिज्ञासु, अर्थात् वे जो परमात्मा को जानने की इच्छा से उनकी उपासना करते हैं। ऐसे भक्तों को धन—संपत्ति की इच्छा नहीं होती, न ही वे किसी विपत्ति से घिरे होते हैं, बल्कि उनके मन में यह जिज्ञासा होती है कि परमात्मा कौन है, वह कैसा है, उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है। ऐसे भक्त शास्त्रों का अध्ययन करते हैं, संतों का सत्संग करते हैं और परमात्मा के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करते हैं। ये भक्त पहले दो प्रकार के भक्तों से श्रेष्ठ हैं क्योंकि इनका उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना है।

चौथे और सर्वोच्च प्रकार के भक्त हैं ज्ञानी, अर्थात् वे जिन्होंने परमात्मा को जान लिया है और जो निरंतर उनके स्वरूप में स्थित रहते हैं। ऐसे भक्त को किसी वस्तु की इच्छा नहीं रहती, न उसे कोई दुःख होता है, क्योंकि वह जानता है कि परमात्मा के अतिरिक्त इस जगत में कुछ भी नहीं है। ज्ञानी भक्त को भगवान अत्यंत प्रिय हैं और भगवान को भी ज्ञानी भक्त अत्यंत प्रिय है। भगवान ने कहा है कि ज्ञानी भक्त मेरा आत्मा ही है, क्योंकि वह सदैव मुझमें ही स्थित रहता है। ये चारों प्रकार के भक्त सुकृती हैं और सभी मुझे प्रिय हैं, किंतु ज्ञानी भक्त सर्वश्रेष्ठ है।

6.2.3 भक्ति के स्वरूप : भक्ति केवल पूजा—पाठ करना या मंदिर जाना नहीं है, बल्कि भक्ति का अर्थ है परमात्मा के प्रति अनन्य प्रेम और समर्पण। सच्ची भक्ति वह है जिसमें भक्त परमात्मा के अतिरिक्त और किसी को नहीं चाहता। उसका मन सदैव परमात्मा में ही लगा रहता है। चाहे वह कोई भी कार्य करे, उसकी स्मृति में परमात्मा सदैव बने रहते हैं। ऐसी भक्ति को अनन्य भक्ति कहा जाता है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि जो भक्त मुझमें मन को लगाकर मेरी शरण में रहता है, मैं उसका योगक्षेम वहन करता हूँ। योगक्षेम का अर्थ है जो प्राप्त नहीं है उसे प्राप्त करा देना और जो प्राप्त है उसकी रक्षा करना।

भक्ति में सबसे महत्वपूर्ण है निष्काम भाव। जब भक्त भगवान से कुछ नहीं चाहता, केवल उनका प्रेम और उनकी कृपा चाहता है, तब वह सच्ची भक्ति है। सकाम भक्ति में भक्त भगवान से कुछ न कुछ मांगता रहता है,

किंतु निष्काम भक्ति में भक्त केवल भगवान को चाहता है। वह कहता है कि हे प्रभु, मुझे न धन चाहिए, न संपत्ति, न सुख—सुविधा, केवल आपकी भक्ति चाहिए। ऐसी भक्ति भगवान को अत्यंत प्रिय है। भगवान ने कहा है कि जो भक्त मुझे पत्र, पुष्प, फल या जल भी प्रेम से अर्पित करता है, मैं उसे स्वीकार कर लेता हूँ। यहाँ महत्वपूर्ण यह नहीं है कि भक्त क्या अर्पित कर रहा है, बल्कि यह है कि वह कितने प्रेम से अर्पित कर रहा है।

भक्ति का एक और महत्वपूर्ण स्वरूप है शरणागति। शरणागति का अर्थ है अपने आप को पूर्णतः भगवान को समर्पित कर देना। जब भक्त यह मान लेता है कि मैं कुछ नहीं हूँ, सब कुछ भगवान ही हैं, और मेरा जीवन, मेरा शरीर, मेरा मन सब कुछ उन्हीं का है, तब वह शरणागत भक्त कहलाता है। ऐसा भक्त किसी भी परिस्थिति में घबराता नहीं है, क्योंकि वह जानता है कि भगवान उसकी देखभाल कर रहे हैं। वह अपने कर्मों के फल की चिंता नहीं करता, बल्कि सब कुछ भगवान पर छोड़ देता है। भगवान ने आश्वासन दिया है कि जो भक्त मेरी शरण में आ जाता है, मैं उसे सभी पापों से मुक्त कर देता हूँ और उसे अपनी शाश्वत शांति प्रदान करता हूँ।

भक्ति में एक और आवश्यक तत्व है निरंतरता। एक—दो दिन भजन करने से कोई भक्त नहीं बन जाता। भक्ति तो जीवन भर की साधना है। जो भक्त प्रतिदिन भगवान का स्मरण करता है, प्रतिदिन उनका नाम लेता है, प्रतिदिन उनका ध्यान करता है, वही सच्चा भक्त है। भगवान ने कहा है कि जो भक्त अनन्यचित्त होकर निरंतर मेरा स्मरण करता है, उसके लिए मैं सुलभ हूँ। भक्ति में सबसे बड़ी शक्ति है प्रेम। जहाँ प्रेम है, वहाँ सब कुछ है। जो भक्त भगवान से सच्चा प्रेम करता है, भगवान भी उससे उतना ही प्रेम करते हैं और उसे अपने पास बुला लेते हैं। अनन्यता अर्थात् केवल परमात्मा में ही मन लगाना और किसी अन्य को न चाहना। निष्काम भाव अर्थात् भगवान से कुछ न मांगना, केवल उनका प्रेम चाहना। शरणागति अर्थात् अपने आप को पूर्णतः भगवान को समर्पित कर देना। निरंतरता अर्थात् प्रतिदिन भगवान का स्मरण, नाम और ध्यान करना। और प्रेम, जो भक्ति की आत्मा है। जहाँ सच्चा प्रेम है, वहाँ भगवान स्वयं प्रकट हो जाते हैं।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: भक्ति के प्रमुख तत्व कौन से हैं?

सारांश

इस इकाई में हमने भगवद्गीता के छठे और सातवें अध्याय का विस्तृत अध्ययन किया। छठे अध्याय में ध्यान योग के विषय में विस्तार से चर्चा की गई है। हमने सीखा कि ध्यान योग मन और इंद्रियों को एकाग्र करके परमात्मा में स्थिर होने की प्रक्रिया है। अभ्यास योग में निरंतरता, आत्मसंयम और धैर्य अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। ध्यान में कर्म की महत्वपूर्ण भूमिका है क्योंकि निष्काम कर्म मन को शुद्ध करते हैं और शुद्ध मन ही ध्यान में स्थिर हो सकता है। योगारूढ़ साधक वह है जो योग की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त कर चुका है और उसका मन सदैव परमात्मा में स्थित रहता है।

योगी के प्रमुख लक्षणों में समदर्शिता, संतोष और सर्वभूतहित प्रमुख हैं। योगी को अपने आहार—विहार में भी संतुलन रखना चाहिए। अत्यधिक या बहुत कम भोजन, निद्रा या किसी भी क्रिया से योग साधना में बाधा आती है। सातवें अध्याय में परमात्मा के ज्ञान और विज्ञान का वर्णन किया गया है। भगवान की दो प्रकृतियाँ हैं — अपरा प्रकृति जो जड़ है और परा प्रकृति जो चेतन है। दोनों प्रकृतियों का आधार परमात्मा ही है।

भक्तों के चार प्रकार हैं — आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। इनमें से ज्ञानी भक्त भगवान को सर्वाधिक प्रिय है क्योंकि उसने परमात्मा को तत्व से जान लिया है और उसकी भक्ति पूर्णतः निष्काम है। सच्ची भक्ति में

अनन्यता, निष्काम भाव, शरणागति और निरंतर स्मरण प्रमुख तत्व हैं। निष्काम भक्ति सकाम भक्ति से श्रेष्ठ है क्योंकि यह भक्त को परमात्मा तक ले जाती है और जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति दिलाती है। इस प्रकार यह इकाई हमें ध्यान योग और भक्ति योग के माध्यम से परमात्मा को प्राप्त करने का संपूर्ण मार्ग दिखाती है। वातमा है जो शरीर में रहकर इस जगत का अनुभव करती है। दोनों प्रकृतियों का आधार परमात्मा ही है। ध्यान योग भगवद्गीता में वर्णित योग की एक महत्वपूर्ण विधा है जिसका वर्णन छठे अध्याय में विस्तार से किया गया है। ध्यान योग का अर्थ है अपने मन और इंद्रियों को एकाग्र करके परमात्मा के स्वरूप में स्थिर होना। यह केवल एक शारीरिक क्रिया नहीं है, बल्कि यह मन, बुद्धि और आत्मा को एक बिंदु पर केंद्रित करने की संपूर्ण प्रक्रिया है। ध्यान योग का उद्देश्य है चंचल मन को स्थिर करना और उसे परमात्मा में लगाना। जब मन पूर्णतः स्थिर हो जाता है और उसमें कोई संकल्प-विकल्प नहीं रहता, तब साधक समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेता है और परमात्मा का साक्षात्कार कर पाता है।

ध्यान योग में सफलता प्राप्त करने के लिए सबसे पहली आवश्यकता है आत्मसंयम। जब तक साधक अपनी इंद्रियों को वश में नहीं कर लेता, तब तक उसका मन भटकता रहेगा और ध्यान में स्थिर नहीं हो पाएगा। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया है कि जो व्यक्ति अपने मन और इंद्रियों का स्वामी बन जाता है, वह अपना सच्चा मित्र है, और जो इन्हें वश में नहीं कर पाता, वह स्वयं अपना शत्रु बन जाता है। इंद्रियाँ हमेशा विषयों की ओर दौड़ती हैं और मन को अपने साथ ले जाती हैं। साधक को चाहिए कि वह इंद्रियों को विषयों से हटाकर परमात्मा में लगाए। यह कार्य निश्चित रूप से कठिन है, किंतु असंभव नहीं है।

दूसरी महत्वपूर्ण बात है निरंतर अभ्यास। ध्यान योग में सफलता रातोंरात नहीं मिल सकती। इसके लिए दीर्घकाल तक निरंतर और नियमित अभ्यास करना पड़ता है। प्रारंभ में साधक को बहुत कठिनाई होती है। मन भटकता है, विचार आते-जाते रहते हैं, शरीर में बेचौनी होती है। किंतु यदि साधक धैर्य रखे और निरंतर अभ्यास करता रहे, तो धीरे-धीरे मन स्थिर होने लगता है। भगवान् ने कहा है कि अभ्यास और वैराग्य से मन को वश में किया जा सकता है। अभ्यास का अर्थ है बार-बार मन को परमात्मा में लगाने का प्रयत्न करना, और वैराग्य का अर्थ है विषयों से मन को हटाना।

तीसरी महत्वपूर्ण बात है उचित स्थान और समय का चुनाव। भगवान् ने बताया है कि साधक को एकांत, शुद्ध और समतल स्थान पर बैठकर ध्यान करना चाहिए। ऐसा स्थान जहाँ शोरगुल न हो, जहाँ मन शांत रह सके। बैठने के लिए साधक को कुश या मृगछाला बिछानी चाहिए जो न बहुत ऊँची हो और न बहुत नीची। शरीर, सिर और गर्दन को सीधा रखना चाहिए और दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर स्थिर करना चाहिए। इस प्रकार की शारीरिक व्यवस्था से मन स्थिर होने में सहायता मिलती है। समय के विषय में प्रातःकाल का समय सर्वोत्तम माना गया है क्योंकि उस समय मन शांत और स्वच्छ रहता है।

चौथी आवश्यकता है संतुलित आहार-विहार। भगवान् ने स्पष्ट किया है कि जो व्यक्ति अत्यधिक भोजन करता है या बिल्कुल नहीं करता, जो अत्यधिक सोता है या बिल्कुल नहीं सोता, वह योग में सफल नहीं हो सकता। साधक को मध्यम और सात्त्विक भोजन करना चाहिए। ऐसा भोजन जो शरीर को पुष्ट करे, मन को शांत रखे और बुद्धि को स्वच्छ बनाए। अत्यधिक तीखा, खट्टा या बासी भोजन ध्यान में बाधक होता है। इसी प्रकार निद्रा भी संतुलित होनी चाहिए। अत्यधिक नींद लेने से आलस्य आता है और बहुत कम नींद लेने से शरीर थक जाता है।

पाँचवीं बात है मन को धीरे-धीरे वश में करना। मन अत्यंत चंचल है। यह एक क्षण में एक विचार से दूसरे विचार पर चला जाता है। अर्जुन ने भी भगवान् से कहा था कि हे कृष्ण, यह मन बड़ा चंचल है, इसे वश में करना वायु को वश में करने के समान कठिन है। भगवान् ने स्वीकार किया कि मन को वश में करना कठिन अवश्य है, किंतु असंभव नहीं। अभ्यास और वैराग्य से इसे वश में किया जा सकता है। जब मन भटके तो उसे

धीरे से पुनः परमात्मा में लगाना चाहिए। ऐसा बार-बार करने से धीरे-धीरे मन की चंचलता कम होने लगती है।

छठी और अंतिम बात है दृढ़ संकल्प और धैर्य। ध्यान योग में सफलता के लिए साधक में दृढ़ संकल्प होना चाहिए। उसे यह निश्चय कर लेना चाहिए कि चाहे कुछ भी हो जाए, मैं ध्यान का अभ्यास करूँगा और परमात्मा को प्राप्त करूँगा। साथ ही धैर्य भी अत्यंत आवश्यक है। कभी-कभी बहुत दिनों तक अभ्यास करने पर भी प्रगति दिखाई नहीं देती, किंतु साधक को निराश नहीं होना चाहिए। भगवान ने आश्वासन दिया है कि योग में किया गया प्रयत्न कभी व्यर्थ नहीं जाता। थोड़ा सा भी अभ्यास साधक को बड़े भय से बचा लेता है। इस प्रकार यदि साधक इन सभी बातों का ध्यान रखे और निष्ठा से अभ्यास करे, तो वह निश्चित रूप से ध्यान योग में सफल हो जाता है और परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है।

6.3 बोध प्रश्न

प्रश्न-1 ध्यान योग क्या है? ध्यान योग में सफलता प्राप्त करने के लिए साधक को किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए? विस्तार से समझाइए।

प्रश्न-2 योगारूढ़ साधक किसे कहते हैं? योगारूढ़ साधक की अवस्था और उसके लक्षणों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

प्रश्न-3 योगी के तीन प्रमुख लक्षण बताइए।

प्रश्न-4 भक्तों के चार प्रकार कौन से हैं?

प्रश्न-5 ज्ञान और विज्ञान में क्या अंतर है?

प्रश्न-6 अपरा प्रकृति के आठ भाग कौन से हैं?

प्रश्न-7 परा प्रकृति क्या है?

प्रश्न-8 निष्काम भक्ति क्या है?

प्रश्न-9 योगी का आहार कैसा होना चाहिए?

प्रश्न-10 भगवान को कौन सा भक्त सर्वाधिक प्रिय है और क्यों?

खंड -3 : समग्र ज्ञान, दूरदर्शिता एवं विश्व-दृष्टि

खण्ड परिचय

यह खंड श्रीमद्भगवद्गीता के दार्शनिक, आध्यात्मिक और सार्वभौमिक संदेश को अत्यंत गहराई से प्रस्तुत करता है, जहाँ साधक की चेतना व्यक्तिगत सीमाओं से ऊपर उठकर समग्र मानवता और सम्पूर्ण सृष्टि से एकात्म हो जाती है। इस खंड का मूल उद्देश्य मनुष्य में दूरदर्शिता, व्यापक सोच और आध्यात्मिक विवेक का विकास करना है, ताकि वह जीवन की जटिल परिस्थितियों में भी सत्य, धर्म और कर्तव्य के मार्ग पर स्थिर रह सके। इकाई-7 समग्र ज्ञान में उस पूर्ण ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है जो आत्मा, प्रकृति और परमात्मा के तत्त्वज्ञान को एक सूत्र में पिरोता है। यहाँ ज्ञान को केवल शास्त्रीय या बौद्धिक स्तर तक सीमित न रखकर उसे अनुभूति और आचरण से जोड़ते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि सच्चा ज्ञान वही है जो अहंकार का क्षय कर समत्व, करुणा और विवेक को जन्म देता है तथा व्यक्ति को कर्मों के बंधन से ऊपर उठने की प्रेरणा देता है। इकाई-8 अक्षर ब्रह्म राजविद्या गीता के सर्वाधिक गूढ़ और श्रेष्ठ ज्ञान का निरूपण करती है, जिसे 'राजविद्या' और 'राजगुह्य' कहा गया है; इसमें अक्षर ब्रह्म के स्वरूप, ईश्वर की सर्वव्यापकता, भक्ति की महत्ता तथा ज्ञान-कर्म-भक्ति के समन्वय द्वारा मोक्षमार्ग को विस्तार से समझाया गया है। यह इकाई साधक को यह बोध कराती है कि संसार में रहते हुए, कर्म करते हुए भी ईश्वर से निरंतर जुड़ा रहना संभव है और यही जीवन की सर्वोच्च साधना है। इकाई-9 विभूति और विश्वरूप दर्शन में भगवान की दिव्य विभूतियों तथा उनके विराट, विश्वव्यापी स्वरूप का अत्यंत प्रभावशाली वर्णन है, जिसके माध्यम से साधक को यह अनुभूति होती है कि सम्पूर्ण जगत—चर और अचर, स्थूल और सूक्ष्म—एक ही परम सत्ता की अभिव्यक्ति है। यह दर्शन साधक के सीमित दृष्टिकोण को विस्तृत कर उसे विश्व-कल्याण, समर्पण और ईश्वर-साक्षात्कार की ओर प्रेरित करता है। इस प्रकार खंड का संपूर्ण अध्ययन व्यक्ति में गहन आध्यात्मिक परिपक्वता, उदात्त दृष्टि और जीवन के प्रति एक समन्वित, सकारात्मक तथा सार्वभौमिक दृष्टिकोण विकसित करता है, जो व्यक्तिगत उन्नति के साथ-साथ सामाजिक और वैश्विक चेतना के उत्थान में भी सहायक सिद्ध होता है।

संरचना

- 7.1 समग्र जानकारी
 - 7.1.1 अध्याय का परिचय
 - 7.1.2 परमात्मा का समग्र ज्ञान
 - 7.1.3 ज्ञान और विज्ञान का अर्थ
 - 7.1.4 ज्ञान-विज्ञान की दुर्लभता
- 7.2 भगवान की प्रकृति और शक्तियाँ
 - 7.2.1 प्रकृति के आठ तत्व
 - 7.2.2 अपरा और परा प्रकृति
 - 7.2.3 सृष्टि की उत्पत्ति
 - 7.2.4 भगवान की दिव्य शक्तियाँ
 - 7.2.5 माया का स्वरूप
- 7.3 भक्तों के प्रकार
 - 7.3.1 चार प्रकार के भक्त
 - 7.3.2 आर्त भक्त
 - 7.3.3 अर्थार्थी भक्त
 - 7.3.4 जिज्ञासु भक्त
 - 7.3.5 ज्ञानी भक्त
- 7.4 भक्ति के प्रकार
 - 7.4.1 सकाम भक्ति
 - 7.4.2 निष्काम भक्ति
 - 7.4.3 भगवान की प्राप्ति का मार्ग
 - 7.4.4 ज्ञानी भक्त की महिमा
- 7.5 बोध प्रश्न

7.1 समग्र जानकारी

7.1.1 अध्याय का परिचय : भगवद्गीता का सातवाँ अध्याय अत्यंत महत्वपूर्ण और विशिष्ट है। इस अध्याय को ज्ञान-विज्ञान योग कहा जाता है क्योंकि इसमें भगवान श्री कृष्ण ने ज्ञान और विज्ञान दोनों का

समन्वित रूप से वर्णन किया है। गीता के प्रथम छह अध्यायों में भगवान ने कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग और आत्मान के विषय में विस्तार से बताया था। अब सातवें अध्याय से भगवान अपने स्वरूप, अपनी शक्तियों और अपनी प्राप्ति के

साधनों का वर्णन प्रारंभ करते हैं। यह अध्याय गीता के उत्तर भाग का प्रवेश द्वार है जहाँ से भक्ति और भगवत्प्राप्ति की गहन चर्चा आरंभ होती है।

इस अध्याय में भगवान श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे पार्थ, अब तू मुझमें मन लगाकर, मेरे आश्रित रहकर और मुझे ही भजते हुए योग का अभ्यास कर। इस प्रकार तू संशयरहित होकर मुझे संपूर्णता से जान लेगा। यह वाक्य अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि यहाँ भगवान स्पष्ट करते हैं कि उन्हें पूर्णरूप से जानने के लिए केवल बौद्धिक ज्ञान पर्याप्त नहीं है। उनकी प्राप्ति के लिए मन को उनमें लगाना, उनके आश्रित रहना और उन्हें भजना आवश्यक है। यहाँ ज्ञान, भक्ति और योग तीनों का सुंदर समन्वय दिखाई देता है।

भगवान आगे कहते हैं कि मैं तुझे इस ज्ञान को विज्ञान सहित संपूर्णता से कहूँगा, जिसे जानकर इस संसार में फिर कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रहता। यह कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है। भगवान यह संकेत दे रहे हैं कि यह ज्ञान समस्त ज्ञान का सार है। जब मनुष्य भगवान को और उनके स्वरूप को पूर्णता से जान लेता है, तो उसके लिए जानने योग्य कुछ शेष नहीं रहता। यह परम ज्ञान है जो मनुष्य को सभी बंधनों से मुक्त कर देता है। यह ज्ञान केवल सैद्धांतिक नहीं है बल्कि व्यावहारिक भी है। इसे जानकर मनुष्य का जीवन पूर्णतया परिवर्तित हो जाता है।

7.1.2 ज्ञान और विज्ञान का अर्थ : भगवान श्री कृष्ण ज्ञान और विज्ञान दोनों शब्दों का प्रयोग करते हैं। यह समझना आवश्यक है कि ज्ञान और विज्ञान में क्या अंतर है। ज्ञान का अर्थ है सैद्धांतिक जानकारी, शास्त्रों से प्राप्त बौद्धिक ज्ञान। यह वह ज्ञान है जो हम पुस्तकों को पढ़कर, गुरु से सुनकर या विचार करके प्राप्त करते हैं। ज्ञान हमें बताता है कि परमात्मा क्या है, आत्मा क्या है, संसार का स्वरूप क्या है। यह ज्ञान आवश्यक है क्योंकि इसके बिना हम सही दिशा में नहीं चल सकते। लेकिन केवल ज्ञान पर्याप्त नहीं है।

विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान, अनुभवजन्य ज्ञान, व्यावहारिक ज्ञान। यह वह ज्ञान है जो हम स्वयं अनुभव करके प्राप्त करते हैं। विज्ञान वह अवस्था है जब सैद्धांतिक ज्ञान हमारे जीवन में उतर जाता है और हमें प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। उदाहरण के लिए, शास्त्रों में पढ़ना कि परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है, यह ज्ञान है। लेकिन जब साधना के द्वारा हमें यह प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है कि परमात्मा वास्तव में सब जगह है, हर वस्तु में है, हर प्राणी में है, तो यह विज्ञान है। ज्ञान मस्तिष्क में होता है, विज्ञान हृदय में उतर जाता है।

भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि वे अर्जुन को ज्ञान और विज्ञान दोनों बताएंगे। केवल सिद्धांत ही नहीं बल्कि उसका व्यावहारिक अनुप्रयोग भी। केवल यह नहीं कि परमात्मा क्या है, बल्कि यह भी कि उसे कैसे जाना जाए, कैसे अनुभव किया जाए। यह संपूर्ण शिक्षा है जो मनुष्य को केवल ज्ञानी ही नहीं बल्कि विज्ञानी भी बनाती है। जब मनुष्य ज्ञान और विज्ञान दोनों से संपन्न हो जाता है, तो वह परम शांति और आनंद को प्राप्त करता है। उसके सभी संशय समाप्त हो जाते हैं और वह जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

7.1.3 ज्ञान-विज्ञान की दुर्लभता : भगवान श्री कृष्ण एक महत्वपूर्ण तथ्य बताते हैं कि यह ज्ञान-विज्ञान अत्यंत दुर्लभ है। वे कहते हैं कि हजारों मनुष्यों में कोई एक मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करता है और उन यत्न करने वालों में भी कोई एक मुझे तत्व से जानता है। यह वाक्य हमें चौंकाता है। इतने सारे लोग हैं जो धार्मिक हैं, जो पूजा-पाठ करते हैं, जो मंदिर जाते हैं, लेकिन कितने लोग वास्तव में भगवान को जानने का प्रयास करते हैं? और जो प्रयास करते भी हैं, उनमें से कितने सफल होते हैं?

इस दुर्लभता के अनेक कारण हैं। प्रथम कारण है अज्ञान। अधिकतर लोग माया में फंसे हुए हैं। वे

संसार को ही सत्य मानते हैं और सांसारिक सुखों के पीछे भागते रहते हैं। उन्हें यह बोध ही नहीं होता कि इस जीवन का कोई उच्चतर उद्देश्य भी है। दूसरा कारण है आलस्य। कुछ लोगों को तो पता होता है कि आध्यात्मिक साधना करनी चाहिए, लेकिन वे इसे कल पर टालते रहते हैं। वे सोचते हैं कि अभी तो संसार का सुख भोगें, बुढ़ापे में भगवान को भजेंगे। लेकिन ऐसा समय कभी नहीं आता।

तीसरा कारण है गलत साधना। कुछ लोग साधना तो करते हैं लेकिन गलत दिशा में। वे तंत्र-मंत्र, चमत्कारों और सिद्धियों के पीछे भागते हैं। वे भगवान को प्राप्त करने के स्थान पर सांसारिक शक्तियाँ प्राप्त करना चाहते हैं। चौथा कारण है अधूरा प्रयास। कुछ लोग साधना आरंभ तो करते हैं लेकिन बीच में छोड़ देते हैं। जब तुरंत परिणाम नहीं दिखते तो वे निराश होकर साधना त्याग देते हैं। आध्यात्मिक मार्ग पर धैर्य और निरंतरता की आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति दृढ़ संकल्प के साथ, गुरु के मार्गदर्शन में, निरंतर साधना करता है, केवल वही सफल होता है। इसलिए यह ज्ञान दुर्लभ है।

7.1.4 परमात्मा का समग्र ज्ञान : भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि जो मनुष्य मुझे तत्व से जान लेता है, उसके लिए फिर कुछ जानना शेष नहीं रहता। परमात्मा का समग्र ज्ञान क्या है? यह केवल यह जानना नहीं है कि परमात्मा सर्वशक्तिमान है, सर्वव्यापी है, सर्वज्ञ है। यह तो सैद्धांतिक ज्ञान है। समग्र ज्ञान का अर्थ है परमात्मा को उसकी संपूर्णता में जानना – उसके गुण, उसकी शक्तियाँ, उसकी लीलाएँ, उसका स्वरूप, और सबसे महत्वपूर्ण, उससे अपना संबंध।

परमात्मा का समग्र ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य को कई स्तरों से गुजरना पड़ता है। प्रथम स्तर है बौद्धिक ज्ञान। इसमें मनुष्य शास्त्रों का अध्ययन करता है, सत्संग सुनता है और परमात्मा के विषय में जानकारी प्राप्त करता है। दूसरा स्तर है विश्वास। केवल जानकारी पर्याप्त नहीं है, उस पर विश्वास भी आवश्यक है। मनुष्य को यह विश्वास होना चाहिए कि परमात्मा वास्तव में है और वह प्राप्त किया जा सकता है। तीसरा स्तर है अनुभव। साधना के द्वारा मनुष्य को परमात्मा की उपस्थिति का अनुभव होने लगता है। वह उसे अपने जीवन में महसूस करता है।

चौथा और अंतिम स्तर है साक्षात्कार। यह वह अवस्था है जब मनुष्य परमात्मा को प्रत्यक्ष देखता है, उससे एकरूप हो जाता है। यह परम अनुभूति है जिसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। जो मनुष्य इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, वह जीवनमुक्त हो जाता है। उसके सभी बंधन समाप्त हो जाते हैं। वह संसार में रहते हुए भी संसार से परे हो जाता है। उसे किसी बात का भय नहीं रहता, किसी चीज की इच्छा नहीं रहती। वह परम शांति और आनंद में स्थित हो जाता है। यही परमात्मा का समग्र ज्ञान है और यही मानव जीवन का परम लक्ष्य है।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: ज्ञान और विज्ञान में क्या अंतर है? उदाहरण सहित समझाइए।

7.2 भगवान की प्रकृति और शक्तियाँ

7.2.1 प्रकृति के आठ तत्व : भगवान श्री कृष्ण अपनी प्रकृति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार – यह आठ प्रकार से विभक्त मेरी प्रकृति है। यह अपरा प्रकृति कहलाती है। ये आठ तत्व समस्त सृष्टि के मूल घटक हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश – ये पाँच स्थूल तत्व हैं जो भौतिक जगत का निर्माण करते हैं। हम जो कुछ भी देखते हैं, छूते हैं, वह इन्हीं पाँच तत्वों से

बना है। हमारा शरीर भी इन्हीं पाँच तत्वों से निर्मित है।

मन, बुद्धि और अहंकार — ये तीन सूक्ष्म तत्व हैं जो चेतना के विभिन्न स्तर हैं। मन वह शक्ति है जो विचार करती है, इच्छा करती है, संकल्प-विकल्प करती है। बुद्धि वह शक्ति है जो निर्णय लेती है, सही-गलत का विवेक करती है। अहंकार वह शक्ति है जो 'मैं' और 'मेरा' का बोध कराती है। ये तीनों सूक्ष्म होते हुए भी अत्यंत शक्तिशाली हैं। वास्तव में मनुष्य का जीवन इन्हीं तीन तत्वों से संचालित होता है। जैसा मन होगा, वैसे ही विचार आएंगे। जैसी बुद्धि होगी, वैसे ही निर्णय होंगे। जैसा अहंकार होगा, वैसे ही व्यवहार होगा।

भगवान कहते हैं कि ये आठों तत्व मेरी ही प्रकृति हैं। इसका अर्थ है कि ये सब परमात्मा से ही उत्पन्न हुए हैं। परमात्मा ने अपनी शक्ति से इन तत्वों को उत्पन्न किया और इन्हीं से समस्त सृष्टि की रचना की। लेकिन यह समझना महत्वपूर्ण है कि ये तत्व जड़ हैं। ये स्वयं कुछ नहीं कर सकते। इन्हें चेतना की आवश्यकता होती है। जैसे बिजली के बिना पंखा नहीं चल सकता, वैसे ही चेतना के बिना ये तत्व निष्क्रिय हैं। यह चेतना कहाँ से आती है? यह परा प्रकृति से आती है जिसका वर्णन भगवान आगे करते हैं।

7.2.2 अपरा और परा प्रकृति : भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन, यह तो मेरी अपरा प्रकृति है। इससे भिन्न मेरी जीवरूपा परा प्रकृति को जान, जो इस संसार को धारण करने वाली है। अपरा प्रकृति जड़ है, परा प्रकृति चेतन है। अपरा प्रकृति वह शक्ति है जिससे भौतिक जगत बना है। परा प्रकृति वह शक्ति है जो इस जगत को चलाती है, जीवन देती है। जीव, अर्थात् आत्मा, परा प्रकृति का अंश है। यह जीव ही है जो शरीर में प्रवेश करके उसे जीवित बनाता है।

अपरा और परा प्रकृति का संबंध ऐसा है जैसे शरीर और आत्मा का। शरीर जड़ है, आत्मा चेतन है। जब तक आत्मा शरीर में है, तब तक शरीर चलता है, बोलता है, काम करता है। जैसे ही आत्मा निकल जाती है, शरीर निर्जीव हो जाता है। वैसे ही अपरा प्रकृति तब तक क्रियाशील रहती है जब तक परा प्रकृति उसे शक्ति प्रदान करती है। यह जीव ही है जो अपरा प्रकृति के आठों तत्वों को धारण करता है और उनके माध्यम से संसार में कार्य करता है। जीव शरीर में रहकर मन, बुद्धि और इंद्रियों के द्वारा कर्म करता है।

लेकिन यह समझना महत्वपूर्ण है कि परा और अपरा दोनों ही प्रकृतियाँ परमात्मा की हैं। जीव और जगत दोनों परमात्मा से ही उत्पन्न हुए हैं। जीव परमात्मा का अंश है, जगत परमात्मा की शक्ति से बना है। इसलिए कुछ भी परमात्मा से अलग नहीं है। सब कुछ परमात्मा में ही है और परमात्मा से ही है। यह समझ आने पर मनुष्य का द्वैत समाप्त हो जाता है। वह सब में परमात्मा को देखने लगता है। यही अद्वैत का अनुभव है जो परम शांति और आनंद देता है।

7.2.3 सृष्टि की उत्पत्ति : भगवान श्री कृष्ण सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में बताते हैं। वे कहते हैं कि ये दोनों प्रकृतियाँ मेरी योनि हैं, अर्थात् इन्हीं से सृष्टि उत्पन्न होती है। मैं समस्त जगत की उत्पत्ति का कारण हूँ और प्रलय का भी कारण हूँ। हे धनंजय, मुझसे परे और कुछ भी नहीं है। यह सब मुझमें ऐसे पिरोया हुआ है जैसे सूत्र में मणियाँ। यह अत्यंत सुंदर उदाहरण है। जैसे एक माला में अनेक मणियाँ एक धागे में पिरोई होती हैं, वैसे ही समस्त सृष्टि परमात्मा में पिरोई हुई है।

सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई? भगवान अपनी इच्छा से सृष्टि की रचना करते हैं। वे अपनी शक्ति से अपरा प्रकृति को प्रकट करते हैं और फिर उसमें परा प्रकृति, अर्थात् जीवों को, भेजते हैं। इस प्रकार सृष्टि की रचना होती है। जब सृष्टि का समय पूरा हो जाता है तो भगवान पुनः सब कुछ अपने में समेट लेते हैं। यह प्रक्रिया बार-बार चलती रहती है। सृष्टि, स्थिति और प्रलय — यह चक्र निरंतर चलता रहता है। लेकिन इन सबके पीछे परमात्मा है जो अपरिवर्तित रहता है।

भगवान आगे कहते हैं कि मैं जल में रस हूँ, सूर्य और चंद्रमा में प्रकाश हूँ, वेदों में ओंकार हूँ, आकाश

में शब्द हूँ और मनुष्यों में पुरुषत्व हूँ। मैं पृथ्वी में पवित्र गंध हूँ, अग्नि में तेज हूँ, सब प्राणियों में जीवन हूँ और तपस्वियों में तप हूँ। इन वाक्यों से भगवान यह बताना चाहते हैं कि वे प्रत्येक वस्तु में उसके सार रूप में विद्यमान हैं। जल का मुख्य गुण रस है, वह गुण परमात्मा है। सूर्य का मुख्य गुण प्रकाश है, वह गुण परमात्मा है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में जो उसकी विशेषता है, वह परमात्मा की ही शक्ति है। यह समझ आने पर मनुष्य प्रत्येक वस्तु में परमात्मा को देखने लगता है।

7.2.4 भगवान की दिव्य शक्तियाँ : भगवान श्री कृष्ण अपनी दिव्य शक्तियों का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि हे भारत, जो सात्त्विक, राजस और तामस — ये जितने भी भाव हैं, उन सबको तू मुझसे ही उत्पन्न हुआ जान। परंतु वास्तव में मैं उनमें नहीं हूँ, वे मुझमें हैं। यह एक गहन सत्य है। समस्त गुण, समस्त भाव, समस्त अवस्थाएँ परमात्मा से ही उत्पन्न होती हैं। सत्व, रजस और तमस ये तीनों गुण परमात्मा की शक्ति से ही प्रकट होते हैं। लेकिन परमात्मा स्वयं इन गुणों से परे है। वह इन गुणों से प्रभावित नहीं होता।

यह ऐसा है जैसे सूर्य प्रकाश देता है लेकिन यह ऐसा है जैसे सूर्य प्रकाश देता है लेकिन स्वयं प्रकाश नहीं है, वह प्रकाश का स्रोत है। वैसे ही परमात्मा से सब कुछ उत्पन्न होता है लेकिन वह स्वयं सब कुछ से परे है। गुणों में परिवर्तन होता है लेकिन परमात्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। जगत में सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, सृष्टि-प्रलय होते रहते हैं लेकिन परमात्मा सदैव एकरस रहता है। वह न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है। वह सदा एक जैसा, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। यही उसकी दिव्यता है।

भगवान की एक और महत्वपूर्ण शक्ति है उनकी सर्वज्ञता। वे कहते हैं कि हे अर्जुन, मैं सब प्राणियों के अतीत, वर्तमान और भविष्य को जानता हूँ, परंतु मुझे कोई नहीं जानता। यह वाक्य परमात्मा की असीम शक्ति को दर्शाता है। परमात्मा सर्वज्ञ है। वह सब कुछ जानता है — जो हो चुका है, जो हो रहा है और जो होने वाला है। कोई भी बात उससे छिपी नहीं है। प्रत्येक प्राणी के मन के विचार, हृदय के भाव, सब उसे ज्ञात हैं। लेकिन कितने लोग परमात्मा को जानते हैं? बहुत कम। यही विडंबना है।

भगवान की एक और दिव्य शक्ति है उनकी सर्वव्यापकता। वे सब जगह हैं, प्रत्येक स्थान पर हैं, प्रत्येक प्राणी में हैं। कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ परमात्मा न हो। वे अनंत हैं, असीम हैं। उनकी कोई सीमा नहीं है। वे सूक्ष्म से सूक्ष्म में हैं और विराट से विराट में भी। एक परमाणु में भी हैं और संपूर्ण ब्रह्मांड में भी। यह उनकी दिव्य शक्ति है। जब मनुष्य को यह बोध हो जाता है कि परमात्मा सर्वत्र है, तो उसका भय समाप्त हो जाता है। वह समझ जाता है कि वह कभी अकेला नहीं है। परमात्मा सदैव उसके साथ है, उसमें है। यह बोध अपार शक्ति और शांति देता है।

7.2.5 माया का स्वरूप : भगवान श्री कृष्ण माया के स्वरूप का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि इस संसार में सभी प्राणी सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष आदि द्वंद्वों से उत्पन्न मोह से मोहित हो जाते हैं। यह मोह माया का कार्य है। माया क्या है? माया परमात्मा की वह शक्ति है जो हमें भ्रम में डालती है। माया के कारण हम असत्य को सत्य मान लेते हैं, नश्वर को शाश्वत मान लेते हैं, दुःख को सुख समझ लेते हैं। माया हमें परमात्मा से दूर रखती है और संसार में उलझाए रखती है।

माया तीन गुणों से बनी है — सत्व, रजस और तमस। ये तीनों गुण मिलकर माया की रचना करते हैं। तमोगुण अज्ञान उत्पन्न करता है, रजोगुण कामना और इच्छा उत्पन्न करता है, सत्वगुण ज्ञान और शांति देता है लेकिन वह भी बांधता है। जब तक मनुष्य इन तीनों गुणों के वश में है, तब तक वह माया में बंधा रहता है। माया अत्यंत शक्तिशाली है। भगवान कहते हैं कि मेरी यह दैवी माया गुणमयी है, इसे पार करना अत्यंत कठिन है। परंतु जो मनुष्य मेरी शरण में आते हैं, वे इस माया को पार कर जाते हैं।

माया से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है भगवत्शरणागति। जब तक मनुष्य अपनी शक्ति से माया को पार करने

का प्रयास करता है, तब तक वह सफल नहीं होता। माया परमात्मा की शक्ति है, इसलिए इसे केवल परमात्मा की कृपा से ही पार किया जा सकता है। जो व्यक्ति पूर्णरूप से परमात्मा की शरण में आ जाता है, जो सब कुछ उन्हें समर्पित कर देता है, जो निरंतर उनका स्मरण करता है और उनकी भक्ति करता है, उसे परमात्मा अपनी कृपा से माया के पार ले जाते हैं। तब मनुष्य को सत्य का बोध होता है और वह मुक्त हो जाता है। अपरा प्रकृति जड़ है जिसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार आते हैं। परा प्रकृति चेतन है जो जीवरूपा है। अपरा प्रकृति भौतिक जगत का निर्माण करती है जबकि परा प्रकृति उसे जीवन और चेतना प्रदान करती है। दोनों का संबंध शरीर और आत्मा के समान है – अपरा प्रकृति शरीर है और परा प्रकृति आत्मा है।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: अपरा और परा प्रकृति में क्या अंतर है? इन दोनों का संबंध समझाइए।

7.3 भक्तों के प्रकार

7.3.1 चार प्रकार के भक्त : भगवान श्री कृष्ण बताते हैं कि चार प्रकार के पुण्य करने वाले भक्तजन मेरी भजन करते हैं – आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। यह वर्गीकरण अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह हमें बताता है कि भक्ति विभिन्न स्तरों की होती है। सभी भक्त पुण्यात्मा हैं क्योंकि वे सब भगवान की ओर मुड़े हैं। चाहे किसी भी कारण से हो, लेकिन जो व्यक्ति भगवान को याद करता है, वह पुण्यशाली है। पापी और दुराचारी लोग भगवान को याद नहीं करते। वे तो संसार में ही उलझे रहते हैं। इसलिए चारों प्रकार के भक्त श्रेष्ठ हैं।

इन चार प्रकार के भक्तों में भेद इसलिए है कि सबके मन की अवस्था अलग है। कोई दुःख में होता है, कोई धन चाहता है, कोई ज्ञान की खोज में है और कोई भगवान को ही चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता के अनुसार भगवान की शरण में आता है। भगवान सबको स्वीकार करते हैं। वे किसी को नहीं ठुकराते। चाहे कोई किसी भी कारण से आए, भगवान उसका स्वागत करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि एक बार जो भगवान की शरण में आ गया, धीरे-धीरे वह आगे बढ़ेगा और अंततः परम भक्ति को प्राप्त करेगा।

यह वर्गीकरण हमें यह भी बताता है कि भक्ति का मार्ग सबके लिए खुला है। चाहे कोई दुःखी हो, गरीब हो, अज्ञानी हो या ज्ञानी हो, सब भगवान की शरण में आ सकते हैं। भगवान कोई भेदभाव नहीं करते। वे सबके हैं। गरीब हो या अमीर, विद्वान हो या अनपढ़, स्त्री हो या पुरुष, ब्राह्मण हो या शूद्र – सबके लिए भगवान का द्वार खुला है। यही भक्ति मार्ग की महिमा है। इसमें कोई बंधन नहीं है, कोई शर्त नहीं है। केवल प्रेम और श्रद्धा चाहिए। जिसके हृदय में भगवान के प्रति सच्ची भक्ति है, वह भगवान को प्राप्त कर सकता है।

7.3.2 आर्त भक्त : आर्त भक्त वह है जो किसी दुःख, संकट या कष्ट के कारण भगवान की शरण में आता है। जब मनुष्य पर कोई विपत्ति आती है, जब वह किसी रोग से पीड़ित होता है, जब उसके परिवार में कोई समस्या होती है, जब वह किसी भय से ग्रस्त होता है, तब वह भगवान को याद करता है। यह स्वाभाविक है। दुःख में मनुष्य सहज ही भगवान की ओर मुड़ता है। वह समझता है कि संसार में कोई उसकी सहायता नहीं कर सकता, केवल भगवान ही उसे इस संकट से निकाल सकते हैं।

आर्त भक्त की भक्ति में गहनता होती है। दुःख में व्यक्ति का अहंकार टूट जाता है। वह विनम्र हो जाता है। वह भगवान के सामने रोता है, गिड़गिड़ाता है, प्रार्थना करता है। उसकी पुकार हृदय की गहराई से निकलती है। इसलिए भगवान उसकी पुकार अवश्य सुनते हैं। अनेक उदाहरण हैं जब भगवान ने अपने आर्त भक्तों की रक्षा

की। द्रौपदी जब दुःशासन द्वारा अपमानित की जा रही थी तब उसने भगवान कृष्ण को पुकारा और भगवान ने उसकी लाज बचाई। गजेंद्र जब मगरमच्छ के मुँह में फँस गया तब उसने भगवान को याद किया और भगवान ने तुरंत आकर उसे बचाया।

लेकिन आर्त भक्ति की एक सीमा है। जब दुःख दूर हो जाता है तो कई बार भक्ति भी समाप्त हो जाती है। जब मनुष्य सुखी हो जाता है तो वह भगवान को भूल जाता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है। सच्चा भक्त वह है जो सुख-दुःख दोनों में भगवान को याद रखे। फिर भी आर्त भक्ति का महत्व है। यह भक्ति मार्ग का प्रथम चरण है। जो व्यक्ति दुःख में भगवान को याद करता है, धीरे-धीरे वह सुख में भी याद करने लगता है। आर्त भक्ति से शुरुआत होकर व्यक्ति धीरे-धीरे उच्च स्तर की भक्ति की ओर बढ़ता है। इसलिए आर्त भक्त भी पुण्यशाली है और भगवान की कृपा का पात्र है।

7.3.3 अर्थार्थी भक्त : अर्थार्थी भक्त वह है जो धन, संपत्ति या किसी सांसारिक वस्तु की इच्छा से भगवान की उपासना करता है। वह सोचता है कि भगवान की कृपा से उसे धन मिलेगा, व्यापार में लाभ होगा, नौकरी मिलेगी, संतान होगी, या कोई अन्य मनोकामना पूर्ण होगी। यह भी एक प्रकार की भक्ति है। भगवान इसे भी स्वीकार करते हैं क्योंकि कम से कम व्यक्ति भगवान के पास तो आ रहा है। वह समझता है कि सांसारिक वस्तुएँ भी भगवान की कृपा से मिलती हैं। यह समझ अच्छी है।

अर्थार्थी भक्त नियमित रूप से पूजा-पाठ करता है। वह मंदिर जाता है, व्रत रखता है, दान करता है। लेकिन इन सबके पीछे उसकी कोई इच्छा होती है। वह कामना सहित भक्ति करता है। उसकी भक्ति में शुद्धता कम और स्वार्थ अधिक होता है। फिर भी यह भक्ति निरर्थक नहीं है। कई बार ऐसी भक्ति से शुरुआत करके व्यक्ति धीरे-धीरे निष्काम भक्ति की ओर बढ़ता है। जब उसकी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं या जब वह समझ जाता है कि सांसारिक वस्तुएँ स्थायी सुख नहीं दे सकतीं, तब वह भगवान को ही चाहने लगता है।

अर्थार्थी भक्त की भक्ति में एक खतरा है। यदि उसकी इच्छा पूर्ण नहीं होती तो वह निराश हो सकता है। कभी-कभी वह भगवान पर संदेह भी करने लगता है। वह सोचता है कि मैंने इतनी पूजा की, इतने व्रत रखे, फिर भी मेरी मनोकामना पूर्ण नहीं हुई। यह गलत सोच है। भगवान हमारे हित के लिए कभी-कभी हमारी इच्छाओं को पूरा नहीं करते। वे जानते हैं कि हमारे लिए क्या अच्छा है। इसलिए अर्थार्थी भक्त को धैर्य रखना चाहिए और भगवान की इच्छा में विश्वास रखना चाहिए। धीरे-धीरे उसे समझ आएगा कि भगवान की प्राप्ति ही सबसे बड़ा लाभ है और बाकी सब तुच्छ है।

7.3.4 जिज्ञासु भक्त : जिज्ञासु भक्त वह है जो परमात्मा को जानने की इच्छा से भक्ति करता है। वह धन नहीं चाहता, सांसारिक सुख नहीं चाहता। वह तो भगवान को जानना चाहता है। वह प्रश्न-करता है — भगवान कौन हैं? वे कैसे हैं? संसार कैसे बना? जीवन का उद्देश्य क्या है? मोक्ष क्या है? इन प्रश्नों के उत्तर जानने के लिए वह शास्त्रों का अध्ययन करता है, संतों का सत्संग करता है, ध्यान करता है। उसकी जिज्ञासा सच्ची और गहरी होती है।

जिज्ञासु भक्त आर्त और अर्थार्थी भक्तों से श्रेष्ठ है। क्योंकि उसकी रुचि सांसारिक वस्तुओं में नहीं बल्कि आध्यात्मिक ज्ञान में है। वह समझ गया है कि संसार नश्वर है और सांसारिक सुख अस्थायी हैं। इसलिए वह शाश्वत सत्य की खोज में है। जिज्ञासु भक्त गंभीर साधक होता है। वह नियमित रूप से साधना करता है। वह अपने गुरु की शरण में जाता है और उनसे ज्ञान प्राप्त करता है। वह शास्त्रों का गहन अध्ययन करता है और उस ज्ञान को अपने जीवन में उतारने का प्रयास करता है।

जिज्ञासु भक्त की यात्रा रोमांचक होती है। जैसे-जैसे उसे ज्ञान मिलता है, वैसे-वैसे उसकी जिज्ञासा और बढ़ती है। एक प्रश्न-का उत्तर मिलता है तो दस नए प्रश्न-उठ खड़े होते हैं। लेकिन यह अच्छी बात है। यह दर्शाता

है कि उसकी बुद्धि विकसित हो रही है। धीरे-धीरे उसे अनुभव होने लगता है। ज्ञान केवल बौद्धिक नहीं रहता, वह उसके हृदय में उतर जाता है। और एक दिन वह जिज्ञासु भक्त ज्ञानी भक्त बन जाता है। तब उसे प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। तब वह केवल जानता ही नहीं, बल्कि अनुभव भी करता है। यही जिज्ञासु भक्ति का परिणाम है। यह भक्ति मार्ग में एक महत्वपूर्ण चरण है जो मनुष्य को परम ज्ञान की ओर ले जाता है।

7.3.5 ज्ञानी भक्त : ज्ञानी भक्त सबसे श्रेष्ठ भक्त है। भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि इन चारों में ज्ञानी भक्त अति उत्तम है क्योंकि वह सदा मुझमें एकीभाव से स्थित रहता है। ज्ञानी भक्त वह है जिसे भगवान का साक्षात्कार हो गया है। उसने केवल सुना या पढ़ा नहीं है, बल्कि प्रत्यक्ष अनुभव किया है। उसे यह बोध हो गया है कि भगवान ही सब कुछ हैं। संसार में जो कुछ भी है, वह सब भगवान का ही रूप है। वह अपने को भी भगवान का अंश मानता है और सब में भगवान को देखता है।

ज्ञानी भक्त की भक्ति निष्काम होती है। उसे भगवान से कुछ नहीं चाहिए। वह तो केवल भगवान को ही चाहता है। भगवान की प्राप्ति ही उसका एकमात्र लक्ष्य है। वह सदा भगवान का स्मरण करता है, उनका ध्यान करता है, उनके नाम का जप करता है। उसका मन सदैव भगवान में लगा रहता है। संसार के विषयों में उसकी रुचि नहीं रहती। वह संसार में रहता है, अपने कर्तव्यों का पालन करता है, लेकिन उसका मन भगवान में स्थिर रहता है। यही एकीभाव है — भगवान के साथ एकरूपता।

भगवान कहते हैं कि ज्ञानी भक्त मुझे अत्यंत प्रिय है और मैं उसे अत्यंत प्रिय हूँ। वास्तव में ज्ञानी भक्त मेरा ही स्वरूप है। ऐसा मैं मानता हूँ। यह अत्यंत महत्वपूर्ण कथन है। भगवान ज्ञानी भक्त को अपना स्वरूप मानते हैं। अर्थात् ज्ञानी भक्त और भगवान में कोई भेद नहीं रहता। वे एक हो जाते हैं। यह परम अवस्था है। इसे समाधि कहते हैं, मोक्ष कहते हैं, परम शांति कहते हैं। ज्ञानी भक्त जीवनमुक्त हो जाता है। उसके सभी बंधन समाप्त हो जाते हैं। वह शरीर में रहते हुए भी शरीर से परे हो जाता है। यही भक्ति की पराकाष्ठा है और यही मानव जीवन का परम लक्ष्य है। ज्ञानी भक्त सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि वह सदा भगवान में एकीभाव से स्थित रहता है। उसकी भक्ति निष्काम होती है और उसे भगवान का साक्षात्कार हो चुका है। वह भगवान से कुछ नहीं चाहता, केवल भगवान को ही चाहता है। भगवान स्वयं कहते हैं कि ज्ञानी भक्त उनका ही स्वरूप है, इसलिए वह सर्वश्रेष्ठ है।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: चार प्रकार के भक्तों में ज्ञानी भक्त सबसे श्रेष्ठ क्यों है? समझाइए।

7.4 भक्ति के प्रकार

7.4.1 सकाम भक्ति : सकाम भक्ति वह है जो किसी कामना या इच्छा के साथ की जाती है। भक्त भगवान की उपासना करता है लेकिन उसके मन में कुछ पाने की इच्छा होती है। वह चाहता है कि भगवान की कृपा से उसे धन मिले, रोग दूर हो, संतान हो, परीक्षा में सफलता मिले, या कोई अन्य सांसारिक सुख प्राप्त हो। यह भक्ति आर्त और अर्थार्थी भक्तों में पाई जाती है। सकाम भक्ति में स्वार्थ का तत्व होता है। भक्त भगवान से प्रेम इसलिए करता है कि भगवान उसकी इच्छाएँ पूर्ण करें।

सकाम भक्ति निरर्थक नहीं है। यह भक्ति मार्ग की शुरुआत है। जब मनुष्य प्रथम बार भगवान की ओर मुड़ता है तो उसके मन में कामनाएँ होती ही हैं। यह स्वाभाविक है। महत्वपूर्ण यह है कि वह भगवान की शरण में आया। भगवान दयालु हैं। वे जानते हैं कि मनुष्य अपूर्ण है और उसके मन में इच्छाएँ होती हैं। इसलिए वे सकाम भक्ति

को भी स्वीकार करते हैं। भगवान सकाम भक्तों की इच्छाएँ भी पूर्ण करते हैं। लेकिन साथ ही वे धीरे-धीरे उन्हें निष्काम भक्ति की ओर भी ले जाते हैं।

सकाम भक्ति की कुछ सीमाएँ हैं। प्रथम, यह भक्ति अस्थिर होती है। जब तक इच्छा पूर्ण होती रहती है, तब तक भक्ति चलती है। यदि इच्छा पूर्ण नहीं होती तो भक्ति समाप्त हो जाती है। द्वितीय, सकाम भक्ति से मोक्ष नहीं मिलता। इससे सांसारिक सुख मिल सकते हैं लेकिन आत्मिक शांति नहीं मिलती। सकाम भक्ति की कुछ सीमाएँ हैं। प्रथम, यह भक्ति अस्थिर होती है। जब तक इच्छा पूर्ण होती रहती है, तब तक भक्ति चलती है। यदि इच्छा पूर्ण नहीं होती तो भक्ति समाप्त हो जाती है। द्वितीय, सकाम भक्ति से मोक्ष नहीं मिलता। इससे सांसारिक सुख मिल सकते हैं लेकिन आत्मिक शांति नहीं मिलती। तृतीय, सकाम भक्ति में अहंकार बना रहता है। भक्त सोचता है कि मैंने भक्ति की इसलिए मुझे फल मिलना चाहिए। यह अहंकार बंधन का कारण बनता है। फिर भी सकाम भक्ति महत्वपूर्ण है क्योंकि यह एक सीढ़ी है जो मनुष्य को ऊपर ले जाती है। धीरे-धीरे सकाम भक्त जब देखता है कि सांसारिक सुख क्षणिक हैं, तो वह निष्काम भक्ति की ओर बढ़ता है।

7.4.2 निष्काम भक्ति : निष्काम भक्ति वह है जो बिना किसी कामना या इच्छा के की जाती है। भक्त भगवान से कुछ नहीं चाहता। वह केवल भगवान को ही चाहता है। उसकी भक्ति शुद्ध, निर्मल और निःस्वार्थ होती है। वह भगवान से प्रेम इसलिए नहीं करता कि उसे कुछ मिलेगा, बल्कि इसलिए करता है कि भगवान प्रेम के योग्य हैं। यह परम भक्ति है। यह भक्ति जिज्ञासु और ज्ञानी भक्तों में पाई जाती है। निष्काम भक्ति में कोई स्वार्थ नहीं होता। भक्त तो केवल भगवान की प्रसन्नता चाहता है।

निष्काम भक्ति स्थिर होती है। यह परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करती। सुख हो या दुःख, लाभ हो या हानि, प्रशंसा हो या निंदा – सभी परिस्थितियों में निष्काम भक्त की भक्ति एक जैसी रहती है। वह सदा भगवान का स्मरण करता है। उसका मन सदा भगवान में लगा रहता है। संसार के विषय उसे आकर्षित नहीं करते। उसे तो केवल भगवान का ही आकर्षण है। यह भक्ति अटूट है। कोई भी शक्ति इसे तोड़ नहीं सकती। यह भक्ति मनुष्य को परम शांति और आनंद देती है।

निष्काम भक्ति का फल महान है। भगवान कहते हैं कि जो मनुष्य निष्काम भाव से मेरी भक्ति करता है, वह मुझे प्राप्त होता है। निष्काम भक्ति मोक्ष का मार्ग है। यह मनुष्य को सभी बंधनों से मुक्त कर देती है। निष्काम भक्त को जीवन में किसी बात का भय नहीं रहता। वह जानता है कि भगवान उसके साथ हैं। भगवान उसकी रक्षा करेंगे। उसे भविष्य की चिंता नहीं होती। वह वर्तमान में जीता है और प्रत्येक क्षण भगवान के साथ जीता है। यही सच्ची भक्ति है। यही परम जीवन है। प्रत्येक साधक को सकाम भक्ति से आरंभ करके धीरे-धीरे निष्काम भक्ति की ओर बढ़ना चाहिए।

7.4.3 भगवान की प्राप्ति का मार्ग : भगवान श्री कृष्ण स्पष्ट रूप से बताते हैं कि उन्हें प्राप्त करने का मार्ग क्या है। वे कहते हैं कि जो मनुष्य अपने मन को मुझमें स्थिर करके, मुझे ही आश्रय बनाकर, निरंतर मेरा स्मरण करते हुए भक्ति करता है, वह मुझे प्राप्त होता है। यहाँ तीन महत्वपूर्ण बातें कही गई हैं – मन को भगवान में स्थिर करना, भगवान को आश्रय बनाना और निरंतर स्मरण करना। मन को भगवान में स्थिर करने का अर्थ है मन को संसार के विषयों से हटाकर भगवान में लगाना। यह सरल नहीं है क्योंकि मन चंचल होता है। लेकिन अभ्यास से यह संभव है।

भगवान को आश्रय बनाने का अर्थ है भगवान पर पूर्ण विश्वास रखना। यह समझना कि भगवान ही हमारे एकमात्र रक्षक हैं। संसार में कोई भी हमारी सच्ची सहायता नहीं कर सकता। धन, संपत्ति, परिवार, मित्र – सब नश्वर हैं। केवल भगवान ही शाश्वत हैं और केवल वे ही हमें सच्चा सहारा दे सकते हैं। जब मनुष्य यह समझ जाता है तो वह भगवान को अपना आश्रय बना लेता है। तब उसे किसी बात का भय नहीं रहता। निरंतर स्मरण

का अर्थ है सदा भगवान को याद रखना। केवल पूजा के समय ही नहीं, बल्कि हर समय भगवान का स्मरण बना रहना चाहिए।

भगवान आगे कहते हैं कि जो मनुष्य अंतकाल में केवल मुझे ही स्मरण करता हुआ शरीर त्यागता है, वह मुझे ही प्राप्त होता है, इसमें कोई संशय नहीं है। यह अत्यंत महत्वपूर्ण सत्य है। मृत्यु के समय मनुष्य जिसका स्मरण करता है, उसी को प्राप्त होता है। इसलिए जीवन भर भगवान का स्मरण करने का अभ्यास करना चाहिए ताकि अंतकाल में भी भगवान का ही स्मरण हो। यदि जीवन भर संसार में ही उलझे रहे और केवल मृत्यु के समय भगवान को याद करें तो यह संभव नहीं है। जैसा जीवन भर अभ्यास होगा, वैसी ही मृत्यु के समय स्थिति होगी। इसलिए प्रत्येक क्षण भगवान का स्मरण करना चाहिए।

7.4.4 ज्ञानी भक्त की महिमा : भगवान श्री कृष्ण ज्ञानी भक्त की विशेष महिमा का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञानी भक्त बहुत जन्मों के बाद मुझे प्राप्त होता है। यह बताता है कि ज्ञानी भक्त बनना सरल नहीं है। यह अनेक जन्मों की साधना का फल है। जन्म-जन्मांतर से साधना करते हुए, पुण्य करते हुए, धीरे-धीरे मनुष्य की चेतना विकसित होती है। अज्ञान का अंधकार दूर होता है और ज्ञान का प्रकाश फैलता है। तब कहीं जाकर मनुष्य ज्ञानी भक्त बनता है। यह दुर्लभ है। इसीलिए भगवान कहते हैं कि ऐसा महातमा अति दुर्लभ है।

ज्ञानी भक्त की विशेषता यह है कि उसे यह बोध हो जाता है कि वासुदेव अर्थात् भगवान ही सब कुछ हैं। संसार में जो कुछ भी है, वह सब भगवान का ही रूप है। कोई भी वस्तु, कोई भी प्राणी भगवान से अलग नहीं है। यह अद्वैत का अनुभव है। यह केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं है बल्कि प्रत्यक्ष अनुभूति है। जब यह अनुभूति होती जाती है तो मनुष्य का द्वंद्व समाप्त हो जाता है। वह मित्र-शत्रु, सुख-दुःख, शुभ-अशुभ का भेद नहीं रखता। सब में समान भाव रखता है क्योंकि सब में उसे भगवान ही दिखाई देते हैं।

ज्ञानी भक्त को भगवान अत्यंत प्रिय हैं। भगवान कहते हैं कि उदार सब ही हैं परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा ही स्वरूप है, ऐसा मेरा मत है। क्योंकि वह ज्ञानी भक्त अत्यंत श्रेष्ठ गति रूप मुझ सच्चिदानंदघन परमात्मा में ही अति उत्तम रीति से स्थित है। यह परम सत्य है। ज्ञानी भक्त और भगवान में कोई भेद नहीं रहता। वे एक हो जाते हैं। ज्ञानी भक्त भगवान का साक्षात् रूप है। यह वह अवस्था है जहाँ भक्ति की पराकाष्ठा होती है। यह वह अवस्था है जहाँ मनुष्य परम शांति, परम आनंद और परम मुक्ति को प्राप्त करता है। यही मानव जीवन का परम लक्ष्य है और यही भक्ति का चरम फल है। सकाम भक्ति किसी इच्छा या कामना के साथ की जाती है जबकि निष्काम भक्ति बिना किसी अपेक्षा के केवल भगवान के प्रति प्रेम से की जाती है। निष्काम भक्ति श्रेष्ठ है क्योंकि यह स्थिर, शुद्ध और निःस्वार्थ होती है। यह मनुष्य को मोक्ष की ओर ले जाती है जबकि सकाम भक्ति केवल सांसारिक सुख प्रदान करती है।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: सकाम भक्ति और निष्काम भक्ति में क्या अंतर है? कौन सी भक्ति श्रेष्ठ है और क्यों?

सारांश

भगवद्गीता का सातवाँ अध्याय ज्ञान और विज्ञान का अद्भुत संयोजन प्रस्तुत करता है। इस अध्याय में भगवान श्री कृष्ण ने अपने स्वरूप, अपनी शक्तियों और अपनी प्राप्ति के साधनों का विस्तृत वर्णन किया है। इस अध्याय का मुख्य संदेश यह है कि परमात्मा ही सब कुछ है। वे ही सृष्टि के कर्ता हैं, पालक हैं और संहारक भी हैं। वे ही जड़ और चेतन दोनों के मूल हैं। समस्त सृष्टि उन्हीं से उत्पन्न होती है और उन्हीं में लीन हो जाती है।

इस अध्याय में भगवान ने बताया कि उनकी दो प्रकृतियाँ हैं — अपरा और परा। अपरा प्रकृति जड़ है जिसमें आठ तत्व हैं — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। परा प्रकृति चेतन है जो जीवरूपा है। दोनों प्रकृतियाँ मिलकर सृष्टि की रचना करती हैं। भगवान ने माया का भी वर्णन किया जो अत्यंत शक्तिशाली है। इस माया को पार करना कठिन है लेकिन जो भगवान की शरण में आते हैं, वे इसे पार कर जाते हैं।

इस अध्याय की एक और महत्वपूर्ण शिक्षा है भक्तों के चार प्रकार — आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। सभी भक्त पुण्यात्मा हैं लेकिन ज्ञानी भक्त सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि वह सदा भगवान में एकीभाव से स्थित रहता है। भगवान ने यह भी बताया कि भक्ति दो प्रकार की होती है — सकाम और निष्काम। सकाम भक्ति से सांसारिक सुख मिलते हैं लेकिन निष्काम भक्ति मोक्ष प्रदान करती है। इसलिए प्रत्येक साधक को निष्काम भक्ति की ओर बढ़ना चाहिए। भगवान की प्राप्ति के लिए मन को उनमें स्थिर करना, उन्हें आश्रय बनाना और निरंतर उनका स्मरण करना आवश्यक है।

व्यावहारिक जीवन में प्रयोग—

इस अध्याय की शिक्षाओं को अपने दैनिक जीवन में कैसे उतारें? सर्वप्रथम, हमें यह समझना चाहिए कि परमात्मा सर्वत्र हैं। प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक प्राणी में उनका अंश है। जब हम यह समझ जाएंगे तो हम सब के साथ प्रेम और आदर से व्यवहार करेंगे। हम किसी को भी तुच्छ नहीं समझेंगे क्योंकि सब में परमात्मा हैं। द्वितीय, हमें माया से सावधान रहना चाहिए। संसार के भोग—विलास हमें भ्रमित न करें। हमें सदा याद रखना चाहिए कि सांसारिक सुख अस्थायी हैं। वास्तविक सुख तो केवल परमात्मा की प्राप्ति में है।

तृतीय, हमें अपनी भक्ति का स्वरूप पहचानना चाहिए। हम किस प्रकार के भक्त हैं — आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु या ज्ञानी? यदि हम अभी आर्त या अर्थार्थी भक्त हैं तो कोई चिंता नहीं। यह भी अच्छा है। लेकिन हमें धीरे-धीरे आगे बढ़ना चाहिए। हमें जिज्ञासु बनना चाहिए, ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और अंततः ज्ञानी भक्त बनने का प्रयास करना चाहिए। चतुर्थ, हमें सकाम भक्ति से निष्काम भक्ति की ओर बढ़ना चाहिए। प्रारंभ में कामना के साथ भक्ति करना स्वाभाविक है। लेकिन धीरे-धीरे हमें समझना चाहिए कि भगवान से कुछ माँगने की नहीं, केवल उन्हें पाने की आवश्यकता है।

पंचम, हमें नियमित रूप से भगवान का स्मरण करना चाहिए। केवल मंदिर जाने या पूजा करने से काम नहीं चलेगा। हमें हर समय, हर कार्य में भगवान को याद रखना चाहिए। जब हम खाना खाएं, तो सोचें कि यह भगवान का प्रसाद है। जब हम काम करें, तो सोचें कि यह भगवान की सेवा है। जब हम किसी से मिलें, तो सोचें कि उसमें भी भगवान हैं। इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षण को भगवान से जोड़ दें। तब हमारा संपूर्ण जीवन ही भक्ति बन जाएगा। यही इस अध्याय का व्यावहारिक संदेश है और यही जीवन को सार्थक बनाने का मार्ग है।

आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग—

इस अध्याय से हमें आध्यात्मिक उन्नति का स्पष्ट मार्ग मिलता है। भगवान ने बताया है कि परमात्मा को जानना और उन्हें प्राप्त करना मानव जीवन का परम लक्ष्य है। लेकिन यह यात्रा एक दिन में पूरी नहीं होती। यह एक क्रमिक प्रक्रिया है। प्रथम चरण है शास्त्रों का अध्ययन और सत्संग। इससे हमें सैद्धांतिक ज्ञान मिलता है। हम समझते हैं कि परमात्मा क्या है, आत्मा क्या है, जीवन का उद्देश्य क्या है। द्वितीय चरण है इस ज्ञान पर विश्वास करना। केवल जानकारी पर्याप्त नहीं है, उस पर श्रद्धा भी होनी चाहिए। हमें विश्वास होना चाहिए कि शास्त्र सत्य कहते हैं।

तृतीय चरण है साधना। ज्ञान और विश्वास के बाद अब व्यावहारिक साधना आवश्यक है। हमें नियमित रूप से पूजा, ध्यान, जप और सेवा करनी चाहिए। यह साधना हमारे मन को शुद्ध करती है, बुद्धि को स्पष्ट करती है

और हृदय को विशाल बनाती है। चतुर्थ चरण है अनुभव। जब साधना गहरी हो जाती है तो अनुभव होना आरंभ हो जाता है। हमें भगवान की उपस्थिति का अनुभव होने लगता है। हम उन्हें अपने जीवन में महसूस करते हैं। पंचम और अंतिम चरण है साक्षात्कार। यह वह अवस्था है जब हम भगवान को प्रत्यक्ष देखते हैं, उनसे एक हो जाते हैं। यह परम अनुभूति है।

यह यात्रा सरल नहीं है। इसमें अनेक बाधाएँ आती हैं। मन चंचल होता है, माया शक्तिशाली है, संसार आकर्षक है। लेकिन जो व्यक्ति दृढ़ संकल्प के साथ, गुरु के मार्गदर्शन में, निरंतर प्रयास करता रहता है, वह अवश्य सफल होता है। भगवान ने आश्वासन दिया है कि जो मेरी शरण में आता है, मैं उसे माया से पार कर देता हूँ। इसलिए हमें केवल प्रयास करना है, फल की चिंता नहीं करनी है। भगवान हमारी रक्षा करेंगे, हमें मार्ग दिखाएंगे और अंततः अपने पास ले जाएंगे। यही विश्वास रखकर हमें आगे बढ़ते रहना चाहिए। यही गीता का संदेश है और यही जीवन का सत्य है। माया परमात्मा की वह शक्ति है जो हमें भ्रम में डालती है और असत्य को सत्य मानने पर विवश करती है। यह तीन गुणों — सत्त्व, रजस और तमस से बनी है। माया अत्यंत शक्तिशाली है और इसे पार करना कठिन है। लेकिन भगवान की शरण में जाने से, निरंतर उनका स्मरण करने से और भक्ति करने से माया को पार किया जा सकता है। भगवान की कृपा से ही माया से मुक्ति संभव है।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: माया क्या है और इससे कैसे मुक्त हुआ जा सकता है?

7.5 बोध प्रश्न

1. ज्ञान और विज्ञान के अर्थ को विस्तार से समझाते हुए बताइए कि दोनों में क्या अंतर है। परमात्मा का समग्र ज्ञान प्राप्त करने के लिए क्या आवश्यक है?
2. भगवान की अपरा और परा प्रकृति का वर्णन कीजिए। इन दोनों प्रकृतियों से सृष्टि की रचना कैसे होती है? विस्तार से समझाइए।
3. प्रकृति के आठ तत्वों का वर्णन करते हुए बताइए कि इनमें से कौन से स्थूल तत्व हैं और कौन से सूक्ष्म। ये तत्व मनुष्य के जीवन को किस प्रकार प्रभावित करते हैं?
4. माया का स्वरूप क्या है? यह किस प्रकार मनुष्य को भ्रमित करती है? माया से मुक्त होने के उपाय विस्तार से लिखिए।
5. भगवान की दिव्य शक्तियों का वर्णन कीजिए। भगवान किस प्रकार सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी हैं? उदाहरण सहित समझाइए।
6. चार प्रकार के भक्तों — आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी का विस्तृत वर्णन कीजिए। प्रत्येक भक्त की विशेषताएँ और उनकी भक्ति का स्वरूप क्या है?
7. आर्त भक्त और अर्थार्थी भक्त में क्या अंतर है? दोनों प्रकार के भक्तों की भक्ति की सीमाएँ क्या हैं? इन सीमाओं को कैसे पार किया जा सकता है?
8. जिज्ञासु भक्त की क्या विशेषताएँ होती हैं? जिज्ञासु भक्त किस प्रकार धीरे-धीरे ज्ञानी भक्त बन जाता है?

इस यात्रा का वर्णन कीजिए।

9. ज्ञानी भक्त की महिमा का विस्तार से वर्णन कीजिए। भगवान ज्ञानी भक्त को सर्वश्रेष्ठ क्यों मानते हैं? ज्ञानी भक्त और भगवान का संबंध कैसा होता है?
10. सकाम भक्ति और निष्काम भक्ति की तुलना कीजिए। दोनों में क्या अंतर है? निष्काम भक्ति श्रेष्ठ क्यों है? सकाम भक्ति से निष्काम भक्ति की ओर कैसे बढ़ा जा सकता है?
11. भगवान की प्राप्ति के मार्ग का विस्तार से वर्णन कीजिए। मन को भगवान में स्थिर करने, उन्हें आश्रय बनाने और निरंतर स्मरण करने का क्या अर्थ है?
12. अंतकाल में भगवान का स्मरण करने का क्या महत्व है? इसके लिए जीवन भर क्या तैयारी करनी चाहिए? विस्तार से समझाइए।
13. गीता के सातवें अध्याय की शिक्षाओं को अपने दैनिक जीवन में कैसे लागू किया जा सकता है? व्यावहारिक उदाहरणों के साथ समझाइए।
14. "वासुदेव सर्वम" — इस उक्ति का क्या अर्थ है? ज्ञानी भक्त को यह अनुभूति कैसे होती है? इस अनुभूति का उसके जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है?
15. ज्ञान-विज्ञान योग की शिक्षाओं का सार लिखिए। यह अध्याय हमें आध्यात्मिक उन्नति के लिए क्या मार्गदर्शन देता है? विस्तार से लिखिए।

संरचना

- 8.1 अक्षर ब्रह्म योग
 - 8.1.1 प्रस्तावना
 - 8.1.2 अक्षर ब्रह्म का स्वरूप
 - 8.1.3 अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ का विवेचन
 - 8.1.4 अधियज्ञ का स्वरूप और महत्व
 - 8.1.5 अंतकाल में स्मरण का महत्व
- 8.2 राजविद्या राजगुह्य योग
 - 8.2.1 राजविद्या का परिचय
 - 8.2.2 राजविद्या जागृति का स्वरूप
 - 8.2.3 परमात्मा की सर्वव्यापकता
 - 8.2.4 सकाम उपासना और उसका फल
 - 8.2.5 निष्काम उपासना और उसका फल
 - 8.2.6 भक्ति का सरल मार्ग
- 8.3 निष्कर्ष
- 8.4 बोध प्रश्न

8.1 अक्षर ब्रह्म योग

8.1.1 प्रस्तावना : भगवद्गीता का आठवां अध्याय अक्षर ब्रह्म योग के नाम से जाना जाता है। इस अध्याय में कुल अट्ठाईस श्लोक हैं जिनमें भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के सात महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर देते हुए ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ और अंतकाल में परमात्मा के स्मरण के विषय में विस्तार से बताया है। यह अध्याय साधक को यह समझाता है कि जीवन के अंतिम क्षणों में किसका स्मरण करते हुए शरीर त्यागा जाता है, उसी को प्राप्त होता है। इसलिए जीवनभर निरंतर परमात्मा का स्मरण और भक्ति करते रहना चाहिए। सातवें अध्याय के अंत में भगवान ने कहा था कि जो लोग ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म को जानते हैं तथा अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ को समझते हैं, वे अंतकाल में भी मुझे जानते हैं। इसी से प्रेरित होकर अर्जुन ने आठवें अध्याय के आरंभ में ही ये सातप्रश्न-पूछे। भगवान ने इन प्रश्नों के उत्तर देते हुए यह स्पष्ट किया कि अविनाशी परमात्मा का नाम ब्रह्म है, स्वयं का स्वभाव अध्यात्म कहलाता है, भूतों की उत्पत्ति करने वाला जो भाव है वह कर्म है। अधिभूत क्षर स्वभाव वाला है, अधिदैव पुरुष है और अधियज्ञ शरीर में स्थित मैं स्वयं हूं।

8.1.2 अक्षर ब्रह्म का स्वरूप : अक्षर ब्रह्म का अर्थ है वह परम तत्त्व जो कभी नष्ट नहीं होता, जो अविनाशी है और जो समस्त सृष्टि का मूल आधार है। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया कि परम अक्षर ब्रह्म सर्वोच्च परमात्मा है जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाला है। यह ब्रह्म सभी प्राणियों में समान रूप से व्याप्त है, लेकिन किसी में भी आसक्त या बंधा हुआ नहीं है। यह समस्त विश्व का कारण है, परंतु स्वयं किसी का कार्य नहीं है।

ब्रह्म को अक्षर इसलिए कहा गया है क्योंकि यह कभी क्षय को प्राप्त नहीं होता। जहां संसार की समस्त वस्तुएं नाशवान हैं, जन्म और मृत्यु के चक्र में फंसी हुई हैं, वहीं ब्रह्म अजन्मा, अमर और अविनाशी है। यह काल के प्रभाव से परे है और सदैव एक समान रहता है। इसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। जो साधक इस अक्षर ब्रह्म को जान लेता है, वह जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त हो जाता है।

अक्षर ब्रह्म को समझने के लिए साधक को अपने भीतर झांकना पड़ता है। बाहरी संसार की नश्वर वस्तुओं में नहीं, बल्कि अपनी आत्मा में उस परम तत्त्व की खोज करनी पड़ती है। जब मनुष्य अपने मन को शांत करके, इंद्रियों को वश में करके और एकाग्र होकर ध्यान करता है, तब उसे उस अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। यह अनुभूति शब्दों से परे है, यह केवल अनुभव की जा सकती है।

8.1.3 अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ का विवेचन : भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया कि अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ तीन महत्वपूर्ण तत्त्व हैं जिन्हें समझना आवश्यक है। अधिभूत का अर्थ है क्षर यानी नाशवान भाव। यह वह तत्त्व है जो सदैव परिवर्तनशील है और जिसका नाश निश्चित है। इस भौतिक जगत में जो कुछ भी दिखाई देता है, जो पंचभूतों से बना है, वह सब अधिभूत के अंतर्गत आता है। हमारा यह स्थूल शरीर, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और इनसे बनी समस्त वस्तुएं अधिभूत हैं।

अधिदैव से तात्पर्य है दिव्य पुरुष या हिरण्यगर्भ। यह वह चेतन शक्ति है जो समस्त देवताओं में, समस्त दिव्य शक्तियों में निवास करती है। सूर्य, चंद्र, अग्नि, वरुण आदि जितने भी देवता हैं, उन सभी को संचालित करने वाली एक परम दिव्य शक्ति है जिसे अधिदैव कहते हैं। यह शक्ति प्रकृति के समस्त नियमों का संचालन करती है और ब्रह्मांड में व्यवस्था बनाए रखती है।

अधियज्ञ का अर्थ है वह परमात्मा जो प्रत्येक शरीर में यज्ञ के अधिपति के रूप में निवास करता है। भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन, इस शरीर में मैं स्वयं अधियज्ञ के रूप में स्थित हूं। जितने भी यज्ञ, दान, तप और

सत्कर्म किए जाते हैं, उन सबका साक्षी और फल देने वाला मैं ही हूँ। शरीर में स्थित यह आत्मा केवल जीवात्मा नहीं है, बल्कि परमात्मा का ही अंश है। इसलिए जो व्यक्ति अपने भीतर परमात्मा को देखता है, वह वास्तव में अधियज्ञ को जानता है।

8.1.4 अधियज्ञ का स्वरूप और महत्व : अधियज्ञ की अवधारणा भगवद्गीता में अत्यंत महत्वपूर्ण है। यज्ञ का अर्थ केवल हवन या अग्नि में आहुति देना नहीं है, बल्कि प्रत्येक वह कर्म जो निस्वार्थ भाव से, परमार्थ के लिए और धर्म के अनुसार किया जाए, वह यज्ञ है। जब मनुष्य अपने कर्तव्य का पालन करता है, दूसरों की सेवा करता है और अपने स्वार्थ को त्यागकर समाज के हित में कार्य करता है, तब वह यज्ञ करता है। इस प्रकार के समस्त यज्ञों का अधिपति परमात्मा है जो प्रत्येक देह में अधियज्ञ के रूप में विद्यमान है।

अधियज्ञ को जानने का अर्थ है यह समझना कि हमारा प्रत्येक कर्म परमात्मा की उपस्थिति में हो रहा है। वह साक्षी भाव से सब कुछ देख रहा है, जान रहा है और हमारे कर्मों का उचित फल देने के लिए तैयार है। जब साधक को यह ज्ञान हो जाता है कि परमात्मा मेरे हृदय में विराजमान है और मेरे प्रत्येक विचार, प्रत्येक भावना और प्रत्येक कर्म को देख रहा है, तब वह सावधान होकर जीवन जीता है। वह पाप से दूर रहता है और सदैव धर्म के मार्ग पर चलने का प्रयास करता है।

अधियज्ञ की उपासना करने से मनुष्य के जीवन में एक विशेष प्रकार की शुद्धता और पवित्रता आ जाती है। जब भक्त यह जानता है कि परमात्मा उसके भीतर ही निवास कर रहा है, तो वह अपने शरीर को मंदिर समझने लगता है। वह अपने विचारों को शुद्ध रखता है, अपनी वाणी में मधुरता लाता है और अपने कर्मों को निष्कलुष बनाता है। इस प्रकार अधियज्ञ का ज्ञान साधक को उच्च आध्यात्मिक स्थिति तक पहुंचा देता है।

8.1.5 अंतकाल में स्मरण का महत्व : भगवान श्रीकृष्ण ने आठवें अध्याय में अंतकाल के स्मरण को बहुत महत्व दिया है। उन्होंने कहा है कि अंतकाल में जो मनुष्य जिस भाव का स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है, वह उसी को प्राप्त होता है। यह बात अत्यंत गहरी और महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ यह है कि हमारे जीवनभर के विचार, संस्कार और स्मृतियां अंतिम समय में हमारी चेतना को निर्धारित करती हैं और हमारी अगली यात्रा तय करती हैं। किंतु अंतकाल में परमात्मा का स्मरण अचानक संभव नहीं हो सकता। जीवनभर जिस वस्तु में, जिस व्यक्ति में या जिस विचार में मन लगा रहा है, अंतिम समय में वही स्मरण आता है। इसलिए भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन, तू सब समय मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। मेरे में मन और बुद्धि को अर्पण करके तू निश्चित ही मुझे प्राप्त होगा। इसका सीधा अर्थ है कि जीवन के प्रत्येक क्षण में परमात्मा का स्मरण बनाए रखना चाहिए, उसकी भक्ति करते रहना चाहिए, तभी अंतकाल में भी वही स्मरण बना रहेगा।

अंतकाल में स्मरण की यह व्यवस्था केवल भौतिक नहीं बल्कि पूरी तरह से मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक है। मनुष्य का मन जिसमें सबसे अधिक रमा हुआ होता है, उसी की ओर अंतिम समय में भी खिंचता है। यदि किसी ने जीवनभर धन संचय में ही लगा दिया, तो अंत में धन का ही स्मरण आएगा। यदि परिवार में ही सारी आसक्ति रही, तो परिवार का स्मरण आएगा। लेकिन जिसने जीवनभर परमात्मा की भक्ति की, उसके मन में अंत में परमात्मा का ही स्मरण रहेगा और वह परमात्मा को ही प्राप्त होगा।

अक्षर ब्रह्म से तात्पर्य उस परम अविनाशी तत्त्व से है जो कभी नष्ट नहीं होता। यह सर्वोच्च परमात्मा है जो नित्य, शुद्ध और सभी प्राणियों में समान रूप से व्याप्त है। अक्षर का अर्थ है जो कभी क्षय को प्राप्त न हो। यह ब्रह्म समस्त सृष्टि का मूल कारण है और काल के प्रभाव से परे है। जो साधक इस अक्षर ब्रह्म को जान लेता है, वह जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त हो जाता है। अधिभूत का अर्थ है क्षर यानी नाशवान भाव। यह वह तत्त्व है जो सदैव परिवर्तनशील है और जिसका नाश निश्चित है। इस भौतिक जगत में जो कुछ भी पंचभूतों से बना है, जैसे हमारा स्थूल शरीर, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और इनसे बनी समस्त वस्तुएं, वह सब अधिभूत के

अंतर्गत आता है।

अधियज्ञ परमात्मा स्वयं हैं जो प्रत्येक शरीर में यज्ञ के अधिपति के रूप में निवास करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस शरीर में मैं स्वयं अधियज्ञ के रूप में स्थित हूँ। जितने भी यज्ञ, दान, तप और सत्कर्म किए जाते हैं, उन सबका साक्षी और फल देने वाला परमात्मा ही है जो हृदय में विराजमान है।

बोध प्रश्न

प्रश्न—1 अक्षर ब्रह्म से क्या तात्पर्य है?

प्रश्न—2 अधिभूत क्या है?

8.2 राजविद्या राजगुह्य योग

8.2.1 राजविद्या का परिचय : भगवद्गीता का नवां अध्याय राजविद्या—राजगुह्य योग के नाम से जाना जाता है। इस अध्याय में कुल चौतीस श्लोक हैं। राजविद्या का अर्थ है विद्याओं का राजा अर्थात् सर्वश्रेष्ठ विद्या, और राजगुह्य का अर्थ है गोपनीयताओं में सबसे गोपनीय रहस्य। भगवान श्रीकृष्ण ने इस अध्याय में जो ज्ञान दिया है, वह समस्त विद्याओं में श्रेष्ठ है और समस्त रहस्यों में गुह्यतम है। यह विद्या इसलिए सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसे जानने मात्र से मनुष्य संसार के समस्त बंधनों से मुक्त हो जाता है और परम आनंद को प्राप्त करता है।

भगवान ने अर्जुन से कहा कि यह ज्ञान विज्ञान सहित है, अत्यंत गोपनीय है और इसे जानने के बाद तू संसार के सभी अशुभों से मुक्त हो जाएगा। यह राजविद्या पवित्र है, उत्तम है, प्रत्यक्ष फल देने वाली है, धर्मयुक्त है, साधन करने में अत्यंत सुगम है और अविनाशी है। इस विद्या की महिमा यह है कि यह केवल सिद्धांत नहीं है बल्कि व्यावहारिक है। इसे अपने जीवन में उतारते ही इसके परिणाम दिखाई देने लगते हैं।

राजविद्या को राजविद्या इसलिए कहा गया है क्योंकि जिस प्रकार राजा सभी प्रजाजनों में सर्वोच्च होता है, उसी प्रकार यह ज्ञान सभी ज्ञानों में सर्वोच्च है। इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए किसी बाहरी साधन की आवश्यकता नहीं है। न तीर्थ यात्रा की जरूरत है, न कठिन तपस्या की। केवल श्रद्धा और भक्ति से परमात्मा का स्मरण करना ही इस राजविद्या का सार है।

8.2.2 राजविद्या जागृति का स्वरूप : राजविद्या की जागृति का अर्थ है अपने भीतर छिपे परम ज्ञान को जगाना। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में परमात्मा का वास है, लेकिन अज्ञान के कारण वह इसे भूल जाता है। माया के आवरण में फंसकर वह अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचान पाता। राजविद्या की जागृति होने पर मनुष्य को यह अनुभव होता है कि वह केवल यह नश्वर शरीर नहीं है, बल्कि अमर आत्मा है। उसका वास्तविक स्वरूप चौतन्य, आनंद और शांति से परिपूर्ण है।

राजविद्या की जागृति के लिए सबसे पहले श्रद्धा की आवश्यकता होती है। भगवान कहते हैं कि जो लोग इस धर्म में श्रद्धा नहीं रखते, वे मुझे प्राप्त नहीं कर पाते और जन्म—मृत्यु के चक्र में भटकते रहते हैं। श्रद्धा का अर्थ है दृढ़ विश्वास, संदेह रहित भरोसा। जब साधक में श्रद्धा होती है, तो उसका मन स्थिर रहता है, उसकी बुद्धि भटकती नहीं है और वह निरंतर परमात्मा की ओर अग्रसर होता है।

राजविद्या की जागृति होने पर साधक का जीवन पूर्णतया बदल जाता है। उसे संसार की नश्वर वस्तुओं में कोई

आकर्षण नहीं रहता। वह धन, यश, सम्मान आदि को केवल एक नाटक की तरह देखता है। उसकी आसक्ति केवल परमात्मा में होती है। वह समझ जाता है कि सच्चा सुख बाहर की वस्तुओं में नहीं, बल्कि अपने भीतर परमात्मा के साथ एकता में है। यही राजविद्या की सच्ची जागृति है।

8.2.3 परमात्मा की सर्वव्यापकता : भगवान श्रीकृष्ण ने नवें अध्याय में अपनी सर्वव्यापकता का अद्भुत वर्णन किया है। उन्होंने कहा कि मैं अव्यक्त रूप से इस संपूर्ण जगत में व्याप्त हूँ। सभी प्राणी मुझमें स्थित हैं, परंतु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। यह बात विरोधाभासी लगती है, लेकिन इसका गूढ़ अर्थ है। परमात्मा सर्वत्र विद्यमान हैं, प्रत्येक कण में, प्रत्येक जीव में, प्रत्येक वस्तु में। उनके बिना कुछ भी अस्तित्व में नहीं रह सकता। फिर भी वे किसी में बंधे हुए नहीं हैं, किसी से प्रभावित नहीं होते।

भगवान ने एक सुंदर उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार सर्वत्र संचरण करने वाली विशाल वायु सदा आकाश में स्थित है, उसी प्रकार सभी प्राणी मुझमें स्थित हैं। आकाश में वायु व्याप्त है, लेकिन आकाश वायु से बंधा या सीमित नहीं है। उसी प्रकार परमात्मा में समस्त जगत व्याप्त है, लेकिन परमात्मा इस जगत से बंधे हुए नहीं हैं। वे निर्लिप्त हैं, असंग हैं, माया के प्रभाव से परे हैं।

परमात्मा की सर्वव्यापकता को समझने से साधक का दृष्टिकोण बदल जाता है। वह हर जीव में, हर वस्तु में परमात्मा को ही देखता है। वह किसी को छोटा नहीं समझता, किसी से घृणा नहीं करता। उसके लिए संपूर्ण विश्व परमात्मा का ही विस्तार है। यह अनुभूति उसे विशाल हृदय वाला, दयालु, करुणामय और प्रेमपूर्ण बना देती है। वह सभी प्राणियों के साथ समान भाव से व्यवहार करता है क्योंकि वह जानता है कि सबमें वही एक परमात्मा विराजमान है।

8.2.4 सकाम उपासना और उसका फल : सकाम उपासना का अर्थ है किसी कामना या इच्छा को लेकर की गई उपासना। जब कोई व्यक्ति धन की प्राप्ति के लिए, संतान के लिए, रोग से मुक्ति के लिए या किसी अन्य भौतिक लाभ के लिए परमात्मा या देवी-देवताओं की पूजा करता है, तो वह सकाम उपासना होती है। भगवान श्रीकृष्ण ने नवें अध्याय में कहा है कि जो लोग तीनों वेदों को जानने वाले, सोमरस पीने वाले, पापरहित होकर यज्ञों द्वारा मेरी पूजा करते हुए स्वर्ग की प्राप्ति की कामना रखते हैं, वे पुण्य के फलस्वरूप स्वर्गलोक को प्राप्त होते हैं और वहां दिव्य भोगों को भोगते हैं।

सकाम उपासना करने वाले भक्त अपने पुण्यकर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग में जाते हैं और वहां सुख भोगते हैं। परंतु जब उनके पुण्य समाप्त हो जाते हैं, तो वे पुनः मृत्युलोक में लौट आते हैं। इस प्रकार वे जन्म-मृत्यु के चक्र में फंसे रहते हैं। भगवान कहते हैं कि इस प्रकार तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्मों का अनुष्ठान करने वाले आने-जाने रूप को प्राप्त होते हैं। सकाम उपासना का फल अस्थायी और सीमित होता है क्योंकि स्वर्ग भी एक लोक है और वहां का सुख भी समय-सीमा में बंधा हुआ है।

सकाम भक्ति में भक्त की दृष्टि परमात्मा पर नहीं बल्कि अपनी इच्छाओं की पूर्ति पर होती है। वह परमात्मा को एक साधन के रूप में देखता है, साध्य के रूप में नहीं। उसका प्रेम शर्त पर आधारित होता है। यदि उसकी इच्छा पूरी हो जाती है तो वह प्रसन्न होता है और यदि नहीं होती तो निराश हो जाता है। कभी-कभी तो वह परमात्मा से शिकायत भी करने लगता है। यह सच्ची भक्ति नहीं है, यह एक प्रकार का व्यापार है जिसमें भक्त अपनी पूजा के बदले में कुछ पाने की अपेक्षा रखता है।

8.2.5 निष्काम उपासना और उसका फल : निष्काम उपासना सकाम उपासना से सर्वथा भिन्न और श्रेष्ठ है। निष्काम उपासना में साधक किसी भी प्रकार की कामना नहीं रखता। वह केवल परमात्मा के प्रेम में, परमात्मा की प्राप्ति के लिए उपासना करता है। उसे धन नहीं चाहिए, स्वर्ग नहीं चाहिए, यश नहीं चाहिए, यहां तक कि मोक्ष की भी कामना नहीं होती। वह तो बस परमात्मा को चाहता है, उनकी भक्ति करना चाहता है,

उनके चरणों में रहना चाहता है। यही सच्ची भक्ति है, यही निष्काम उपासना है।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि जो अनन्य भक्त मुझमें चित्त को लगाकर निरंतर मेरा चिंतन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूं। योग का अर्थ है जो प्राप्त नहीं है उसकी प्राप्ति और क्षेम का अर्थ है जो प्राप्त है उसकी रक्षा। अर्थात् निष्काम भक्त को किसी चीज की चिंता करने की आवश्यकता नहीं होती। परमात्मा स्वयं उसकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और उसकी रक्षा करते हैं।

निष्काम उपासना का फल अनंत और शाश्वत है। निष्काम भक्त परमात्मा को प्राप्त करता है और फिर कभी संसार में नहीं लौटता। वह जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है। उसे परम शांति, परम आनंद और परम सुख की प्राप्ति होती है। यह सुख स्वर्ग के सुख से कोटि-कोटि गुना अधिक है क्योंकि यह परमात्मा के साथ एकता का सुख है। निष्काम भक्ति में भक्त और भगवान के बीच का भेद मिट जाता है। भक्त परमात्मा में विलीन हो जाता है और उसे वह अनुभूति होती है जिसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

8.2.6 भक्ति का सरल मार्ग : भगवान श्रीकृष्ण ने नवें अध्याय में भक्ति के अत्यंत सरल मार्ग का उपदेश दिया है। उन्होंने कहा है कि जो कोई मुझे प्रेम से पत्र, पुष्प, फल या जल भी अर्पण करता है, उस शुद्ध बुद्धि वाले का प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह मैं स्वीकार कर लेता हूं। इस श्लोक में भगवान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भक्ति में बाहरी दिखावे का कोई महत्व नहीं है। महंगी पूजा सामग्री, विशाल यज्ञ या कठिन तपस्या की आवश्यकता नहीं है। केवल सच्चे प्रेम और श्रद्धा की आवश्यकता है।

एक साधारण व्यक्ति जो गरीब है, जिसके पास धन नहीं है, वह भी परमात्मा की भक्ति कर सकता है। वह एक पत्ता, एक फूल, थोड़ा सा जल प्रेम से अर्पण कर दे तो परमात्मा उसे स्वीकार कर लेते हैं। यहां महत्व वस्तु का नहीं बल्कि भाव का है। यदि भाव शुद्ध है, प्रेम सच्चा है, तो परमात्मा सबसे साधारण भेंट को भी स्वीकार कर लेते हैं। लेकिन यदि भाव में शुद्धता नहीं है, केवल दिखावा है, तो लाखों रुपये की पूजा भी व्यर्थ है।

भगवान ने यह भी कहा है कि तू जो कुछ भी करता है, जो कुछ भी खाता है, जो कुछ भी हवन करता है, जो कुछ भी दान देता है और जो कुछ भी तप करता है, वह सब मुझे अर्पण कर। अर्थात् जीवन के प्रत्येक कर्म को परमात्मा के चरणों में अर्पित कर देना चाहिए। खाना खाते समय यह भाव रखना चाहिए कि यह भोजन परमात्मा का प्रसाद है। काम करते समय यह सोचना चाहिए कि यह कार्य परमात्मा की सेवा है। इस प्रकार जीवन का प्रत्येक क्षण पूजा बन जाता है और साधक निरंतर परमात्मा से जुड़ा रहता है। राजविद्या का अर्थ है विद्याओं का राजा अर्थात् सर्वश्रेष्ठ विद्या। इसे राजविद्या इसलिए कहा गया है क्योंकि जिस प्रकार राजा सभी प्रजाजनों में सर्वोच्च होता है, उसी प्रकार यह ज्ञान सभी ज्ञानों में सर्वोच्च है। यह विद्या पवित्र है, प्रत्यक्ष फल देने वाली है, धर्मयुक्त है और साधन करने में अत्यंत सुगम है। इस विद्या को जानने मात्र से मनुष्य संसार के समस्त बंधनों से मुक्त हो जाता है। इस ज्ञान की विशेषता यह है कि इसे अपने जीवन में उतारते ही इसके परिणाम दिखाई देने लगते हैं।

परमात्मा अव्यक्त रूप से संपूर्ण जगत में व्याप्त हैं। सभी प्राणी उनमें स्थित हैं, परंतु वे किसी में बंधे हुए नहीं हैं। वे प्रत्येक कण में, प्रत्येक जीव में और प्रत्येक वस्तु में विद्यमान हैं। उनके बिना कुछ भी अस्तित्व में नहीं रह सकता। फिर भी वे निर्लिप्त हैं, असंग हैं और माया के प्रभाव से परे हैं। जिस प्रकार सर्वत्र संचरण करने वाली वायु सदा आकाश में स्थित है, उसी प्रकार सभी प्राणी परमात्मा में स्थित हैं। सकाम उपासना में साधक किसी कामना या इच्छा को लेकर पूजा करता है। वह धन, संतान, स्वर्ग या अन्य भौतिक लाभ की कामना से उपासना करता है। इसका फल अस्थायी होता है और साधक जन्म-मृत्यु के चक्र में फंसा रहता है। निष्काम उपासना में साधक किसी भी प्रकार की कामना नहीं रखता। वह केवल परमात्मा के प्रेम में उपासना करता है। निष्काम भक्त का योगक्षेम परमात्मा स्वयं वहन करते हैं और वह जन्म-मृत्यु से मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त करता है।

भगवद्गीता के आठवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के सात महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर देते हुए अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ का स्पष्ट विवेचन किया है। ये तीनों तत्व सृष्टि के रहस्य को समझने और परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग को जानने के लिए अत्यंत आवश्यक हैं।

अधिभूत का अर्थ है क्षर यानी नाशवान भाव। यह वह तत्व है जो सदैव परिवर्तनशील है और जिसका नाश निश्चित है। इस भौतिक जगत में जो कुछ भी दिखाई देता है, जो पंचभूतों यानी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से बना है, वह सब अधिभूत के अंतर्गत आता है। हमारा यह स्थूल शरीर जो मिट्टी से बना है और मिट्टी में मिल जाएगा, वह अधिभूत है। इस संसार की समस्त वस्तुएं, सभी भौतिक पदार्थ, सभी जीव-जंतु जो जन्म लेते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते हैं, वे सब अधिभूत हैं। अधिभूत की प्रकृति नश्वर है, इसलिए इसमें आसक्त होना दुःख का कारण बनता है।

अधिदैव से तात्पर्य है दिव्य पुरुष या हिरण्यगर्भ। यह वह चेतन शक्ति है जो समस्त देवताओं में, समस्त दिव्य शक्तियों में निवास करती है। सूर्य, चंद्रमा, अग्नि, वरुण, इंद्र, वायु आदि जितने भी देवता हैं, उन सभी को संचालित करने वाली एक परम दिव्य शक्ति है जिसे अधिदैव कहते हैं। यह शक्ति प्रकृति के समस्त नियमों का संचालन करती है। सूर्य का उदय और अस्त होना, चंद्रमा की कलाओं का घटना-बढ़ना, मौसमों का परिवर्तन, दिन-रात का क्रम, यह सब अधिदैव की व्यवस्था के अंतर्गत होता है। यह वह शक्ति है जो ब्रह्मांड में व्यवस्था और संतुलन बनाए रखती है।

अधियज्ञ का अर्थ है वह परमात्मा जो प्रत्येक शरीर में यज्ञ के अधिपति के रूप में निवास करता है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन, इस शरीर में मैं स्वयं अधियज्ञ के रूप में स्थित हूं। यज्ञ का अर्थ केवल हवन या अग्नि में आहुति देना नहीं है, बल्कि प्रत्येक वह कर्म जो निस्वार्थ भाव से, परमार्थ के लिए और धर्म के अनुसार किया जाए, वह यज्ञ है। जितने भी यज्ञ, दान, तप और सत्कर्म किए जाते हैं, उन सबका साक्षी और फल देने वाला परमात्मा ही है। शरीर में स्थित यह आत्मा केवल जीवात्मा नहीं है, बल्कि परमात्मा का ही अंश है। जो व्यक्ति अपने भीतर परमात्मा को देखता है, वह वास्तव में अधियज्ञ को जानता है।

अंतकाल में परमात्मा के स्मरण का महत्व अत्यधिक है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि अंतकाल में जो मनुष्य जिस भाव का स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है, वह उसी को प्राप्त होता है। यह एक सार्वभौमिक सिद्धांत है। हमारे जीवनभर के विचार, संस्कार और स्मृतियां अंतिम समय में हमारी चेतना को निर्धारित करती हैं। जीवनभर जिस वस्तु में, जिस व्यक्ति में या जिस विचार में मन लगा रहा है, अंतिम समय में वही स्मरण आता है। यदि किसी ने जीवनभर धन संचय में ही मन लगाया, तो अंत में धन का ही स्मरण आएगा और वह धनी परिवार में जन्म लेगा। यदि परिवार में ही सारी आसक्ति रही, तो परिवार का स्मरण आएगा और वह पुनः उसी परिवार के बीच जन्म लेगा।

किंतु अंतकाल में परमात्मा का स्मरण अचानक संभव नहीं हो सकता। इसके लिए जीवनभर का अभ्यास आवश्यक है। इसलिए भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन, तू सब समय मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। मेरे में मन और बुद्धि को अर्पण करके तू निश्चित ही मुझे प्राप्त होगा। इसका अर्थ है कि जीवन के प्रत्येक क्षण में परमात्मा का स्मरण बनाए रखना चाहिए। कर्म करते हुए भी मन परमात्मा में लगा रहना चाहिए। यह निरंतर अभ्यास ही अंतकाल में सहायक होता है। जो साधक जीवनभर परमात्मा की भक्ति करता है, उसके मन में अंत में परमात्मा का ही स्मरण रहता है और वह परमात्मा को ही प्राप्त होता है। इस प्रकार अंतकाल का स्मरण मनुष्य की अगली यात्रा निर्धारित करता है, इसलिए यह अत्यंत महत्वपूर्ण है।

बोध प्रश्न

राजविद्या से क्या तात्पर्य है और इसे राजविद्या क्यों कहा गया है?

परमात्मा की सर्वव्यापकता को समझाइए।

अक्षर ब्रह्म योग के अंतर्गत अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ का विस्तार से वर्णन कीजिए।

सकाम और निष्काम उपासना: भगवद्गीता के नवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने राजविद्या का उपदेश देते हुए अपनी सर्वव्यापकता का अद्भुत वर्णन किया है और सकाम तथा निष्काम उपासना के फल में स्पष्ट अंतर बताया है। परमात्मा की सर्वव्यापकता एक गूढ़ रहस्य है जिसे समझना साधारण बुद्धि के लिए कठिन है। भगवान कहते हैं कि मैं अव्यक्त रूप से इस संपूर्ण जगत में व्याप्त हूँ। मेरे द्वारा यह सारा जगत व्याप्त है। सभी प्राणी मुझमें स्थित हैं, परंतु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। यह कथन विरोधाभासी प्रतीत होता है, लेकिन इसका गहरा अर्थ है। परमात्मा सर्वत्र विद्यमान हैं। छोटे से छोटे कण में, विशाल से विशाल ग्रह में, प्रत्येक जीव में, प्रत्येक वस्तु में वे समान रूप से व्याप्त हैं। उनके बिना कुछ भी अस्तित्व में नहीं रह सकता क्योंकि वही सबकी सत्ता का आधार हैं।

फिर भी परमात्मा किसी में बंधे हुए नहीं हैं, किसी से प्रभावित नहीं होते। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सभी वस्तुओं पर पड़ता है लेकिन किसी भी वस्तु से सूर्य गंदा नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा संसार में रहते हुए भी संसार से परे हैं। वे साक्षी भाव से सब कुछ देखते हैं लेकिन कर्ता नहीं हैं। भगवान ने एक सुंदर उदाहरण दिया है। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार सर्वत्र संचरण करने वाली विशाल वायु सदा आकाश में स्थित रहती है, उसी प्रकार सभी प्राणी मुझमें स्थित हैं। आकाश में वायु व्याप्त है, वायु आकाश में चलती है, लेकिन आकाश वायु से बंधा या सीमित नहीं है। वायु के सभी गुण—दोष आकाश को प्रभावित नहीं करते। उसी प्रकार परमात्मा में समस्त जगत व्याप्त है, लेकिन जगत के गुण—दोष परमात्मा को स्पर्श नहीं करते।

परमात्मा की यह सर्वव्यापकता केवल स्थान के अर्थ में नहीं है। वे केवल सर्वत्र उपस्थित ही नहीं हैं, बल्कि सर्वज्ञ भी हैं। प्रत्येक प्राणी के मन की बात, प्रत्येक विचार, प्रत्येक भावना उन्हें ज्ञात है। कोई भी रहस्य उनसे छिपा नहीं है। साथ ही वे सर्वशक्तिमान हैं। समस्त शक्तियों का स्रोत वही हैं। जो कुछ भी इस ब्रह्मांड में हो रहा है, वह उन्हीं की शक्ति से हो रहा है। फिर भी वे निर्लिप्त हैं, तटस्थ हैं। यही उनकी महिमा है।

परमात्मा की सर्वव्यापकता को समझने से साधक का दृष्टिकोण पूरी तरह बदल जाता है। वह अब किसी व्यक्ति को अलग नहीं देखता। हर किसी में उसे परमात्मा ही दिखाई देता है। वह किसी को छोटा नहीं समझता, किसी से घृणा नहीं करता, किसी का तिरस्कार नहीं करता। उसके लिए सभी प्राणी समान हैं क्योंकि सबमें वही एक परमात्मा विराजमान है। यह अनुभूति उसे विशाल हृदय वाला, दयालु, करुणामय और प्रेमपूर्ण बना देती है। वह पत्थर में भी, पेड़ में भी, पशु में भी और मनुष्य में भी उसी परमात्मा को देखता है। यही सच्ची राजविद्या की जागृति है।

अब सकाम और निष्काम उपासना के फल में अंतर को समझते हैं। सकाम उपासना का अर्थ है किसी कामना या इच्छा को लेकर की गई उपासना। जब कोई व्यक्ति धन की प्राप्ति के लिए, संतान के लिए, रोग से मुक्ति के लिए, परीक्षा में सफलता के लिए या स्वर्ग की प्राप्ति के लिए परमात्मा या देवी-देवताओं की पूजा करता है, तो वह सकाम उपासना है। भगवान ने कहा है कि जो लोग तीनों वेदों को जानने वाले, यज्ञों द्वारा मेरी पूजा करते हुए स्वर्ग की कामना रखते हैं, वे अपने पुण्यकर्मों के फलस्वरूप स्वर्गलोक को प्राप्त होते हैं। स्वर्गलोक में उन्हें दिव्य भोग प्राप्त होते हैं। वे वहां के सुखों को भोगते हैं। परंतु यह सुख स्थायी नहीं है। जब उनके पुण्य समाप्त हो जाते हैं, तो वे पुनः मृत्युलोक में लौट आते हैं। भगवान कहते हैं कि इस प्रकार तीनों वेदों में कहे हुए सकाम कर्मों का अनुष्ठान करने वाले आने-जाने रूप को प्राप्त होते हैं। अर्थात् वे जन्म-मृत्यु के चक्र में फंसे रहते हैं।

सकाम उपासना का फल सीमित और अस्थायी है। स्वर्ग भी एक लोक है और समय—सीमा में बंधा हुआ है। वहां का सुख भी नश्वर है। सकाम भक्ति में भक्त की दृष्टि परमात्मा पर नहीं बल्कि अपनी इच्छाओं की पूर्ति पर होती है। वह परमात्मा को एक साधन के रूप में देखता है, साध्य के रूप में नहीं। उसका प्रेम शर्तों पर आधारित होता है। यदि उसकी इच्छा पूरी हो जाती है तो वह प्रसन्न होता है, यदि नहीं होती तो निराश हो जाता है। कभी—कभी तो वह परमात्मा से शिकायत भी करने लगता है और उनके प्रति अविश्वास भी रखने लगता है। यह सच्ची भक्ति नहीं है, यह एक प्रकार का व्यापार है जिसमें भक्त अपनी पूजा, अपने दान, अपनी तपस्या के बदले में कुछ पाने की अपेक्षा रखता है।

दूसरी ओर निष्काम उपासना सकाम उपासना से सर्वथा भिन्न और श्रेष्ठ है। निष्काम उपासना में साधक किसी भी प्रकार की कामना नहीं रखता। वह केवल परमात्मा के प्रेम में, परमात्मा की प्राप्ति के लिए उपासना करता है। उसे धन नहीं चाहिए, स्वर्ग नहीं चाहिए, यश नहीं चाहिए, सम्मान नहीं चाहिए, यहां तक कि मोक्ष की भी कामना नहीं होती। वह तो बस परमात्मा को चाहता है, उनकी भक्ति करना चाहता है, उनके चरणों में रहना चाहता है। उसका प्रेम निस्वार्थ है, शुद्ध है, बिना किसी शर्त के है। यही सच्ची भक्ति है, यही निष्काम उपासना है।

भगवान श्रीकृष्ण ने निष्काम भक्तों के लिए एक अद्भुत वचन दिया है। उन्होंने कहा है कि जो अनन्य भक्त मुझमें चित्त को लगाकर निरंतर मेरा चिंतन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूं। योग का अर्थ है जो प्राप्त नहीं है उसकी प्राप्ति और क्षेम का अर्थ है जो प्राप्त है उसकी रक्षा। यह भगवान का आश्वासन है कि निष्काम भक्त को किसी चीज की चिंता करने की आवश्यकता नहीं होती। परमात्मा स्वयं उसकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। भोजन, वस्त्र, आवास जो कुछ भी आवश्यक है, वह सब परमात्मा की कृपा से मिल जाता है। साथ ही जो मिल गया है उसकी रक्षा भी परमात्मा करते हैं।

निष्काम उपासना का फल अनंत और शाश्वत है। निष्काम भक्त परमात्मा को प्राप्त करता है और फिर कभी संसार में नहीं लौटता। वह जन्म—मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है। उसे परम शांति, परम आनंद और परम सुख की प्राप्ति होती है। यह सुख स्वर्ग के सुख से कोटि—कोटि गुना अधिक है क्योंकि यह परमात्मा के साथ एकता का सुख है। स्वर्ग में भी द्वैत बना रहता है, भोक्ता और भोग्य का भेद बना रहता है। लेकिन निष्काम भक्ति में भक्त और भगवान के बीच का भेद मिट जाता है। भक्त परमात्मा में विलीन हो जाता है। वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है। उसे वह अनुभूति होती है जिसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार सकाम और निष्काम उपासना में मूलभूत अंतर है। सकाम उपासना संसार से मुक्ति नहीं देती, निष्काम उपासना मुक्ति देती है। सकाम उपासना अस्थायी फल देती है, निष्काम उपासना शाश्वत फल देती है। सकाम उपासना में स्वार्थ छिपा होता है, निष्काम उपासना में केवल प्रेम होता है। इसलिए भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन, तू निष्काम भाव से मेरी उपासना कर, केवल मुझमें मन लगा, तो तू निश्चित रूप से मुझे प्राप्त होगा।

भक्ति का वास्तविक स्वरूप:

भगवद्गीता के नवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने भक्ति के अत्यंत सरल और सुगम मार्ग का उपदेश दिया है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि परमात्मा की प्राप्ति के लिए कठिन साधनाओं, महंगे यज्ञों या विशाल दान की आवश्यकता नहीं है। केवल सच्चे प्रेम और शुद्ध भाव की आवश्यकता है। भगवान ने कहा है — “पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतातमनः॥” अर्थात् जो कोई मुझे प्रेम से पत्र, पुष्प, फल या जल भी अर्पण करता है, उस शुद्ध बुद्धि वाले का प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह मैं स्वीकार कर लेता हूं। इस एक श्लोक में भगवान ने भक्ति के सार को समेट दिया है। यहां चार साधारण वस्तुओं का उल्लेख है

— पत्ता, फूल, फल और जल। ये चारों वस्तुएं अत्यंत सामान्य हैं। एक निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी इन्हें प्राप्त कर सकता है। पत्ता किसी भी पेड़ से तोड़ा जा सकता है, फूल बगीचे या जंगल में मिल सकता है, फल वृक्ष पर लगा होता है और जल नदी, तालाब या कुएं से प्राप्त किया जा सकता है।

इन साधारण वस्तुओं का उल्लेख करके भगवान ने यह संदेश दिया है कि भक्ति में बाहरी दिखावे, धन-संपत्ति या ऊंचे कुल का कोई महत्व नहीं है। एक गरीब व्यक्ति, एक अशिक्षित व्यक्ति, एक साधारण ग्रामीण भी परमात्मा की भक्ति कर सकता है। उसे किसी मंदिर में जाने की आवश्यकता नहीं, किसी पंडित को बुलाने की आवश्यकता नहीं, महंगी पूजा सामग्री खरीदने की आवश्यकता नहीं। वह जहां है, जैसा है, वहीं से परमात्मा को पुकार सकता है और उनकी भक्ति कर सकता है।

लेकिन इस श्लोक में सबसे महत्वपूर्ण शब्द है “भक्त्या” अर्थात् भक्ति से, प्रेम से। भगवान कहते हैं कि जो मुझे भक्ति से अर्पण करता है, मैं उसे स्वीकार करता हूं। यहां महत्व वस्तु का नहीं, भाव का है। यदि कोई व्यक्ति लाखों रुपये का सोना चढ़ाए लेकिन उसके मन में प्रेम नहीं है, केवल दिखावा है या कोई स्वार्थ है, तो परमात्मा उसे स्वीकार नहीं करते। लेकिन यदि कोई निर्धन व्यक्ति एक पत्ता भी सच्चे प्रेम से, शुद्ध हृदय से अर्पण करता है, तो परमात्मा उसे तुरंत स्वीकार कर लेते हैं।

भगवान ने “प्रयतातमनः” शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है शुद्ध बुद्धि वाला, पवित्र मन वाला। सच्ची भक्ति के लिए मन की शुद्धता आवश्यक है। मन में छल-कपट नहीं होना चाहिए, द्वेष नहीं होना चाहिए, स्वार्थ नहीं होना चाहिए। जब मन निर्मल हो जाता है, विचार पवित्र हो जाते हैं, तब परमात्मा वहां निवास करते हैं। एक शुद्ध हृदय वाले व्यक्ति की छोटी सी भेंट भी परमात्मा को प्रिय है, लेकिन एक अशुद्ध मन वाले व्यक्ति का सबसे बड़ा दान भी व्यर्थ है।

भगवान ने आगे कहा है—“यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥” अर्थात् हे अर्जुन, तू जो कुछ भी करता है, जो कुछ भी खाता है, जो कुछ भी हवन करता है, जो कुछ भी दान देता है और जो कुछ भी तप करता है, वह सब मुझे अर्पण कर। इस श्लोक में भगवान ने भक्ति को और भी सरल बना दिया है। वे कहते हैं कि तुम्हें कोई विशेष साधना करने की आवश्यकता नहीं है। जो तुम सामान्य जीवन में करते हो, उसी को मुझे अर्पित कर दो।

खाना खाते समय यह भाव रखो कि यह भोजन परमात्मा का प्रसाद है, मैं परमात्मा को अर्पण करके फिर ग्रहण कर रहा हूं। काम करते समय यह सोचो कि यह कार्य मैं परमात्मा की सेवा के रूप में कर रहा हूं। दान देते समय यह भाव रखो कि यह धन परमात्मा का है और मैं उनकी आज्ञा से दूसरों को दे रहा हूं। तप करते समय यह विचार रखो कि यह तप परमात्मा की प्रसन्नता के लिए है। इस प्रकार जीवन का प्रत्येक क्षण पूजा बन जाता है। प्रत्येक कर्म यज्ञ बन जाता है। प्रत्येक दिन उत्सव बन जाता है।

सच्ची भक्ति में महत्वपूर्ण है श्रद्धा, प्रेम, समर्पण और निरंतरता। श्रद्धा का अर्थ है दृढ़ विश्वास कि परमात्मा हैं, वे सर्वत्र विद्यमान हैं और वे मेरी सुनते हैं। प्रेम का अर्थ है निस्वार्थ, शर्तरहित, पवित्र प्रेम जिसमें कोई अपेक्षा नहीं होती। समर्पण का अर्थ है अपने अहंकार को त्यागकर, अपने को परमात्मा के चरणों में सौंप देना। निरंतरता का अर्थ है कभी-कभी नहीं बल्कि सदैव, प्रत्येक क्षण परमात्मा का स्मरण रखना।

भगवान ने यह भी स्पष्ट किया है कि भक्ति में कोई भेदभाव नहीं है। वे कहते हैं कि मैं सबके लिए समान हूं। न कोई मेरा प्रिय है, न कोई अप्रिय। परंतु जो मुझमें प्रेम से भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूं। चाहे कोई धनी हो या निर्धन, ब्राह्मण हो या शूद्र, पुरुष हो या स्त्री, शिक्षित हो या अशिक्षित, सभी परमात्मा की भक्ति कर सकते हैं। परमात्मा किसी से भेदभाव नहीं करते। वे केवल भाव देखते हैं, हृदय देखते हैं, प्रेम देखते हैं।

इस प्रकार भगवान ने भक्ति के ऐसे सरल मार्ग का उपदेश दिया है जिसे कोई भी अपना सकता है। इसके लिए

किसी विशेष योग्यता, किसी विशेष ज्ञान या किसी विशेष साधन की आवश्यकता नहीं है। केवल एक प्रेमपूर्ण हृदय और शुद्ध भाव की आवश्यकता है। यही भक्ति का सार है, यही राजविद्या का रहस्य है।

राजविद्या की जागृति मनुष्य के जीवन में एक क्रांतिकारी परिवर्तन लाती है। यह केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं है बल्कि एक आंतरिक अनुभूति है जो व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व को बदल देती है। राजविद्या की जागृति का अर्थ है अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानना, परमात्मा के साथ अपने संबंध को समझना और जीवन के सच्चे उद्देश्य को जान लेना।

राजविद्या की जागृति होने पर सबसे पहला परिवर्तन यह आता है कि व्यक्ति को अपनी वास्तविकता का बोध होता है। वह समझ जाता है कि मैं यह नश्वर शरीर नहीं हूँ, बल्कि अमर आत्मा हूँ। यह शरीर तो वस्त्र की भांति है जिसे आत्मा धारण करती है और समय आने पर त्याग देती है। लेकिन आत्मा का कभी नाश नहीं होता। यह ज्ञान व्यक्ति को मृत्यु के भय से मुक्त कर देता है। जब मृत्यु का भय नष्ट हो जाता है, तो जीवन का सबसे बड़ा भय नष्ट हो जाता है। फिर व्यक्ति निर्भय होकर जीता है।

दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन यह आता है कि व्यक्ति की आसक्ति कम हो जाती है। जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि संसार की सभी वस्तुएं नश्वर हैं, केवल परमात्मा ही अविनाशी हैं, तो उसका मन संसार की वस्तुओं से हट जाता है। वह धन को देखता है लेकिन उसमें फंसेता नहीं। वह परिवार के साथ रहता है लेकिन अत्यधिक आसक्ति नहीं होता। वह संसार में रहता है लेकिन संसार उसके भीतर नहीं रहता। यह वैराग्य उसे हल्का कर देता है, उसे स्वतंत्र कर देता है।

तीसरा परिवर्तन यह आता है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण बदल जाता है। राजविद्या की जागृति होने पर वह सभी प्राणियों में परमात्मा को देखने लगता है। उसके लिए कोई छोटा नहीं है, कोई बड़ा नहीं है। सभी परमात्मा की संतान हैं, सभी में वही एक चेतना विराजमान है। यह दृष्टि उसे विशाल हृदय वाला बना देती है। वह किसी से घृणा नहीं करता, किसी से द्वेष नहीं रखता। उसके मन में सभी के लिए करुणा, प्रेम और सम्मान होता है। यह परिवर्तन उसके संबंधों को मधुर बना देता है और उसके जीवन में सुख-शांति लाता है।

चौथा परिवर्तन यह आता है कि व्यक्ति को अपने जीवन का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। अब वह समझ जाता है कि जीवन का उद्देश्य केवल खाना-पीना, धन कमाना, परिवार बसाना और मर जाना नहीं है। जीवन का वास्तविक उद्देश्य परमात्मा की प्राप्ति है। यह ज्ञान उसे एक दिशा देता है, एक लक्ष्य देता है। अब उसकी सारी ऊर्जा, सारा प्रयास उस एक लक्ष्य की ओर केंद्रित हो जाता है। यह एकाग्रता उसे शक्तिशाली बना देती है।

पांचवां परिवर्तन यह आता है कि व्यक्ति के भीतर शांति आ जाती है। राजविद्या की जागृति से पहले मन सदैव अशांत रहता है। इच्छाओं का तूफान, चिंताओं का बोझ, भय और असुरक्षा की भावना मन को कभी शांत नहीं होने देती। लेकिन जब राजविद्या जाग जाती है, तो व्यक्ति समझ जाता है कि चिंता करने से क्या होगा, भयभीत होने से क्या लाभ है। सब कुछ परमात्मा के हाथ में है, वही सबका पालन करता है, वही सबकी रक्षा करता है। यह विश्वास उसे गहरी शांति देता है।

छठा परिवर्तन यह आता है कि व्यक्ति के जीवन में आनंद का स्रोत बदल जाता है। पहले वह बाहर की वस्तुओं में सुख खोजता था। नया घर, नई गाड़ी, नए वस्त्र, स्वादिष्ट भोजन, मनोरंजन — ये सब उसके सुख के साधन थे। लेकिन राजविद्या जागने पर वह समझ जाता है कि बाहरी वस्तुओं का सुख क्षणिक है, अस्थायी है। सच्चा आनंद तो भीतर है, परमात्मा के साथ संबंध में है। अब उसका आनंद भीतर से आता है। वह किसी बाहरी वस्तु पर निर्भर नहीं रहता। यह स्वतंत्रता उसे अद्भुत आनंद देती है।

सातवां परिवर्तन यह आता है कि व्यक्ति का कर्म परिवर्तित हो जाता है। राजविद्या जागने के बाद वह स्वार्थवश कर्म नहीं करता। उसके कर्म परमार्थ के लिए, लोक कल्याण के लिए होते हैं। वह समझ जाता है कि यह

शरीर, यह मन, यह बुद्धि परमात्मा की देन है और इसका उपयोग परमात्मा की सेवा में, समाज की सेवा में होना चाहिए। इस प्रकार उसका जीवन यज्ञमय हो जाता है।

अब अध्याय 8 और 9 के मुख्य संदेशों की बात करें तो ये अध्याय भगवद्गीता के अत्यंत महत्वपूर्ण अध्याय हैं। अध्याय 8 का मुख्य संदेश है कि मनुष्य को जीवनभर परमात्मा का स्मरण करते रहना चाहिए क्योंकि अंतकाल में जिसका स्मरण होगा, उसी को प्राप्ति होगी। यह अध्याय हमें सिखाता है कि अक्षर ब्रह्म अविनाशी है, वही परम सत्य है। संसार की सभी वस्तुएं अब अध्याय 8 और 9 के मुख्य संदेशों की बात करें तो ये अध्याय भगवद्गीता के अत्यंत महत्वपूर्ण अध्याय हैं। अध्याय 8 का मुख्य संदेश है कि मनुष्य को जीवनभर परमात्मा का स्मरण करते रहना चाहिए क्योंकि अंतकाल में जिसका स्मरण होगा, उसी को प्राप्ति होगी। यह अध्याय हमें सिखाता है कि अक्षर ब्रह्म अविनाशी है, वही परम सत्य है। संसार की सभी वस्तुएं नाशवान हैं लेकिन ब्रह्म नित्य है। अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ को समझकर साधक परमात्मा के रहस्य को जान सकता है।

यह अध्याय यह भी बताता है कि जो साधक निरंतर परमात्मा का ध्यान करता है, अभ्यास और वैराग्य द्वारा अपने मन को स्थिर रखता है और अंतकाल में भी परमात्मा का स्मरण बनाए रखता है, वह निश्चित रूप से परमात्मा को प्राप्त होता है। भगवान ने ओंकार का उच्चारण करते हुए, मुझे स्मरण करते हुए जो शरीर त्यागता है, वह परम गति को प्राप्त होता है — यह महत्वपूर्ण उपदेश दिया है। इस अध्याय में यह भी बताया गया है कि योगी लोग जिस अक्षर ब्रह्म को कहते हैं और जिसमें विरागी लोग प्रवेश करते हैं, उस परम पद को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। अध्याय 9 का मुख्य संदेश है कि परमात्मा की भक्ति अत्यंत सरल है और यह सबके लिए उपलब्ध है। यह अध्याय राजविद्या और राजगुह्य है क्योंकि यह सर्वोच्च ज्ञान है और सबसे गोपनीय रहस्य है। इस अध्याय में भगवान ने अपनी सर्वव्यापकता का वर्णन किया है। उन्होंने बताया है कि वे अव्यक्त रूप से संपूर्ण जगत में व्याप्त हैं और सभी प्राणी उनमें स्थित हैं। फिर भी वे किसी में बंधे हुए नहीं हैं, पूर्णतया निर्लिप्त हैं।

इस अध्याय का एक महत्वपूर्ण संदेश यह है कि परमात्मा सबके लिए समान हैं। न कोई उनका प्रिय है, न कोई अप्रिय। लेकिन जो उनमें प्रेम से भजते हैं, वे उनमें हैं और परमात्मा भी उनमें हैं। यह समानता का सिद्धांत अत्यंत महत्वपूर्ण है। इससे पता चलता है कि भक्ति में कोई भेदभाव नहीं है। चाहे कोई किसी भी जाति का हो, किसी भी वर्ण का हो, धनी हो या निर्धन, शिक्षित हो या अशिक्षित, सभी परमात्मा की भक्ति कर सकते हैं।

अध्याय 9 में "पत्रं पुष्पं फलं तोयम्" का प्रसिद्ध श्लोक है जो यह बताता है कि परमात्मा केवल प्रेम और भाव देखते हैं, वस्तु की कीमत नहीं। एक साधारण पत्ता भी यदि प्रेम से अर्पित किया जाए तो परमात्मा उसे स्वीकार करते हैं। यह संदेश अत्यंत क्रांतिकारी है क्योंकि यह भक्ति को सभी की पहुंच में ला देता है। अब कोई यह नहीं कह सकता कि मेरे पास धन नहीं है इसलिए मैं पूजा नहीं कर सकता। परमात्मा को धन नहीं, प्रेम चाहिए। इस अध्याय में सकाम और निष्काम उपासना का स्पष्ट विभाजन किया गया है। भगवान ने बताया है कि सकाम उपासना करने वाले स्वर्ग को प्राप्त होते हैं लेकिन पुण्य समाप्त होने पर पुनः लौट आते हैं। वे जन्म-मृत्यु के चक्र में फंसे रहते हैं। लेकिन जो निष्काम भाव से, अनन्य भक्ति से परमात्मा की उपासना करते हैं, उनका योगक्षेम परमात्मा स्वयं वहन करते हैं और वे परमगति को प्राप्त होते हैं। यह संदेश हमें निष्काम भक्ति की ओर प्रेरित करता है।

अध्याय 9 में यह भी बताया गया है कि परमात्मा ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कारण हैं। कल्प के अंत में सभी प्राणी उनकी प्रकृति में लीन हो जाते हैं और फिर कल्प के आदि में पुनः उत्पन्न होते हैं। यह चक्र निरंतर चलता रहता है। परंतु परमात्मा इस सबसे परे हैं, निर्लिप्त हैं। यह ज्ञान हमें संसार की नश्वरता को समझने में सहायता करता है।

दोनों अध्यायों का सार यह है कि मनुष्य को जीवन में परमात्मा को सर्वोच्च स्थान देना चाहिए। चाहे वह कोई भी कर्म करे, किसी भी परिस्थिति में हो, उसे परमात्मा का स्मरण बनाए रखना चाहिए। भक्ति के लिए किसी विशेष योग्यता या साधन की आवश्यकता नहीं है। केवल सच्चे प्रेम और शुद्ध भाव की आवश्यकता है। जो व्यक्ति इस मार्ग पर चलता है, वह निश्चित रूप से जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त होता है। यही इन दोनों अध्यायों का मूल संदेश है। “योगक्षेम” एक संयुक्त शब्द है जो दो शब्दों से मिलकर बना है — योग और क्षेम। योग का अर्थ है जो प्राप्त नहीं है उसकी प्राप्ति और क्षेम का अर्थ है जो प्राप्त है उसकी रक्षा। अर्थात् योगक्षेम का अर्थ हुआ अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा। यह एक अत्यंत व्यापक अवधारणा है जो मनुष्य की सभी आवश्यकताओं को समेटे हुए है।

जब हम जीवन में देखते हैं तो पाते हैं कि मनुष्य की दो प्रमुख चिंताएं होती हैं। पहली चिंता यह कि जो मेरे पास नहीं है, वह कैसे मिले। दूसरी चिंता यह कि जो मेरे पास है, वह कहीं चला न जाए। भोजन की आवश्यकता है तो कैसे मिले — यह योग है। भोजन मिल गया तो उसे सुरक्षित कैसे रखें — यह क्षेम है। धन की आवश्यकता है तो कैसे कमाएं — यह योग है। धन आ गया तो उसकी रक्षा कैसे करें, कहीं चोरी न हो जाए — यह क्षेम है। इस प्रकार योगक्षेम मनुष्य की सभी भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति और सुरक्षा को व्यक्त करता है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के नवें अध्याय में कहा है — “अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।” अर्थात् जो अनन्य भक्त मुझमें चित्त को लगाकर निरंतर मेरा चिंतन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य मुझमें लगे हुए पुरुषों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूं। यह भगवान का एक अद्भुत आश्वासन है। वे कह रहे हैं कि जो मेरी अनन्य भक्ति करते हैं, उनकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति मैं स्वयं करूंगा।

यहां “अनन्य” शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण है। अनन्य का अर्थ है जिसका कोई दूसरा न हो, जो केवल एक में ही लगा हो। अनन्य भक्त वह है जो केवल परमात्मा के ही आश्रय में रहता है। उसे धन का, परिवार का, मित्रों का, समाज का या किसी अन्य चीज का आश्रय नहीं है। उसका एकमात्र आश्रय परमात्मा हैं। वह सदैव यह सोचता है कि परमात्मा मेरे साथ हैं, वे मेरी रक्षा करेंगे, वे मेरा पालन करेंगे। उसका विश्वास अटूट है, उसकी श्रद्धा अडिग है। अनन्य भक्ति की दूसरी विशेषता यह है कि भक्त निरंतर परमात्मा का चिंतन करता है। “चिन्तयन्तः” शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ है चिंतन करते हुए। अनन्य भक्त सदैव परमात्मा के बारे में सोचता रहता है। काम करते समय भी उसके मन में परमात्मा का स्मरण रहता है। खाते-पीते, सोते-जागते, चलते-फिरते हर समय परमात्मा उसके मन में बसे रहते हैं। यह निरंतर स्मरण ही अनन्य भक्ति की पहचान है।

अनन्य भक्ति की तीसरी विशेषता यह है कि भक्त परमात्मा की उपासना करता है। “पर्युपासते” शब्द का अर्थ है भली-भांति उपासना करना। उपासना का अर्थ केवल मंत्र जपना या पूजा करना नहीं है। उपासना का अर्थ है पास बैठना, निकट रहना। अनन्य भक्त सदैव परमात्मा के पास बैठा रहता है। मन से, विचारों से, भावना से वह सदैव परमात्मा के निकट है। यह उपासना उसके जीवन का स्वाभाविक अंग बन जाती है।

भगवान कहते हैं कि ऐसे अनन्य भक्तों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूं। “वहाम्यहम्” में “अहम्” शब्द का प्रयोग विशेष महत्व रखता है। भगवान स्वयं कह रहे हैं कि मैं स्वयं उनका योगक्षेम वहन करता हूं। इसका अर्थ यह है कि अनन्य भक्त को अपनी आवश्यकताओं की चिंता करने की जरूरत नहीं है। परमात्मा स्वयं यह जिम्मेदारी ले लेते हैं। जो चीज आवश्यक है, वह समय पर मिल जाएगी। जो मिल गया है, उसकी रक्षा भी हो जाएगी। भक्त को केवल भक्ति में लगे रहना है, बाकी सब परमात्मा का काम है।

यहां यह समझना आवश्यक है कि योगक्षेम का अर्थ केवल भौतिक चीजें नहीं हैं। निश्चित रूप से परमात्मा अपने भक्त को रोटी, कपड़ा, मकान आदि आवश्यक चीजें देते हैं। लेकिन इससे भी अधिक वे उसे आध्यात्मिक समृद्धि देते हैं। भक्त को शांति मिलती है, आनंद मिलता है, संतोष मिलता है। उसके जीवन में प्रेम आता है,

करुणा आती है। ये सब भी योगक्षेम के अंतर्गत आते हैं। और अंततः भगवान उसे अपनी प्राप्ति का मार्ग दिखाते हैं, यही सबसे बड़ा योगक्षेम है।

अनन्य भक्ति का महत्व यह है कि यह भक्त को पूर्णतया निश्चित कर देती है। संसार में लोग अनेक चीजों की चिंता में घुलते रहते हैं। धन की चिंता, परिवार की चिंता, स्वास्थ्य की चिंता, भविष्य की चिंता — ये चिंताएं मनुष्य को खोखला कर देती हैं। लेकिन अनन्य भक्त इन सभी चिंताओं से मुक्त हो जाता है। वह जानता है कि परमात्मा हैं, वे सब देख रहे हैं, वे सब करेंगे। यह विश्वास उसे अपार शांति देता है।

अनन्य भक्ति का दूसरा महत्व यह है कि यह भक्त को आत्मनिर्भर बनाती है। वह किसी पर निर्भर नहीं रहता। संसार में लोग दूसरों पर निर्भर रहते हैं और जब वे साथ छोड़ देते हैं तो टूट जाते हैं। लेकिन अनन्य भक्त परमात्मा पर निर्भर है और परमात्मा कभी साथ नहीं छोड़ते। इसलिए वह सदैव सुरक्षित महसूस करता है।

अनन्य भक्ति का तीसरा महत्व यह है कि यह भक्त को परमात्मा के निकट ले आती है। जब भक्त अनन्य भाव से परमात्मा का चिंतन करता है, उनकी उपासना करता है, तो परमात्मा भी उसके निकट आते हैं। भगवान कहते हैं कि वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ। यह निकटता ही भक्ति का लक्ष्य है। इस निकटता में भक्त को परम आनंद की प्राप्ति होती है। और अंततः यही निकटता एकता में बदल जाती है और भक्त परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अनन्य भक्ति मनुष्य को जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य तक पहुंचाने का साधन है।

8.3 निष्कर्ष

भगवद्गीता के अध्याय 8 और 9 में भगवान श्रीकृष्ण ने अक्षर ब्रह्म और राजविद्या के गूढ़ रहस्यों को उजागर किया है। इन दोनों अध्यायों का सार यह है कि मनुष्य को अपने जीवन में परमात्मा को सर्वोच्च स्थान देना चाहिए और निरंतर उनका स्मरण करते रहना चाहिए। अक्षर ब्रह्म वह अविनाशी तत्व है जो संसार के सभी परिवर्तनों से परे है। जो साधक इस ब्रह्म को जान लेता है और अंतकाल में भी उसका स्मरण बनाए रखता है, वह जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त हो जाता है।

राजविद्या सभी विद्याओं में श्रेष्ठ है क्योंकि यह मनुष्य को परम लक्ष्य तक पहुंचाती है। यह विद्या बताती है कि परमात्मा सर्वव्यापी हैं, सभी में समान रूप से विद्यमान हैं और सभी के लिए सुलभ हैं। भक्ति के लिए धन, कुल, शिक्षा या किसी विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं है। केवल सच्चे प्रेम, शुद्ध भाव और अनन्य श्रद्धा की आवश्यकता है।

सकाम उपासना अस्थायी फल देती है जबकि निष्काम उपासना शाश्वत फल देती है। जो निष्काम भाव से, बिना किसी कामना के परमात्मा की भक्ति करते हैं, उनका योगक्षेम परमात्मा स्वयं वहन करते हैं। ऐसे भक्त परमगति को प्राप्त होते हैं और फिर कभी संसार में नहीं लौटते। इन दोनों अध्यायों का अध्ययन करके साधक को यह प्रेरणा मिलती है कि वह अपने जीवन को परमात्मा के चरणों में समर्पित कर दे। जीवन के प्रत्येक कर्म को परमात्मा को अर्पण करते हुए, निरंतर उनका स्मरण करते हुए और अनन्य भक्ति से उनकी उपासना करते हुए वह उस परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है जिसके लिए मनुष्य जीवन मिला है। यही इन अध्यायों का संदेश है और यही मानव जीवन का सच्चा उद्देश्य है।

8.4 बोध प्रश्न:

“योगक्षेम” शब्द का क्या अर्थ है? भगवान श्रीकृष्ण ने किन भक्तों के योगक्षेम को वहन करने का वचन

दिया है? इस संदर्भ में अनन्य भक्ति का क्या महत्व है

सकाम और निष्काम उपासना के फल में क्या अंतर है?

सकाम उपासना और निष्काम उपासना में क्या अंतर है?

अधियज्ञ कौन है और वह कहां स्थित है?

राजविद्या-राजगुह्य योग में वर्णित परमात्मा की सर्वव्यापकता को विस्तार से समझाइए।

भगवान श्रीकृष्ण ने भक्ति के सरल मार्ग का वर्णन किस प्रकार किया है?

पत्रं पुष्पं फलं तोयं श्लोक के आधार पर समझाइए कि सच्ची भक्ति में क्या महत्वपूर्ण है।

राजविद्या की जागृति से मनुष्य के जीवन में क्या परिवर्तन आता है? अध्याय 8 और 9 के मुख्य संदेशों को अपने शब्दों में लिखिए।

संरचना

9.1 विभूति योग

- 9.1.1 भूमिका और अध्याय का महत्व
- 9.1.2 विभूति योग का अर्थ और परिचय
- 9.1.3 भगवान श्रीकृष्ण की दिव्य विभूतियाँ
- 9.1.4 योगशक्ति का स्वरूप
- 9.1.5 विभूति ज्ञान का महत्व

9.2 विश्वरूप दर्शन योग

- 9.2.1 विश्वरूप दर्शन योग का परिचय
- 9.2.2 अर्जुन की प्रार्थना और दिव्य दृष्टि
- 9.2.3 विराट स्वरूप का वर्णन
- 9.2.4 अर्जुन का भयभीत होना
- 9.2.5 भगवान का सौम्य रूप
- 9.2.6 विश्वरूप दर्शन का आध्यात्मिक महत्व

9.3 बोध प्रश्न

9.1 विभूति योग

9.1.1 भूमिका और अध्याय का महत्व : भगवद्गीता का दशम अध्याय 'विभूति योग' के नाम से जाना जाता है। यह अध्याय भगवान श्रीकृष्ण की अद्भुत शक्तियों और उनकी दिव्य विभूतियों का वर्णन करता है। इस अध्याय में कुल बयालीस श्लोक हैं। विभूति शब्द का अर्थ है ऐश्वर्य, प्रभाव, महिमा या दिव्य शक्ति। भगवान श्रीकृष्ण इस अध्याय में अर्जुन को यह बताते हैं कि संसार में जो कुछ भी श्रेष्ठ, तेजस्वी, शक्तिशाली और सुंदर है, वह सब उनकी ही विभूति है। वे अपनी योगशक्ति से संपूर्ण जगत को धारण करते हैं और उसका संचालन करते हैं। इस अध्याय का आध्यात्मिक महत्व अत्यंत गहरा है क्योंकि यह भक्तों को भगवान की महिमा का बोध कराता है और उनके प्रति श्रद्धा एवं भक्ति को बढ़ाता है। जब साधक संसार की विभिन्न वस्तुओं और घटनाओं में भगवान की झलक देखना सीख जाता है, तो उसका जीवन एक नई दिशा प्राप्त कर लेता है। वह प्रत्येक वस्तु में परमात्मा का दर्शन करने लगता है और उसका जीवन भक्तिमय हो जाता है। यह अध्याय साधक को संसार से विरक्त नहीं करता बल्कि संसार में रहते हुए भी भगवान से जुड़े रहने की कला सिखाता है।

9.1.2 विभूति योग का अर्थ और परिचय : विभूति योग का शाब्दिक अर्थ है भगवान की दिव्य शक्तियों और विभूतियों के माध्यम से उनसे योग स्थापित करना। योग का अर्थ है मिलन या जुड़ाव। जब भक्त संसार की श्रेष्ठ वस्तुओं, शक्तियों और गुणों में भगवान की उपस्थिति को पहचानता है, तो उसका भगवान के साथ योग हो जाता है। यह योग केवल ध्यान या समाधि से ही नहीं होता बल्कि दैनिक जीवन में भी संभव है। जब हम सूर्य

के तेज में, चंद्रमा की शीतलता में, समुद्र की गहराई में, हिमालय की ऊंचाई में भगवान को देखते हैं, तो हमारा उनसे सहज योग स्थापित हो जाता है। भगवान श्रीकृष्ण इस अध्याय की शुरुआत में अर्जुन से कहते हैं कि वे पुनः अपने परम रहस्य को कहने जा रहे हैं क्योंकि अर्जुन उनका प्रिय भक्त है। वे कहते हैं कि न देवता और न ही महर्षिगण उनके जन्म और प्रभाव को जानते हैं क्योंकि वे सबके आदि कारण हैं। जो मनुष्य उन्हें अजन्मा, अनादि और जगत का महान ईश्वर जानता है, वह मनुष्यों में ज्ञानवान है और सभी पापों से मुक्त हो जाता है। बुद्धि, ज्ञान, असमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव, अभाव, भय और अभय — ये सभी भाव भगवान से ही उत्पन्न होते हैं।

9.1.3 भगवान श्रीकृष्ण की दिव्य विभूतियाँ : भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी विभूतियों का वर्णन बड़े विस्तार से किया है। उन्होंने अर्जुन को बताया कि वे विभिन्न क्षेत्रों में किस रूप में प्रकट होते हैं। ये विभूतियाँ भौतिक, आध्यात्मिक और दिव्य सभी स्तरों पर हैं। भगवान कहते हैं कि वे आदित्यों में विष्णु हैं, ज्योतियों में किरणों वाला सूर्य हैं, मरीचि आदि मरुद्गणों में मरीचि हैं और नक्षत्रों में चंद्रमा हैं। वेदों में वे सामवेद हैं, देवताओं में इंद्र हैं, इंद्रियों में मन हैं और प्राणियों में चेतना हैं।

रुद्रों में भगवान शंकर हैं, यक्षों और राक्षसों में कुबेर हैं, वसुओं में अग्नि हैं और पर्वतों में सुमेरु पर्वत हैं। पुरोहितों में वे बृहस्पति हैं, सेनापतियों में स्कंद हैं और जलाशयों में समुद्र हैं। महर्षियों में भृगु हैं, वाणी में एक अक्षर ओंकार हैं, यज्ञों में जप यज्ञ हैं और स्थिर रहने वालों में हिमालय पर्वत हैं। सभी वृक्षों में अश्वत्थ (पीपल) हैं, देवर्षियों में नारद हैं, गंधर्वों में चित्ररथ हैं और सिद्धों में कपिल मुनि हैं। विभूति योग का अर्थ है भगवान की दिव्य शक्तियों और विभूतियों के माध्यम से उनसे मिलन। भगवान की पांच प्रमुख विभूतियाँ हैं : (1) वेदों में सामवेद, (2) देवताओं में इंद्र, (3) इंद्रियों में मन, (4) पर्वतों में हिमालय, और (5) पक्षियों में गरुड़। घोड़ों में अमृत से उत्पन्न उच्चैःश्रवा हैं, श्रेष्ठ हाथियों में ऐरावत हैं और मनुष्यों में राजा हैं। आयुधों में वे वज्र हैं, कामधेनुओं में कामधेनु हैं और संतानोत्पत्ति के कारण कामदेव हैं। सर्पों में वासुकि हैं, नागों में शेषनाग हैं, पितरों में अर्यमा हैं और शासन करने वालों में यमराज हैं। दैत्यों में प्रह्लाद हैं, गणना करने वालों में काल हैं, पशुओं में सिंह हैं और पक्षियों में गरुड़ हैं।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: विभूति योग का क्या अर्थ है? भगवान श्रीकृष्ण ने किन्हीं पांच विभूतियों का उल्लेख कीजिए।

9.1.4 योगशक्ति का स्वरूप : भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया कि वे अपनी योगशक्ति से इस संपूर्ण जगत को एक अंश मात्र से धारण किए हुए हैं। योगशक्ति भगवान की वह दिव्य शक्ति है जिससे वे सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी अव्यक्त रहते हैं। यह शक्ति भौतिक नियमों से परे है और इसी के द्वारा भगवान सृष्टि की रचना, पालन और संहार करते हैं। योगशक्ति के कारण ही भगवान एक साथ अनेक रूपों में प्रकट हो सकते हैं और फिर भी अपने मूल स्वरूप में स्थित रहते हैं। भगवान कहते हैं कि जो कुछ भी विभूतियुक्त, श्रीमान और शक्तिशाली है, उसे उनकी तेज के अंश से उत्पन्न हुआ जानना चाहिए। लेकिन इतना जान लेना ही काफी नहीं है। अर्जुन को यह भी समझना चाहिए कि भगवान अपने एक अंश मात्र से इस सम्पूर्ण जगत को धारण किए हुए स्थित हैं। यह वाक्य अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह दर्शाता है कि भगवान की महिमा अनंत है और जो कुछ भी हम देखते या अनुभव करते हैं, वह उनकी शक्ति का एक बहुत छोटा सा अंश मात्र है। योगशक्ति की विशेषता यह है कि यह चिंतन, ध्यान और भक्ति के माध्यम से अनुभव की जा सकती है। जब भक्त पूर्ण श्रद्धा और एकाग्रता के साथ भगवान का चिंतन करता है, तो वह इस योगशक्ति को अपने भीतर अनुभव करने लगता है। यह अनुभूति केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं होती बल्कि एक जीवंत अनुभव होता है जो साधक के जीवन को पूरी

तरह बदल देता है। योगशक्ति के प्रभाव से साधक में असाधारण क्षमताएं विकसित हो जाती हैं और वह जीवन की कठिनाइयों का सामना सहजता से कर पाता है।

9.1.5 विभूति ज्ञान का महत्व : विभूति ज्ञान का साधक के जीवन में विशेष महत्व है। जब साधक यह जान लेता है कि संसार की प्रत्येक श्रेष्ठ वस्तु भगवान की विभूति है, तो उसकी दृष्टि बदल जाती है। वह संसार को नए नजरिए से देखने लगता है। पहले जो वस्तुएं उसे साधारण लगती थीं, अब वे भगवान की अभिव्यक्ति के रूप में दिखाई देती हैं। सूर्य का उदय होना, नदी का बहना, पक्षियों का कलरव, फूलों का खिलना – ये सब भगवान की लीला के रूप में अनुभव होने लगते हैं। विभूति ज्ञान से भक्ति में वृद्धि होती है। जब भक्त हर जगह भगवान को देखता है, तो उसका हृदय भक्ति भाव से भर जाता है। वह प्रकृति के प्रति भी सम्मान और प्रेम का भाव रखने लगता है क्योंकि वह समझता है कि प्रकृति भी भगवान की ही अभिव्यक्ति है। यह ज्ञान उसे अहंकार से मुक्त करता है क्योंकि वह यह समझ जाता है कि जो कुछ भी श्रेष्ठ है, वह भगवान की कृपा से ही है। इससे उसके मन में विनम्रता आती है और वह दूसरों के प्रति सहिष्णु और करुणामय बन जाता है। योगशक्ति भगवान की वह दिव्य शक्ति है जिससे वे सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी अव्यक्त रहते हैं। इसी शक्ति से भगवान अपने एक अंश मात्र से संपूर्ण जगत को धारण करते हैं। योगशक्ति के माध्यम से साधक भगवान से योग स्थापित कर सकता है और आध्यात्मिक प्रगति कर सकता है।

विभूति ज्ञान साधक को आध्यात्मिक प्रगति की ओर ले जाता है। जब वह संसार में भगवान की उपस्थिति को अनुभव करने लगता है, तो उसका मन स्वतः ही भगवान की ओर आकर्षित होने लगता है। यह आकर्षण इतना सशक्त होता है कि साधक बिना किसी प्रयास के ध्यान में स्थिर हो जाता है। उसे बार-बार मन को एकाग्र करने की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि मन स्वयं ही भगवान में लीन रहना चाहता है। इस स्थिति में साधक की साधना सहज और आनंदमय हो जाती है।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: योगशक्ति क्या है और इसका क्या महत्व है?

9.1.6 विभूति योग का व्यावहारिक पक्ष : विभूति योग केवल एक दार्शनिक अवधारणा नहीं है बल्कि इसका व्यावहारिक जीवन में गहरा प्रभाव है। जब हम अपने दैनिक जीवन में विभूति योग के सिद्धांतों को अपनाते हैं, तो हमारा जीवन अधिक सार्थक और आनंदमय हो जाता है। उदाहरण के लिए, जब हम किसी महान व्यक्ति से मिलते हैं या उसके बारे में सुनते हैं, तो हम उसमें भगवान की विभूति को पहचान सकते हैं। यह दृष्टिकोण हमें दूसरों का सम्मान करना सिखाता है और हमारे अहंकार को कम करता है। प्रकृति के साथ हमारा संबंध भी इस ज्ञान से गहरा हो जाता है। जब हम पर्वतों, नदियों, वृक्षों और पशु-पक्षियों में भगवान की विभूति देखते हैं, तो हम प्रकृति के प्रति अधिक संवेदनशील और जिम्मेदार बन जाते हैं। हम यह समझने लगते हैं कि प्रकृति का संरक्षण केवल पर्यावरणीय जरूरत नहीं बल्कि एक आध्यात्मिक कर्तव्य भी है। यह दृष्टिकोण आज के युग में विशेष रूप से महत्वपूर्ण है जब पर्यावरण संकट गहराता जा रहा है।

कला और विज्ञान के क्षेत्र में भी विभूति ज्ञान का अनुप्रयोग हो सकता है। जब कोई वैज्ञानिक प्रकृति के रहस्यों को जानता है या कोई कलाकार सुंदर कृति बनाता है, तो उसमें भगवान की विभूति की झलक मिलती है। यह समझ हमें विज्ञान और कला दोनों के प्रति सम्मान का भाव रखना सिखाती है। हम यह मानने लगते हैं कि सच्ची प्रतिभा ईश्वर की देन है और इसका उपयोग समाज के कल्याण के लिए किया जाना चाहिए। इस प्रकार विभूति योग हमारे संपूर्ण जीवन को आध्यात्मिक आयाम प्रदान करता है।

9.2 विश्वरूप दर्शन योग

9.2.1 विश्वरूप दर्शन योग का परिचय : भगवद्गीता का एकादश अध्याय 'शिवस्वरूप दर्शन योग' के नाम से प्रसिद्ध है। यह गीता का सबसे रोमांचक और रहस्यमय अध्याय माना जाता है। इस अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को अपना विराट स्वरूप दिखाते हैं जो संपूर्ण ब्रह्मांड को अपने भीतर समाए हुए है। यह दर्शन अर्जुन के लिए एक अभूतपूर्व अनुभव था जिसने उनके जीवन को पूरी तरह बदल दिया। इस अध्याय में कुल पचपन श्लोक हैं जो विश्वरूप के वर्णन, अर्जुन की प्रतिक्रिया और भगवान की व्याख्या से भरे हुए हैं। विश्वरूप का अर्थ है वह रूप जो संपूर्ण विश्व को अपने में समाहित किए हुए है। यह रूप भगवान का दिव्य और अलौकिक स्वरूप है जिसे साधारण आंखों से नहीं देखा जा सकता। इसके लिए दिव्य दृष्टि की आवश्यकता होती है। विश्वरूप दर्शन योग का उद्देश्य भक्त को यह बोध कराना है कि भगवान केवल एक मानवीय रूप में ही नहीं हैं बल्कि वे संपूर्ण सृष्टि के आधार और स्रोत हैं। यह दर्शन भक्त को भगवान की महिमा का पूर्ण बोध कराता है और उसकी भक्ति को अत्यंत गहन बना देता है।

9.2.2 अर्जुन की प्रार्थना और दिव्य दृष्टि : दसवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण की विभूतियों का वर्णन सुनकर अर्जुन अत्यंत प्रभावित हुए। उन्हें लगा कि भगवान की महिमा अनंत है और वे केवल उनके मानवीय रूप को ही नहीं बल्कि उनके विराट स्वरूप को भी देखना चाहते हैं। अर्जुन ने विनम्रतापूर्वक भगवान से प्रार्थना की कि यदि भगवान को उचित लगे तो वे उन्हें अपना विश्वरूप दिखाएं। अर्जुन ने कहा कि भगवान ने जिस अव्यय स्वरूप का वर्णन किया है, उसे वे साक्षात् देखना चाहते हैं। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि यदि भगवान समझते हैं कि वे इस दर्शन के योग्य हैं, तभी उन्हें यह दर्शन दें। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन की भक्ति और उनकी इच्छा से अत्यंत प्रसन्न हुए। उन्होंने अर्जुन से कहा कि वे अपने सैकड़ों और हजारों दिव्य रूपों को देखें जो विभिन्न प्रकार के हैं और विभिन्न वर्णों तथा आकृतियों वाले हैं। उन्होंने अर्जुन से कहा कि वे आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, अश्विनीकुमारों और मरुद्गणों को भी देखें। भगवान ने कहा कि अर्जुन ऐसे बहुत से आश्चर्यजनक रूपों को देखेंगे जो पहले किसी ने नहीं देखे। उन्होंने अर्जुन से कहा कि वे उनके शरीर में संपूर्ण जगत को चराचर सहित एक जगह स्थित देखें और जो कुछ भी देखना चाहते हैं, वह सब देखें। भगवान की विभूतियों का वर्णन सुनकर अर्जुन उनके विराट स्वरूप को साक्षात् देखना चाहते थे। उन्होंने विनम्रतापूर्वक भगवान से विश्वरूप दिखाने की प्रार्थना की। भगवान ने प्रसन्न होकर अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्रदान की जिससे वे विराट स्वरूप का दर्शन कर सकें क्योंकि यह साधारण आंखों से देखना संभव नहीं था।

भगवान की विभूतियों का वर्णन सुनकर अर्जुन उनके विराट स्वरूप को साक्षात् देखना चाहते थे। उन्होंने विनम्रतापूर्वक भगवान से विश्वरूप दिखाने की प्रार्थना की। भगवान ने प्रसन्न होकर अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्रदान की जिससे वे विराट स्वरूप का दर्शन कर सकें क्योंकि यह साधारण आंखों से देखना संभव नहीं था। लेकिन भगवान ने यह भी कहा कि अर्जुन इन आंखों से उनके विराट स्वरूप को नहीं देख सकते क्योंकि यह साधारण दृष्टि से परे है। इसलिए भगवान ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्रदान की। यह दिव्य दृष्टि एक विशेष शक्ति थी जो भगवान की कृपा से ही प्राप्त हो सकती थी। इस दृष्टि के द्वारा ही अर्जुन भगवान के विराट स्वरूप का दर्शन कर सके। यह घटना दर्शाती है कि आध्यात्मिक अनुभव भगवान की कृपा के बिना संभव नहीं है। साधक कितना भी प्रयास करे, लेकिन परम सत्य का साक्षात्कार केवल भगवान की कृपा से ही होता है।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: अर्जुन ने विश्वरूप दर्शन की प्रार्थना क्यों की और भगवान ने उन्हें क्या दिया?

9.2.3 विराट स्वरूप का वर्णन : संजय ने धृतराष्ट्र से कहा कि इस प्रकार कहकर भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना परम ऐश्वर्ययुक्त विश्वरूप दिखाया। वह रूप अनेक मुख और नेत्रों वाला था, अनेक अद्भुत दर्शनों वाला था, अनेक दिव्य आभूषणों से युक्त था और अनेक दिव्य अस्त्र-शस्त्र धारण किए हुए था। वह दिव्य माला और वस्त्र धारण किए हुए था, दिव्य गंध का लेप किए हुए था, सब प्रकार के आश्चर्यों से युक्त था, अनंत

था और सभी ओर मुख वाला था। यदि आकाश में हजार सूर्य एक साथ उदय हों, तो उनका प्रकाश भी उस विराट स्वरूप के तेज के समान हो सकता है। अर्जुन ने उस समय भगवान के शरीर में संपूर्ण जगत को अनेक प्रकार से विभक्त होते हुए एक जगह स्थित देखा। विराट स्वरूप में अर्जुन ने देखा कि असंख्य हाथ, पेट, मुख और नेत्र हैं। उस विराट स्वरूप का न आदि है, न मध्य है और न अंत है। वह चारों ओर फैला हुआ है। अर्जुन ने देखा कि वह स्वरूप मुकुट, गदा और चक्र धारण किए हुए है। वह तेज का पुंज है और सब ओर प्रकाशमान है। वह अग्नि और सूर्य के समान तेजस्वी है और देखने में अत्यंत कठिन है। भगवान का वह विराट रूप अक्षर अर्थात् नाशरहित है, परम धाम है और जानने योग्य परम तत्व है। वह संपूर्ण जगत का धारक है और सनातन धर्म का पालन करने वाला है। अर्जुन ने अनुभव किया कि भगवान ही सनातन पुरुष हैं।

अर्जुन ने देखा कि उस विराट स्वरूप में अनंत भुजाएं हैं, सूर्य और चंद्रमा रूपी नेत्र हैं, प्रज्वलित अग्नि के समान मुख है और अपने तेज से संपूर्ण जगत को तपाता हुआ है। आकाश और पृथ्वी के बीच का सारा स्थान भगवान के उस एक ही रूप से व्याप्त है। तीनों लोक भगवान के उस अद्भुत और भयंकर रूप को देखकर अत्यंत व्याकुल हो रहे हैं। अर्जुन ने देखा कि देवताओं के समूह भगवान में प्रवेश कर रहे हैं। कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़कर भगवान की स्तुति कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धों के समूह स्वस्ति कहते हुए उत्तम स्तोत्रों द्वारा भगवान की स्तुति कर रहे हैं। विराट स्वरूप में अर्जुन ने यह भी देखा कि सभी योद्धा भगवान के भयंकर मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। कुछ योद्धाओं के सिर भगवान के दांतों के बीच में पिस रहे हैं।

जिस प्रकार नदियों के प्रवाह समुद्र की ओर दौड़ते हैं, उसी प्रकार वीर योद्धा भगवान के प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। जिस प्रकार पतंगे नाश होने के लिए प्रज्वलित अग्नि में वेग से प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार सभी लोग भी नाश होने के लिए भगवान के मुखों में अत्यंत वेग से प्रवेश कर रहे हैं। भगवान अपनी प्रज्वलित ज्वालाओं से सब लोकों को चाटते हुए बार-बार निगल रहे हैं। भगवान का वह उग्र तेज संपूर्ण जगत को अपने प्रकाश से तपा रहा है।

9.2.4 अर्जुन का भयभीत होना और स्तुति : विश्वरूप को देखकर अर्जुन अत्यंत विस्मित और भयभीत हो गए। उन्होंने हाथ जोड़कर सिर झुकाते हुए भगवान से कहा कि वे उनके शरीर में सभी देवताओं को देख रहे हैं। ब्रह्मा जी कमल के आसन पर विराजमान हैं, सभी ऋषि और दिव्य सर्प भी दिखाई दे रहे हैं। अर्जुन ने कहा कि वे भगवान को अनेक भुजाओं, पेटों, मुखों और नेत्रों से युक्त अनंत रूप में सब ओर देख रहे हैं। वे उनका न आदि देख पा रहे हैं, न मध्य और न अंत। अर्जुन ने कहा कि वे भगवान को मुकुट, गदा और चक्र धारण किए हुए तेज के पुंज के रूप में, सब ओर प्रकाशमान, अग्नि और सूर्य के समान तेजस्वी और देखने में अत्यंत कठिन देख रहे हैं।

अर्जुन ने भगवान की स्तुति करते हुए कहा कि वे ही जानने योग्य परम तत्व हैं, वे ही इस जगत के परम आश्रय हैं, वे ही अविनाशी सनातन धर्म के रक्षक हैं और वे ही सनातन पुरुष हैं। अर्जुन ने कहा कि वे भगवान को आदि, मध्य और अंत से रहित, अनंत सामर्थ्यवान, असंख्य भुजाओं वाला, सूर्य और चंद्रमा को नेत्र रूप में धारण करने वाला, प्रज्वलित अग्नि के समान मुख वाला और अपने तेज से इस जगत को तपाने वाला देख रहे हैं। विराट स्वरूप में अनेक मुख, नेत्र, भुजाएं और दिव्य आभूषण थे। उसका तेज हजार सूर्यों के समान था। अर्जुन ने उसमें संपूर्ण जगत को, सभी देवताओं को, ब्रह्मा जी को, ऋषियों को और दिव्य सर्पों को देखा। उन्होंने यह भी देखा कि सभी योद्धा उसके भयंकर मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। वह रूप अनंत था और उसका न आदि था, न मध्य और न अंत।

अर्जुन ने भयभीत होकर कहा कि भगवान के इस अद्भुत और भयंकर रूप को देखकर तीनों लोक

व्याकुल हो रहे हैं। उन्होंने भगवान से प्रार्थना की कि वे बताएं कि वे कौन हैं और इतने उग्र रूप में क्यों हैं। अर्जुन ने कहा कि वे भगवान के आदि स्वरूप को जानना चाहते हैं क्योंकि वे उनकी प्रवृत्ति को नहीं जानते। इस प्रकार अर्जुन की स्थिति अत्यंत विचित्र हो गई थी। एक ओर वे भगवान के विराट स्वरूप को देखकर अत्यंत प्रभावित थे और दूसरी ओर भयभीत भी थे।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: विराट स्वरूप का वर्णन करते हुए बताइए कि अर्जुन ने उसमें क्या-क्या देखा?

9.2.5 भगवान का उत्तर और काल स्वरूप : भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रश्न—का उत्तर देते हुए कहा कि वे लोकों का नाश करने वाले बड़े हुए महाकाल हैं और इस समय लोकों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। भगवान ने कहा कि जो विपक्षी सेना में खड़े योद्धा हैं, वे सब भी नहीं बचेंगे। इसलिए अर्जुन को युद्ध के लिए तैयार हो जाना चाहिए। भगवान ने कहा कि द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह, जयद्रथ, कर्ण और अन्य महान योद्धाओं को तो भगवान ने पहले ही मार दिया है। अर्जुन केवल निमित्त मात्र है। उसे भयभीत नहीं होना चाहिए और शत्रुओं को मारकर समृद्ध राज्य का आनंद लेना चाहिए।

भगवान के इन वचनों को सुनकर अर्जुन की स्थिति और भी विचित्र हो गई। एक ओर उन्हें भगवान का आदेश मिल रहा था कि वे युद्ध करें, दूसरी ओर उन्हें यह भी समझ में आ रहा था कि सब कुछ भगवान की इच्छा से ही हो रहा है। भगवान का काल स्वरूप देखकर अर्जुन को यह बोध हो गया कि जीवन और मृत्यु दोनों भगवान के हाथ में हैं। जो होना है वह तो होकर रहेगा। मनुष्य केवल निमित्त मात्र है। यह ज्ञान अर्जुन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण था क्योंकि इसने उनके मोह को पूरी तरह नष्ट कर दिया।

संजय ने धृतराष्ट्र को बताया कि भगवान के ये वचन सुनकर कर्ण सहित अर्जुन कांपते हुए हाथ जोड़कर भगवान को बार-बार प्रणाम करते हुए अत्यंत भयभीत होकर गदगद वाणी से बोले। अर्जुन ने कहा कि भगवान के नाम, यश और कीर्ति से जगत में प्रसन्नता हो रही है और सभी भगवान के अनुरक्त हो रहे हैं। राक्षस भयभीत होकर दिशाओं में भाग रहे हैं और सिद्धों के समूह भगवान को प्रणाम कर रहे हैं। अर्जुन ने कहा कि ऐसा क्यों न हो क्योंकि भगवान ब्रह्मा से भी बड़े हैं और आदि कर्ता हैं। हे अनंत देवों के देव, हे जगत के निवास, आप अक्षर हैं, सत् और असत् हैं और उनसे परे भी हैं।

9.2.6 अर्जुन की क्षमा याचना : अर्जुन ने अपने पूर्व व्यवहार के लिए भगवान से क्षमा मांगी। उन्होंने कहा कि अज्ञानवश या प्रेमवश उन्होंने भगवान को कई बार सखा मानकर हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा कहकर संबोधित किया है। उन्होंने विहार, शय्या और भोजन के समय भी कभी अकेले में और कभी सबके सामने भगवान के साथ अनुचित व्यवहार किया है। हे अप्रमेय, उन सब अपराधों के लिए वे भगवान से क्षमा मांगते हैं। अर्जुन ने कहा कि जिस प्रकार पिता पुत्र का, सखा सखा का और प्रिय पति अपनी प्रिया का अपराध क्षमा कर देता है, उसी प्रकार हे देव, आप भी मेरे अपराध क्षमा कर दें।

अर्जुन ने कहा कि वे भगवान के उस अलौकिक रूप को देखकर अत्यंत प्रसन्न हैं लेकिन साथ ही उनका मन भय से व्याकुल भी हो रहा है। इसलिए वे भगवान से प्रार्थना करते हैं कि वे अपने देवरूप को दिखाएं। हे देवेश, हे जगन्निवास, वे कृपा करें। अर्जुन ने कहा कि वे भगवान को वैसे ही रूप में देखना चाहते हैं जैसे पहले देखते थे — मुकुट धारण किए हुए, गदा और चक्र हाथ में लिए हुए चतुर्भुज रूप में। हे सहस्रभुज, हे विश्वमूर्ते, आप उसी रूप में प्रकट हों।

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि उन पर प्रसन्न होकर उन्होंने अपनी योगशक्ति से अपने इस परम तेजोमय, विश्वरूप, अनंत और आदि स्वरूप को दिखाया है। यह स्वरूप अर्जुन से पहले किसी ने नहीं देखा। भगवान ने कहा कि वेदों के अध्ययन से, यज्ञों से, दान से, क्रियाओं से और तीव्र तपस्याओं से भी मनुष्यलोक में

उनके इस स्वरूप का दर्शन नहीं हो सकता। यह केवल भगवान की कृपा से ही संभव है। भगवान ने अर्जुन को आश्वासन दिया कि वे उनके इस भयंकर रूप को देखकर व्याकुल न हों और भयभीत न हों। निर्भय और प्रसन्न मन से वे फिर से उसी मनुष्य रूप को देखें।

9.2.7 भगवान का सौम्य रूप और महत्व : संजय ने बताया कि इस प्रकार कहकर भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को फिर अपना चतुर्भुज रूप दिखाया और फिर महातमा श्रीकृष्ण अपने सौम्य मानव रूप में आ गए जिससे अर्जुन का भयभीत मन शांत हो गया। अर्जुन ने कहा कि भगवान के इस सौम्य मानुष रूप को देखकर वे अब सचेत हो गए हैं और उनका स्वाभाविक भाव पुनः प्राप्त हो गया है। भगवान ने अर्जुन से कहा कि जिस उनके रूप को अर्जुन ने देखा है, उसका दर्शन अत्यंत दुर्लभ है। देवता भी सदा इस रूप के दर्शन की कामना करते रहते हैं। अर्जुन ने भगवान की महिमा जानकर अपने पूर्व व्यवहार के लिए क्षमा मांगी। उन्होंने कहा कि अज्ञानवश या प्रेमवश उन्होंने भगवान को सखा मानकर अनेक बार अनुचित तरीके से संबोधित किया और व्यवहार किया। उन्होंने भगवान से प्रार्थना की कि वे अपने सौम्य चतुर्भुज रूप में प्रकट हों क्योंकि विराट रूप देखकर उनका मन भयभीत हो रहा था।

भगवान ने स्पष्ट किया कि जिस उनके रूप को अर्जुन ने देखा है, उसे न वेदों के अध्ययन से, न तप से, न दान से और न यज्ञों से देखा जा सकता है। हे परंतप अर्जुन, केवल अनन्य भक्ति से ही उनके इस प्रकार के स्वरूप को तत्व से जाना जा सकता है, देखा जा सकता है और उनमें प्रवेश भी किया जा सकता है। भगवान ने कहा कि जो मनुष्य उनके लिए ही सब कर्म करता है, उनको परम मानता है, उनका भक्त है, आसक्ति रहित है और सब भूत प्राणियों के प्रति वैरभाव से रहित है, वह उनको प्राप्त होता है।

इस प्रकार भगवान ने अर्जुन को यह समझाया कि विश्वरूप दर्शन का वास्तविक उद्देश्य भगवान की महिमा का बोध कराना है, उन्हें भयभीत करना नहीं। भगवान का सौम्य मानव रूप ही भक्तों के लिए सबसे प्रिय और सुलभ है। विराट रूप तो केवल यह दिखाने के लिए था कि भगवान की शक्ति अनंत है और वे सर्वव्यापी हैं। लेकिन भक्त के लिए भगवान का प्रेममय सौम्य रूप ही सबसे महत्वपूर्ण है। यही रूप भक्त के हृदय में बसता है और उसे शांति और आनंद प्रदान करता है।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: अर्जुन ने भगवान से क्षमा क्यों मांगी और क्या प्रार्थना की?

9.2.8 विश्वरूप दर्शन का आध्यात्मिक महत्व : विश्वरूप दर्शन का आध्यात्मिक महत्व अत्यंत गहरा और बहुआयामी है। यह दर्शन साधक को कई महत्वपूर्ण सत्यों का बोध कराता है। सबसे पहला और सबसे महत्वपूर्ण सत्य यह है कि भगवान केवल एक सीमित मानवीय रूप में नहीं हैं बल्कि वे संपूर्ण ब्रह्मांड को अपने भीतर समाए हुए हैं। वे सर्वव्यापी हैं और उनकी शक्ति अनंत है। यह बोध साधक के अहंकार को नष्ट कर देता है और उसे विनम्र बना देता है। जब साधक यह समझ जाता है कि भगवान की महिमा अपार है, तो वह अपने को अत्यंत छोटा और तुच्छ महसूस करता है और भगवान के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव आता है।

दूसरा महत्वपूर्ण सत्य यह है कि भगवान ही काल हैं। जीवन और मृत्यु दोनों उनके हाथ में हैं। जो होना है वह तो होकर रहेगा। मनुष्य केवल निमित्त मात्र है। यह ज्ञान साधक को कर्म करने की प्रेरणा देता है लेकिन साथ ही उसे फल की चिंता से मुक्त भी करता है। वह यह समझ जाता है कि उसका काम केवल अपना कर्तव्य पूरा करना है, परिणाम तो भगवान के हाथ में है। यह दृष्टिकोण साधक को तनाव मुक्त बनाता है और उसे शांति प्रदान करता है।

तीसरा महत्वपूर्ण सत्य यह है कि भगवान का दर्शन केवल भक्ति से ही संभव है। वेदों का अध्ययन, तप, दान, यज्ञ — ये सब महत्वपूर्ण हैं लेकिन भगवान का साक्षात्कार केवल अनन्य भक्ति से ही होता है। यह संदेश

साधक को भक्ति मार्ग की श्रेष्ठता का बोध कराता है। भक्ति केवल एक भावनात्मक स्थिति नहीं है बल्कि यह सर्वोच्च साधना है जो साधक को परमात्मा से मिला देती है। भक्ति में पूर्ण समर्पण होता है, अहंकार का विसर्जन होता है और भगवान की इच्छा में अपनी इच्छा को मिला देने का भाव होता है।

चौथा महत्वपूर्ण सत्य यह है कि भगवान का सौम्य रूप ही भक्तों के लिए सबसे प्रिय और उपयोगी है। विराट रूप भले ही अद्भुत और शक्तिशाली हो, लेकिन वह भयभीत करने वाला है। भक्त को तो भगवान के प्रेममय, सौम्य रूप की आवश्यकता होती है जो उसे शांति, सुरक्षा और आनंद प्रदान करे। यह संदेश बताता है कि भगवान अपने भक्तों की भावनाओं का सम्मान करते हैं और उनकी आवश्यकतानुसार अपने रूप को प्रकट करते हैं। भगवान कठोर नहीं हैं बल्कि अत्यंत करुणामय और प्रेममय हैं।

9.2.9 विश्वरूप दर्शन का प्रभाव : विश्वरूप दर्शन का अर्जुन पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस दर्शन ने उनके जीवन को पूरी तरह बदल दिया। पहले अर्जुन मोह में फंसे हुए थे और युद्ध करने से मना कर रहे थे। लेकिन विश्वरूप दर्शन के बाद उनका मोह पूरी तरह नष्ट हो गया। उन्हें यह समझ में आ गया कि सब कुछ भगवान की इच्छा से हो रहा है और उन्हें केवल अपना कर्तव्य पूरा करना है। उन्होंने यह भी समझ लिया कि जीवन और मृत्यु एक सतत प्रक्रिया है और आत्मा अमर है। इस ज्ञान ने उन्हें युद्ध करने के लिए तैयार कर दिया।

विश्वरूप दर्शन ने अर्जुन को यह भी सिखाया कि भगवान की महिमा अपार है और मनुष्य को विनम्र रहना चाहिए। अर्जुन को अपने पूर्व व्यवहार पर पश्चाताप हुआ जब उन्होंने भगवान के साथ सखा की तरह व्यवहार किया था। लेकिन भगवान की करुणा ने उन्हें यह भी सिखाया कि भगवान अपने भक्तों से प्रेम करते हैं और उनके छोटे-मोटे अपराधों को क्षमा कर देते हैं। यह अनुभव अर्जुन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण था क्योंकि इसने उनके हृदय में भगवान के प्रति गहन भक्ति और प्रेम उत्पन्न किया।

सामान्य साधकों के लिए भी विश्वरूप दर्शन का संदेश अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह दर्शन हमें याद दिलाता है कि हम एक विशाल ब्रह्मांड के छोटे से हिस्से हैं और हमारे जीवन का एक बड़ा उद्देश्य है। हमें अपने छोटे-छोटे स्वार्थों से ऊपर उठकर सोचना चाहिए और अपने जीवन को एक उच्च उद्देश्य के लिए समर्पित करना चाहिए। विश्वरूप दर्शन हमें यह भी सिखाता है कि भगवान हर जगह हैं और हर चीज में हैं। इसलिए हमें प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक वस्तु का सम्मान करना चाहिए। यह दृष्टिकोण हमारे जीवन को अधिक सार्थक और आनंदमय बना सकता है।

9.2.10 विभूति और विश्वरूप दर्शन में संबंध : जब हम दसवें और ग्यारहवें अध्याय को साथ में देखते हैं, तो हमें इन दोनों के बीच एक गहरा संबंध दिखाई देता है। विभूति योग में भगवान ने अपनी विभिन्न विभूतियों का वर्णन किया और बताया कि संसार में जो कुछ भी श्रेष्ठ है, वह उनकी ही अभिव्यक्ति है। यह वर्णन अर्जुन को धीरे-धीरे भगवान की महिमा का बोध करा रहा था। लेकिन केवल वर्णन सुनने से पूर्ण बोध नहीं हो सकता। इसीलिए विश्वरूप दर्शन आवश्यक था। विश्वरूप दर्शन में अर्जुन ने साक्षात् देखा कि सभी विभूतियाँ भगवान के विराट स्वरूप में समाहित हैं। यह साक्षात्कार बौद्धिक ज्ञान से कहीं अधिक प्रभावशाली था। विभूति योग विश्वरूप दर्शन की तैयारी था। विभूति योग में भगवान ने अपनी विभूतियों का वर्णन करके अर्जुन के मन को तैयार किया और उनकी जिज्ञासा बढ़ाई। जब अर्जुन पूरी तरह तैयार हो गए, तब भगवान ने उन्हें विश्वरूप दिखाया। विभूति योग में सुना गया ज्ञान विश्वरूप दर्शन में साक्षात् अनुभव बन गया। दोनों अध्याय मिलकर एक संपूर्ण आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान करते हैं।

विभूति योग एक तैयारी थी विश्वरूप दर्शन के लिए। पहले भगवान ने अर्जुन के मन को अपनी विभूतियों के वर्णन से तैयार किया, उनकी जिज्ञासा बढ़ाई और फिर जब अर्जुन पूरी तरह तैयार हो गए, तब उन्हें विश्वरूप का दर्शन कराया। यह एक क्रमबद्ध शिक्षण पद्धति थी। यदि भगवान ने अचानक विश्वरूप दिखा दिया होता, तो

संभव था कि अर्जुन उसे सहन न कर पाते या उसका सही अर्थ न समझ पाते। लेकिन विभूति योग के माध्यम से उनका मन तैयार हो गया था और इसलिए वे विश्वरूप के गहन अर्थ को समझ सके।

इन दोनों अध्यायों से मिलकर एक संपूर्ण शिक्षा मिलती है। विभूति योग हमें सिखाता है कि भगवान को संसार में कैसे देखें। हर श्रेष्ठ वस्तु, हर सुंदर दृश्य, हर शक्तिशाली व्यक्ति में भगवान की झलक है। यह दृष्टिकोण हमें संसार से विरक्त नहीं करता बल्कि संसार को एक नए नजरिए से देखना सिखाता है। विश्वरूप दर्शन हमें सिखाता है कि भगवान की शक्ति अनंत है और वे सर्वव्यापी हैं। यह ज्ञान हमें विनम्र बनाता है और भगवान के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव उत्पन्न करता है। दोनों अध्याय मिलकर एक संतुलित आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रदान करते हैं।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: विभूति योग और विश्वरूप दर्शन योग में क्या संबंध है?

9.2.11 आधुनिक युग में इस शिक्षा की प्रासंगिकता : विभूति और विश्वरूप दर्शन की शिक्षा आज के युग में भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी महाभारत के समय में थी। आज का मनुष्य अनेक समस्याओं से घिरा हुआ है। एक ओर भौतिक उन्नति हो रही है तो दूसरी ओर मानसिक तनाव, चिंता और अवसाद बढ़ रहे हैं। लोग अपने जीवन के उद्देश्य को भूल गए हैं और केवल धन, यश और सुख की दौड़ में लगे हुए हैं। ऐसे समय में गीता की यह शिक्षा एक मार्गदर्शक प्रकाश की तरह है। विभूति योग हमें सिखाता है कि भगवान हर जगह हैं और हमें उन्हें अपने दैनिक जीवन में कैसे देखना है। यह दृष्टिकोण हमारे जीवन को आध्यात्मिक आयाम प्रदान करता है।

विश्वरूप दर्शन की शिक्षा हमें विनम्रता सिखाती है। आज के युग में अहंकार एक बड़ी समस्या है। लोग अपनी छोटी-छोटी उपलब्धियों पर इतराते हैं और दूसरों को छोटा समझते हैं। लेकिन जब हम विश्वरूप दर्शन के संदेश को समझते हैं, तो हमें अपनी वास्तविक स्थिति का बोध होता है। हम समझते हैं कि हम इस विशाल ब्रह्मांड के एक छोटे से हिस्से हैं और हमारी शक्ति सीमित है। यह बोध हमें विनम्र बनाता है और दूसरों के प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न करता है। विनम्रता से ही हम बेहतर मानवीय संबंध बना सकते हैं और समाज में शांति स्थापित कर सकते हैं। पर्यावरण संरक्षण के संदर्भ में भी ये अध्याय अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। विभूति योग में भगवान ने बताया कि वे पर्वतों में हिमालय हैं, वृक्षों में अश्वत्थ हैं, नदियों में गंगा हैं और पशुओं में सिंह हैं। यह संदेश स्पष्ट है कि प्रकृति भगवान की अभिव्यक्ति है और इसलिए हमें इसका सम्मान करना चाहिए। जब हम प्रकृति को भगवान के रूप में देखते हैं, तो हम उसका दोहन नहीं करते बल्कि उसका संरक्षण करते हैं। यह दृष्टिकोण आज की पर्यावरणीय समस्याओं का एक आध्यात्मिक समाधान प्रस्तुत करता है। यदि हर व्यक्ति प्रकृति को इस दृष्टि से देखे, तो पर्यावरण संकट को काफी हद तक कम किया जा सकता है।

9.2.12 व्यावहारिक जीवन में इन सिद्धांतों का अनुप्रयोग : विभूति और विश्वरूप दर्शन के सिद्धांतों को अपने दैनिक जीवन में लागू करना कठिन नहीं है। सबसे पहले हमें अपनी दृष्टि बदलनी होगी। जब हम सुबह उठें और सूर्य को देखें, तो यह सोचें कि यह भगवान का तेज है। जब हम पेड़-पौधों को देखें, तो यह अनुभव करें कि इनमें भगवान की शक्ति है। जब हम किसी महान व्यक्ति से मिलें या उसके बारे में सुनें, तो यह समझें कि उसकी प्रतिभा भगवान की देन है। इस प्रकार हम धीरे-धीरे हर जगह भगवान को देखना सीख सकते हैं। यह अभ्यास हमारे मन को शुद्ध करता है और हमारी भक्ति को गहन बनाता है।

दूसरा महत्वपूर्ण अभ्यास है विनम्रता का। जब भी हमें कोई सफलता मिले, तो हमें यह याद रखना चाहिए कि यह भगवान की कृपा है। हमें अहंकार नहीं करना चाहिए। जब भी हम असफल हों, तो हमें यह समझना चाहिए कि यह भी भगवान की इच्छा है और हमें कुछ सिखाने के लिए है। यह दृष्टिकोण हमें सफलता में विनम्र और

असफलता में धैर्यवान बनाता है। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि हम केवल निमित्त मात्र हैं और सब कुछ भगवान की योजना के अनुसार हो रहा है। यह समझ हमें तनाव से मुक्त करती है।

तीसरा महत्वपूर्ण अभ्यास है भक्ति का। हमें नियमित रूप से भगवान का स्मरण करना चाहिए, उनकी पूजा करनी चाहिए और उनका ध्यान करना चाहिए। भक्ति केवल मंदिर जाने या पूजा करने तक सीमित नहीं है। भक्ति का अर्थ है अपने सभी कार्यों को भगवान को समर्पित करना और सभी प्राणियों में भगवान को देखना। जब हम किसी की सेवा करते हैं, तो यह सोचें कि हम भगवान की सेवा कर रहे हैं। जब हम अपने कर्तव्य का पालन करते हैं, तो यह सोचें कि हम भगवान की आज्ञा का पालन कर रहे हैं। इस प्रकार हमारा संपूर्ण जीवन भक्तिमय हो सकता है। विश्वरूप दर्शन की शिक्षा आज भी अत्यंत प्रासंगिक है। यह हमें विनम्रता सिखाती है और अहंकार से मुक्त करती है। यह हमें यह बोध कराती है कि हम इस विशाल ब्रह्मांड के एक छोटे से हिस्से हैं। यह शिक्षा हमें तनाव से मुक्त करती है क्योंकि हम समझ जाते हैं कि सब कुछ भगवान की योजना के अनुसार हो रहा है। पर्यावरण संरक्षण के लिए भी यह शिक्षा महत्वपूर्ण है क्योंकि यह हमें प्रकृति का सम्मान करना सिखाती है।

बोध प्रश्न

प्रश्न—: विश्वरूप दर्शन की शिक्षा का आधुनिक युग में क्या महत्व है?

9.2.13 दोनों अध्यायों से मिलने वाली समग्र शिक्षा : जब हम विभूति योग और विश्वरूप दर्शन योग को एक साथ पढ़ते हैं, तो हमें एक समग्र आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त होती है। ये दोनों अध्याय हमें बताते हैं कि भगवान कौन हैं, वे कहाँ हैं और हम उनसे कैसे जुड़ सकते हैं। विभूति योग हमें बताता है कि भगवान संसार के हर श्रेष्ठ तत्व में विद्यमान हैं। हम उन्हें सूर्य के तेज में, चंद्रमा की शीतलता में, हिमालय की ऊँचाई में और समुद्र की गहराई में देख सकते हैं। यह ज्ञान हमें संसार को नए नजरिए से देखना सिखाता है। हम संसार से भागते नहीं हैं बल्कि संसार में रहते हुए भी भगवान से जुड़े रहते हैं।

विश्वरूप दर्शन हमें भगवान की असीम महिमा का बोध कराता है। यह हमें दिखाता है कि भगवान केवल सीमित रूप में नहीं हैं बल्कि वे सर्वव्यापी हैं और संपूर्ण ब्रह्मांड उनके भीतर है। यह ज्ञान हमें अहंकार से मुक्त करता है और भगवान के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव उत्पन्न करता है। साथ ही, यह ज्ञान हमें यह भी बताता है कि भगवान का सौम्य रूप ही भक्तों के लिए सबसे प्रिय है। भगवान प्रेममय और करुणामय हैं और वे अपने भक्तों की भावनाओं का सम्मान करते हैं।

इन दोनों अध्यायों से हमें यह भी शिक्षा मिलती है कि आध्यात्मिक प्रगति एक क्रमबद्ध प्रक्रिया है। पहले हमें भगवान की विभूतियों को पहचानना सीखना चाहिए। फिर धीरे-धीरे हमारी जिज्ञासा बढ़ती है और हम भगवान के गहन स्वरूप को जानना चाहते हैं। जब हम पूरी तरह तैयार हो जाते हैं, तब भगवान की कृपा से हमें उनका साक्षात्कार होता है। यह साक्षात्कार हमारे जीवन को पूरी तरह बदल देता है। हमारा मोह नष्ट हो जाता है, हमारी भक्ति गहन हो जाती है और हम अपने कर्तव्य का पालन पूर्ण निष्ठा और समर्पण के साथ करने लगते हैं।

9.2.14 साधना में इन अध्यायों का उपयोग : साधक अपनी साधना में इन अध्यायों का उपयोग विभिन्न तरीकों से कर सकता है। पहला तरीका है इन अध्यायों का नियमित पाठ और चिंतन। जब हम बार-बार इन अध्यायों को पढ़ते हैं, तो उनके अर्थ हमारे मन में गहरे उतरते जाते हैं। हम धीरे-धीरे उन सत्यों को समझने लगते हैं जो इन अध्यायों में छिपे हुए हैं। इसलिए साधक को इन अध्यायों का नियमित रूप से अध्ययन करना चाहिए और उन पर गहन चिंतन करना चाहिए। प्रत्येक बार पढ़ने पर कुछ नया अर्थ समझ में आता है और हमारी समझ गहरी होती जाती है।

दूसरा तरीका है विभूति ध्यान। साधक अपने ध्यान में भगवान की विभिन्न विभूतियों का चिंतन कर सकता है। वह सूर्य के तेज में भगवान को देख सकता है, चंद्रमा की शीतलता में भगवान को अनुभव कर सकता है। यह ध्यान साधक को भगवान के निकट ले जाता है और उसकी भक्ति को बढ़ाता है। विभूति ध्यान का एक लाभ यह है कि यह सहज है और दैनिक जीवन में आसानी से किया जा सकता है। जब हम किसी सुंदर दृश्य को देखते हैं या किसी महान व्यक्ति से मिलते हैं, तो हम तुरंत उसमें भगवान की विभूति को देख सकते हैं और कुछ क्षण के लिए ध्यान में स्थिर हो सकते हैं।

तीसरा तरीका है विश्वरूप का ध्यान। यह ध्यान अधिक गहन है और इसके लिए अधिक तैयारी की आवश्यकता होती है। साधक को पहले विश्वरूप का विस्तृत वर्णन पढ़ना चाहिए और उसे अपने मन में चित्रित करने का प्रयास करना चाहिए। फिर ध्यान में बैठकर उस विराट स्वरूप का चिंतन करना चाहिए। यह ध्यान साधक को भगवान की महिमा का गहन बोध कराता है और उसके अहंकार को पूरी तरह नष्ट कर देता है। लेकिन यह ध्यान केवल उन्नत साधकों के लिए ही उपयुक्त है क्योंकि यह बहुत शक्तिशाली है और इसे सही मार्गदर्शन में ही करना चाहिए।

9.2.15 इकाई का निष्कर्ष : विभूति योग और विश्वरूप दर्शन योग भगवद्गीता के दो अत्यंत महत्वपूर्ण अध्याय हैं। ये दोनों अध्याय मिलकर हमें भगवान के स्वरूप, उनकी महिमा और उनसे जुड़ने के मार्ग के बारे में संपूर्ण ज्ञान प्रदान करते हैं। विभूति योग हमें सिखाता है कि भगवान हर जगह हैं और हम उन्हें संसार की श्रेष्ठ वस्तुओं में देख सकते हैं। यह ज्ञान हमारे दैनिक जीवन को आध्यात्मिक बना देता है। हम संसार में रहते हुए भी भगवान से जुड़े रहते हैं। प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक व्यक्ति में हमें भगवान की झलक दिखाई देती है।

विश्वरूप दर्शन योग हमें भगवान की असीम महिमा का बोध कराता है। यह हमें दिखाता है कि भगवान केवल सीमित रूप में नहीं हैं बल्कि संपूर्ण ब्रह्मांड उनके भीतर है। यह ज्ञान हमें विनम्र बनाता है और हमारे अहंकार को नष्ट कर देता है। साथ ही, यह ज्ञान हमें यह भी बताता है कि भगवान अत्यंत करुणामय हैं और अपने भक्तों की भावनाओं का सम्मान करते हैं। वे अपने सौम्य रूप में भक्तों को शांति और आनंद प्रदान करते हैं। इन दोनों अध्यायों का संदेश सार्वभौमिक है और सभी युगों में, सभी स्थानों पर लागू होता है।

आज के युग में जब मनुष्य भौतिकता की दौड़ में भटक गया है और अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया है, इन अध्यायों का संदेश और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। ये अध्याय हमें याद दिलाते हैं कि जीवन का उद्देश्य केवल धन, यश और सुख प्राप्त करना नहीं है बल्कि भगवान को जानना और उनसे मिलना है। जब हम इस उद्देश्य को प्राप्त कर लेते हैं, तो हमारा जीवन सही अर्थों में सफल हो जाता है। हम शांति, आनंद और संतोष को प्राप्त करते हैं जो किसी भी भौतिक उपलब्धि से नहीं मिल सकता। इसलिए प्रत्येक साधक को इन अध्यायों का गहन अध्ययन करना चाहिए और उनके संदेश को अपने जीवन में उतारना चाहिए।

9.3 बोध प्रश्न

- प्रश्न-1 विभूति योग का विस्तार से वर्णन करते हुए बताइए कि भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी कौन-कौन सी प्रमुख विभूतियों का उल्लेख किया है। इस ज्ञान का साधक के जीवन में क्या महत्व है?
- प्रश्न-2 विश्वरूप दर्शन की संपूर्ण घटना का वर्णन कीजिए। अर्जुन ने विराट स्वरूप में क्या-क्या देखा और उनकी क्या प्रतिक्रिया थी?
- प्रश्न-3 “भगवान को केवल अनन्य भक्ति से ही जाना जा सकता है” — इस कथन की विश्वरूप दर्शन योग के संदर्भ में व्याख्या कीजिए।

- प्रश्न—4 विभूति योग और विश्वरूप दर्शन योग के बीच क्या संबंध है? दोनों अध्यायों से मिलकर हमें कौन सी समग्र शिक्षा प्राप्त होती है?
- प्रश्न—5 योगशक्ति का स्वरूप और महत्व समझाते हुए बताइए कि साधक अपनी साधना में इसका उपयोग कैसे कर सकता है।
- प्रश्न—6 विश्वरूप दर्शन के बाद भगवान ने अपना सौम्य रूप क्यों दिखाया? इससे हमें क्या शिक्षा मिलती है?
- प्रश्न—7 आधुनिक युग में विभूति और विश्वरूप दर्शन की शिक्षा की प्रासंगिकता पर एक विस्तृत निबंध लिखिए। पर्यावरण संरक्षण के संदर्भ में इस शिक्षा का विशेष उल्लेख कीजिए।
- प्रश्न—8 अर्जुन ने भगवान से क्षमा क्यों मांगी? इस घटना से हमें गुरु—शिष्य संबंध और भक्ति के बारे में क्या सीख मिलती है?
- प्रश्न—9 “भगवान काल स्वरूप हैं और सब कुछ उनकी इच्छा से हो रहा है” — इस कथन की व्याख्या करते हुए बताइए कि यह ज्ञान हमारे जीवन को कैसे प्रभावित कर सकता है।
- प्रश्न—10 विभूति और विश्वरूप दर्शन के सिद्धांतों को अपने दैनिक जीवन में कैसे लागू किया जा सकता है? व्यावहारिक उदाहरणों के साथ समझाइए।

खण्ड परिचय

यह खंड मानव जीवन के आंतरिक और बाह्य विकास दोनों को संतुलित रूप से समझाने का प्रयास करता है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि सच्चा व्यक्तित्व विकास केवल भौतिक प्रगति से नहीं, बल्कि आध्यात्मिक चेतना, नैतिक आचरण और श्रेष्ठ संस्कारों के निर्माण से होता है। यह खंड व्यक्ति को आत्मचिंतन, आत्मसंयम और आत्मविकास की दिशा में प्रेरित करता है, ताकि वह समाज और जीवन दोनों में सकारात्मक भूमिका निभा सके। इकाई-10 भक्ति योग और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ में भक्ति योग को ईश्वर प्राप्ति का सरल, सहज और सर्वसुलभ मार्ग बताया गया है। इसमें प्रेम, श्रद्धा और समर्पण के भाव से ईश्वर से जुड़ने की प्रक्रिया समझाई गई है, जो मन की शांति और जीवन की सार्थकता प्रदान करती है। साथ ही क्षेत्र-शरीर और क्षेत्रज्ञ-आत्मा के ज्ञान द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य केवल शरीर नहीं है, बल्कि चेतन आत्मा है, जो शरीर के माध्यम से कर्म करती है। यह इकाई आत्मबोध और आत्मज्ञान की नींव रखती है। इकाई-11 गुण, पुरुषोत्तम और संपदा में सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों के आधार पर मानव स्वभाव, सोच और व्यवहार की व्याख्या की गई है। यह बताया गया है कि ये गुण किस प्रकार व्यक्ति के कर्मों और जीवन दिशा को प्रभावित करते हैं। पुरुषोत्तम के स्वरूप को समझाते हुए दैवी और आसुरी संपदा का विस्तृत वर्णन किया गया है, जिससे व्यक्ति अच्छे गुणों को अपनाकर अपने जीवन को श्रेष्ठ बना सके और नकारात्मक प्रवृत्तियों से दूर रह सके। इकाई-12 श्रद्धा और संन्यास में श्रद्धा के महत्व, उसके विभिन्न रूपों तथा मानव जीवन में उसके प्रभाव को सरल भाषा में स्पष्ट किया गया है। साथ ही संन्यास का वास्तविक अर्थ समझाया गया है, जो केवल कर्म त्याग नहीं, बल्कि आसक्ति और अहंकार के त्याग का मार्ग है। यह इकाई सिखाती है कि अपने कर्तव्यों का ईमानदारी से पालन करते हुए भी व्यक्ति भीतर से मुक्त और शांत रह सकता है। इस प्रकार यह खंड आध्यात्मिक आचरण को जीवन में उतारने, मजबूत और संतुलित व्यक्तित्व के निर्माण तथा श्रेष्ठ संस्कारों के विकास का समग्र मार्गदर्शन प्रदान करता है, जो व्यक्ति को आत्मिक, नैतिक और सामाजिक रूप से उन्नत बनाता है।

संरचना

10.1 भक्तियोग

10.1.1 भक्तियोग का परिचय

10.1.2 सगुण और निर्गुण उपासना

10.1.3 भक्त के लक्षण

10.1.4 भक्ति का महत्व

10.1.5 भक्ति मार्ग की सरलता

10.1.6 भक्त की विशेषताएँ

10.2 क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग

10.2.1 क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का परिचय

10.2.2 क्षेत्र का विस्तृत वर्णन

10.2.3 ज्ञान के साधन

10.2.4 ज्ञेय तत्व परमात्मा

10.2.5 प्रकृति और पुरुष का संबंध

10.2.6 ज्ञान योग का महत्व

10.3 बोध प्रश्न

10.1 भक्तियोग

10.1.1 भक्तियोग का परिचय : भगवद्गीता का बारहवाँ अध्याय भक्तियोग के नाम से जाना जाता है। यह अध्याय अपेक्षाकृत छोटा है परंतु अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें भगवान श्रीकृष्ण ने भक्ति मार्ग की श्रेष्ठता और भक्त के लक्षणों का विस्तार से वर्णन किया है। इस अध्याय में कुल बीस श्लोक हैं जो भक्ति के स्वरूप, भक्ति मार्ग की विशेषताओं और सच्चे भक्त के गुणों को प्रकट करते हैं। भक्तियोग वह मार्ग है जिसमें साधक अपने संपूर्ण अस्तित्व को भगवान के प्रति समर्पित कर देता है और भगवान की कृपा से मोक्ष प्राप्त करता है।

अध्याय का आरंभ अर्जुन के एक महत्वपूर्ण प्रश्न—से होता है। अर्जुन भगवान से पूछते हैं कि जो भक्त सगुण साकार रूप में आपकी उपासना करते हैं और जो निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं, इन दोनों में से कौन अधिक श्रेष्ठ योगी है। यह प्रश्न—अत्यंत प्रासंगिक है क्योंकि भारतीय आध्यात्मिक परंपरा में दोनों प्रकार की उपासना पद्धतियों का प्रचलन रहा है। कुछ साधक भगवान के सगुण साकार स्वरूप की पूजा और भक्ति करते हैं जबकि कुछ साधक निराकार ब्रह्म की उपासना में विश्वास करते हैं। अर्जुन का यह प्रश्न—वास्तव में सभी साधकों के मन में उठने वाला एक स्वाभाविक प्रश्न—है जिसका समाधान भगवान श्रीकृष्ण अत्यंत सुंदर और व्यावहारिक रूप से करते हैं।

भगवान श्रीकृष्ण का उत्तर अत्यंत संतुलित और व्यावहारिक है। वे दोनों मार्गों को स्वीकार करते हैं परंतु सगुण उपासना को सामान्य मनुष्यों के लिए अधिक सुलभ और सरल बताते हैं। भगवान कहते हैं कि जो भक्त अपने मन को मुझमें स्थिर करके, श्रद्धा और भक्ति से युक्त होकर निरंतर मेरी उपासना करते हैं, वे मुझे अत्यंत प्रिय हैं और श्रेष्ठ योगी हैं। भक्तियोग का मूल तत्व है प्रेम, समर्पण और निरंतर स्मरण। यह मार्ग हृदय की पवित्रता और भावना की गहराई पर आधारित है।

10.1.2 सगुण और निर्गुण उपासना : सगुण उपासना वह मार्ग है जिसमें साधक भगवान के व्यक्तिगत स्वरूप की उपासना करता है। इसमें भगवान के दिव्य रूप, उनके गुणों, उनकी लीलाओं और उनके नामों का स्मरण और कीर्तन किया जाता है। सगुण उपासना में भक्त भगवान को अपना मित्र, माता, पिता, प्रिय या स्वामी मानकर उनसे व्यक्तिगत संबंध स्थापित करता है। इस मार्ग में मूर्ति पूजा, नाम स्मरण, कीर्तन, भजन, आरती आदि विभिन्न साधनों का प्रयोग किया जाता है। सगुण उपासना का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें मन को एकाग्र करना सरल होता है क्योंकि मन को एक निश्चित आकार और रूप मिल जाता है।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो भक्त मुझ सगुण साकार में अपने मन और बुद्धि को लगाकर, सदा मेरा चिंतन करते हुए मुझमें श्रद्धा से युक्त होकर उपासना करते हैं, वे योगियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। सगुण उपासना में भावना का विशेष महत्व है। भक्त जब भगवान के सगुण रूप की पूजा करता है तो वह अपनी समस्त भावनाओं को भगवान के प्रति व्यक्त कर सकता है। वह भगवान से बात कर सकता है, अपने मन की बात कह सकता है, अपने दुःख-सुख साझा कर सकता है। यह व्यक्तिगत संबंध भक्ति मार्ग की आत्मा है।

दूसरी ओर निर्गुण उपासना वह मार्ग है जिसमें साधक निराकार, अव्यक्त, सर्वव्यापी ब्रह्म की उपासना करता है। इस मार्ग में साधक ब्रह्म को गुणातीत, निर्विकार, अनंत और अव्यक्त मानकर उसका ध्यान करता है। निर्गुण उपासना अत्यंत कठिन है क्योंकि इसमें मन को किसी आकार या रूप का सहारा नहीं मिलता। मन स्वभाव से ही विषयों और रूपों की ओर जाता है इसलिए उसे निराकार में स्थिर करना अत्यंत कठिन साधना है। भगवान कहते हैं कि जो लोग अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वत्र समान रूप से स्थित, अचल, ध्रुव और नित्य अचिंत्य स्वरूप निर्गुण ब्रह्म को भजते हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त होते हैं।

परंतु भगवान स्पष्ट कहते हैं कि देहाभिमानी मनुष्यों के लिए अव्यक्त उपासना अत्यंत कष्टकारक है। जो साधक देह के साथ अपना तादात्म्य रखते हैं उनके लिए निराकार की उपासना कठिन हो जाती है। देहाभिमान का अर्थ है अपने को शरीर मानना। जब तक साधक में देहाभिमान है तब तक उसके लिए सगुण उपासना अधिक उपयुक्त और सुगम है। निर्गुण उपासना के लिए अत्यधिक वैराग्य, संयम, एकाग्रता और देहातीत भाव की आवश्यकता होती है। इसलिए भगवान ने सामान्य साधकों के लिए सगुण भक्ति को अधिक व्यावहारिक और सुलभ मार्ग बताया है।

10.1.3 भक्त के लक्षण : भगवान श्रीकृष्ण ने इस अध्याय में सच्चे भक्त के अनेक लक्षणों का वर्णन किया है। ये लक्षण केवल सैद्धांतिक नहीं हैं बल्कि अत्यंत व्यावहारिक और जीवन में उतारने योग्य हैं। सबसे पहला और महत्वपूर्ण लक्षण है द्वेष रहित होना। भगवान कहते हैं कि जो भक्त किसी भी प्राणी से द्वेष नहीं करता, सबके प्रति मैत्री भाव रखता है और करुणा से परिपूर्ण है, वह मुझे अत्यंत प्रिय है। द्वेष का अर्थ है किसी के प्रति घृणा या शत्रुता का भाव। सच्चा भक्त समस्त प्राणियों में भगवान को देखता है इसलिए वह किसी से द्वेष नहीं कर सकता।

सच्चा भक्त सदा संतुष्ट रहता है। संतोष एक महान गुण है जो साधक को मानसिक शांति प्रदान करता है। जो व्यक्ति जो कुछ उसके पास है उसी में संतुष्ट है, वह सदा प्रसन्न रहता है। असंतोष से चिंता, तनाव और दुःख उत्पन्न होते हैं। भक्त यह समझता है कि जो कुछ भगवान ने उसे दिया है वही उसके लिए सर्वोत्तम

है। वह भगवान की इच्छा में अपनी इच्छा का विलय कर देता है। भक्त ममता और अहंकार से रहित होता है। ममता का अर्थ है मेरापन का भाव और अहंकार का अर्थ है मैं और मेरे का भाव। भक्त यह समझता है कि सब कुछ भगवान का है, वह केवल एक निमित्त मात्र है।

सच्चा भक्त सुख और दुख में समान रहता है। वह न सुख से अत्यधिक प्रसन्न होता है और न दुख से अत्यधिक दुखी होता है। वह जीवन की सभी परिस्थितियों को भगवान की इच्छा मानकर स्वीकार करता है। यह समता का भाव भक्ति का एक महत्वपूर्ण पहलू है। भक्त क्षमाशील होता है। जब कोई उसके साथ बुरा व्यवहार करता है तब भी वह क्षमा कर देता है। क्षमा से हृदय में प्रेम और करुणा का विकास होता है। भक्त सदा यत्नशील रहता है। वह अपने साधन में कभी आलस्य नहीं करता। वह नियमित रूप से भगवान का नाम स्मरण करता है, भजन कीर्तन करता है और सत्संग में जाता है। अर्जुन ने पूछा कि जो भक्त सगुण साकार रूप में भगवान की उपासना करते हैं और जो निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं, इन दोनों में से कौन अधिक श्रेष्ठ योगी है। भगवान ने सगुण उपासना को देहाभिमानी सामान्य मनुष्यों के लिए अधिक सुलभ और सरल बताया है क्योंकि इसमें मन को एक निश्चित आकार और रूप का सहारा मिलता है।

बोध प्रश्न

प्रश्न-1 अर्जुन ने अध्याय 12 के आरंभ में भगवान से क्या प्रश्न-पूछा?

प्रश्न-2 भगवान ने सगुण उपासना को किसके लिए अधिक सुलभ बताया है?

प्रश्न-3 भक्त के प्रमुख तीन लक्षण बताइए।

10.1.4 भक्ति का महत्व : भक्ति मार्ग का सबसे बड़ा महत्व यह है कि यह सभी वर्गों, सभी जातियों और सभी स्तरों के लोगों के लिए खुला है। ज्ञान मार्ग में उच्च बौद्धिक क्षमता की आवश्यकता होती है, कर्म योग में निष्काम भाव से कर्म करने की विशेष योग्यता चाहिए परंतु भक्ति मार्ग में केवल प्रेम और समर्पण की आवश्यकता है। भगवान ने स्वयं कहा है कि जो मुझे प्रेम से एक पत्र, एक फूल, एक फल या जल भी अर्पित करता है, मैं उसे प्रेम से स्वीकार करता हूँ। यह भक्ति की सरलता और सर्वसुलभता को दर्शाता है।

भक्ति मार्ग में शास्त्रीय ज्ञान की विशेष आवश्यकता नहीं होती। एक अनपढ़ व्यक्ति भी यदि सच्चे हृदय से भगवान का नाम लेता है तो वह उच्चतम सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। भारतीय इतिहास ऐसे अनेक भक्तों से भरा है जो साधारण परिवारों से थे, जिनके पास शास्त्रीय ज्ञान नहीं था परंतु उनकी भक्ति इतनी प्रगाढ़ थी कि वे भगवान का साक्षात्कार कर सके। कबीर जुलाहे थे, रैदास चर्मकार थे, तुकाराम किसान थे परंतु उनकी भक्ति ने उन्हें महान संत बना दिया। यह भक्ति मार्ग की लोकतांत्रिक प्रकृति है।

भक्ति मार्ग में भगवान का सहारा सदा उपलब्ध रहता है। भक्त कभी अकेला नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि भगवान सदा उसके साथ हैं। जीवन में कितनी भी कठिनाइयाँ आएँ, भक्त निराश नहीं होता क्योंकि उसे भगवान पर पूर्ण विश्वास होता है। भगवान ने गीता में कहा है कि जो मुझ पर निर्भर रहता है मैं उसका योगक्षेम वहन करता हूँ। योग का अर्थ है जो नहीं है उसे प्राप्त करना और क्षेम का अर्थ है जो है उसकी रक्षा करना। भगवान भक्त की समस्त आवश्यकताओं का ध्यान रखते हैं।

भक्ति मार्ग आनंद का मार्ग है। भक्त सदा आनंदित रहता है क्योंकि वह भगवान के प्रेम में निमग्न रहता है। भगवान के नाम का कीर्तन करते हुए, उनकी लीलाओं का स्मरण करते हुए भक्त परमानंद का अनुभव करता है। यह आनंद सांसारिक सुखों से सर्वथा भिन्न है। सांसारिक सुख क्षणिक होते हैं और उनके पीछे दुख छिपा रहता है परंतु भक्ति का आनंद शाश्वत और निर्मल है। यह आनंद किसी बाहरी वस्तु या परिस्थिति पर निर्भर नहीं करता बल्कि भीतर से उमड़ता है।

10.1.5 भक्ति मार्ग की सरलता : भगवान श्रीकृष्ण ने भक्ति मार्ग को अत्यंत सरल बनाया है। वे कहते हैं कि यदि तुम मुझमें अपने मन को लगा नहीं सकते तो केवल मेरा अभ्यासयोग करो अर्थात् बार-बार प्रयत्न करो। यदि तुम अभ्यासयोग भी नहीं कर सकते तो केवल मेरे लिए कर्म करो। यदि यह भी संभव नहीं तो केवल मेरी शरण में आ जाओ और सभी कर्मों के फल को त्याग दो। यह भगवान की अपार करुणा को दर्शाता है। वे साधक की क्षमता के अनुसार उसे मार्ग दिखाते हैं।

भक्ति मार्ग में जटिल साधनाओं की आवश्यकता नहीं है। न किसी विशेष स्थान पर जाने की आवश्यकता है, न किसी विशेष समय की बाध्यता है। भक्त जहाँ है, जब है, जिस अवस्था में है, वहीं से भगवान का स्मरण कर सकता है। गृहस्थ अपने घर में रहते हुए, अपने दैनिक कार्य करते हुए भी भगवान का स्मरण कर सकता है। भगवान ने कहा है कि मुझे स्मरण करते हुए युद्ध करो। इसका अर्थ है कि अपने कर्तव्य कर्म करते हुए भी भगवान का स्मरण संभव है।

भक्ति मार्ग में बाहरी आडंबरों का कोई महत्व नहीं है। महत्व है हृदय की पवित्रता और भावना की सच्चाई का। भगवान कहते हैं कि जो मुझे प्रेम से अर्पित करता है मैं उसे प्रेम से स्वीकार करता हूँ। यहाँ मुख्य बात प्रेम है न कि अर्पित की जाने वाली वस्तु। एक गरीब व्यक्ति जो प्रेम से एक तुलसी का पत्ता अर्पित करता है वह भगवान को उतना ही प्रिय है जितना कोई धनी व्यक्ति जो बहुमूल्य भेंट चढ़ाता है। भक्ति में भाव की प्रधानता है।

भक्ति मार्ग में भगवान स्वयं साधक की सहायता करते हैं। भगवान ने गीता में कहा है कि जो मुझमें चित्त लगाकर मेरी भक्ति करते हैं उन्हें मैं बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं। बुद्धियोग का अर्थ है वह बुद्धि जो भगवान की ओर ले जाती है। भगवान भक्त के हृदय में बैठकर उसका मार्गदर्शन करते हैं। भक्त को कभी यह अनुभव नहीं होता कि वह अकेले साधना कर रहा है। भगवान की कृपा से साधना सरल हो जाती है।

10.1.6 भक्त की विशेषताएँ : भगवान ने इस अध्याय में भक्त की अनेक विशेषताओं का वर्णन किया है। भक्त वह है जो किसी से ईर्ष्या नहीं करता। ईर्ष्या एक विनाशकारी भावना है जो मन को अशांत कर देती है। जब हम दूसरों की सफलता, सुख या संपत्ति को देखकर जलते हैं तो हम स्वयं को दुखी करते हैं। भक्त दूसरों की सफलता में भी भगवान की कृपा देखता है और प्रसन्न होता है। वह समझता है कि भगवान सबके साथ न्याय करते हैं और प्रत्येक को उसके कर्मों के अनुसार फल देते हैं।

भक्त सबका मित्र होता है और करुणावान होता है। वह दूसरों के दुख को अपना दुख समझता है और उनकी सहायता के लिए सदा तत्पर रहता है। करुणा का अर्थ है दूसरों के दुख को देखकर विचलित होना और उन्हें दुख से मुक्त करने का प्रयास करना। करुणा भक्ति का एक अनिवार्य अंग है क्योंकि जब हम भगवान से प्रेम करते हैं तो स्वाभाविक रूप से भगवान की सृष्टि से भी प्रेम करने लगते हैं। सभी प्राणी भगवान के अंश हैं इसलिए उनके प्रति करुणा भाव रखना भगवान के प्रति प्रेम का ही विस्तार है।

भक्त ममता और अहंकार से रहित होता है। ममता का अर्थ है अपनापन या आसक्ति और अहंकार का अर्थ है मैं-पन। भक्त यह जानता है कि सब कुछ भगवान का है। शरीर भगवान का है, धन-संपत्ति भगवान की है, परिवार भी भगवान ने दिया है। वह केवल एक संरक्षक या ट्रस्टी की भूमिका निभाता है। जब यह भाव आ जाता है तो ममता और अहंकार अपने आप समाप्त हो जाते हैं। भक्त सुख-दुख, शीत-उष्ण आदि द्वंद्वों में समान रहता है। वह जानता है कि ये द्वंद्व जीवन का स्वाभाविक हिस्सा हैं और आते-जाते रहते हैं।

भक्त क्षमाशील, संतुष्ट और दृढ़निश्चयी होता है। क्षमा से हृदय में कोई विकार नहीं रहता। संतोष से मन में शांति बनी रहती है। दृढ़निश्चय से साधना में स्थिरता आती है। भक्त का मन और बुद्धि भगवान में अर्पित

होती है। इसका अर्थ है कि वह जो भी सोचता है, जो भी निर्णय लेता है, वह सब भगवान को समर्पित करके करता है। वह अपने को कर्ता नहीं मानता बल्कि भगवान को सच्चा कर्ता मानता है। भक्त उद्वेगकारी नहीं होता अर्थात् वह किसी को व्याकुल या परेशान नहीं करता। वह शांत स्वभाव का होता है और अपने व्यवहार से दूसरों को सुख और शांति प्रदान करता है।

10.2 क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग

10.2.1 क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का परिचय : भगवद्गीता का तेरहवाँ अध्याय क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग के नाम से प्रसिद्ध है। यह अध्याय गीता के सबसे महत्वपूर्ण दार्शनिक अध्यायों में से एक है जिसमें भगवान श्रीकृष्ण ने शरीर और आत्मा के स्वरूप, प्रकृति और पुरुष के संबंध तथा ज्ञान के विषय में गहन विवेचन किया है। इस अध्याय में कुल पैंतीस श्लोक हैं जो तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

क्षेत्र का अर्थ है शरीर अर्थात् यह स्थूल भौतिक देह। इसे क्षेत्र इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह कर्मों का क्षेत्र है, अनुभवों का क्षेत्र है। जिस प्रकार किसान अपने खेत में बीज बोता है और फसल काटता है, उसी प्रकार जीव इस शरीर रूपी क्षेत्र में कर्म रूपी बीज बोता है और फल रूपी फसल काटता है। क्षेत्रज्ञ का अर्थ है क्षेत्र को जानने वाला अर्थात् आत्मा। यह वह चेतन तत्व है जो शरीर में रहते हुए शरीर की समस्त गतिविधियों को जानता है, देखता है और अनुभव करता है। क्षेत्र जड़ है परंतु क्षेत्रज्ञ चेतन है।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन, इस शरीर को क्षेत्र कहा जाता है और जो इसे जानता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं। यह एक सरल परिभाषा है परंतु अत्यंत गहन है। शरीर निरंतर परिवर्तनशील है। यह बचपन से युवावस्था, युवावस्था से वृद्धावस्था की ओर बढ़ता है। यह रोगी होता है, स्वस्थ होता है, अंततः नष्ट हो जाता है। परंतु इन सभी परिवर्तनों को देखने वाला साक्षी तत्व, जो कहता है कि मैं बच्चा था, अब युवा हूँ, अब वृद्ध हो गया हूँ, वह क्षेत्रज्ञ है जो अपरिवर्तनशील है।

भगवान आगे कहते हैं कि सभी क्षेत्रों में स्थित क्षेत्रज्ञ को भी तू मुझे ही जान। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का यह ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। यह कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ है कि व्यक्तिगत आत्मा और परमात्मा में मूलभूत एकता है। जिस प्रकार सागर में असंख्य लहरें उठती हैं परंतु सभी लहरें जल से ही बनी हैं, उसी प्रकार असंख्य जीवात्माएँ हैं परंतु सभी परमात्मा के अंश हैं। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के इस विवेक से ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है।

10.2.2 क्षेत्र का विस्तृत वर्णन : भगवान श्रीकृष्ण क्षेत्र के स्वरूप का विस्तार से वर्णन करते हैं। क्षेत्र में पंचमहाभूत आते हैं — पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। ये पाँच स्थूल तत्व हैं जिनसे यह स्थूल शरीर बना है। फिर अहंकार आता है जो मैं और मेरे का भाव उत्पन्न करता है। बुद्धि है जो निर्णय लेने की शक्ति है। अव्यक्त प्रकृति है जो सभी विकारों का मूल कारण है। दस इंद्रियाँ हैं — पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा) और पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ, गुदा)।

इसके अतिरिक्त मन है जो संकल्प-विकल्प करता है। पाँच इंद्रियों के विषय हैं — शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। ये वे विषय हैं जिन्हें इंद्रियाँ ग्रहण करती हैं। फिर इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, शरीर, चेतना और धृति (धारण शक्ति) आते हैं। ये सभी मिलकर क्षेत्र का निर्माण करते हैं। यह क्षेत्र अत्यंत जटिल है और निरंतर परिवर्तनशील है। इसमें एक क्षण भी स्थिरता नहीं है। कोशिकाएँ नष्ट हो रही हैं, नई बन रही हैं, विचार आ रहे हैं जा रहे हैं, भावनाएँ उठ रही हैं बैठ रही हैं।

क्षेत्र का यह विस्तृत वर्णन हमें यह समझने में सहायता करता है कि हम जिसे अपना शरीर या अपना मन कहते हैं वह वास्तव में अनेक तत्वों का एक संयोग मात्र है। यह एक यंत्र की तरह है जो विभिन्न पुर्जों से

मिलकर बना है। जिस प्रकार कार अनेक पुर्जों से मिलकर बनी है परंतु कार का चालक कार नहीं है, उसी प्रकार शरीर और मन अनेक तत्वों से मिलकर बने हैं परंतु इनमें रहने वाला आत्मा इनसे भिन्न है। यह विवेक अत्यंत महत्वपूर्ण है।

जब हम क्षेत्र को इस प्रकार समझते हैं तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षेत्र स्वयं में चेतन नहीं है। यह जड़ पदार्थ है जो चेतना की उपस्थिति में ही कार्य करता है। जिस प्रकार बिजली के बिना पंखा नहीं चलता, उसी प्रकार आत्मा के बिना शरीर निष्क्रिय है। मृत्यु के समय जब आत्मा शरीर को छोड़ देती है तो शरीर तुरंत निष्क्रिय हो जाता है। वही शरीर जो जीवित अवस्था में चलता था, बोलता था, सोचता था, मृत्यु के बाद केवल जड़ पदार्थ बनकर रह जाता है।

10.2.3 ज्ञान के साधन : भगवान श्रीकृष्ण ने इस अध्याय में ज्ञान के साधनों का भी विस्तृत वर्णन किया है। सबसे पहला साधन है अमानित्व अर्थात् अभिमान का अभाव। जब मनुष्य में अभिमान होता है तो वह सोचता है कि मैं बहुत ज्ञानी हूँ, मुझे सब कुछ पता है। यह भाव ज्ञान के मार्ग में बाधक है। विनम्रता से ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। दूसरा साधन है अदम्भित्व अर्थात् दिखावे का अभाव। कुछ लोग केवल दूसरों को प्रभावित करने के लिए ज्ञानी या साधक होने का ढोंग करते हैं। यह दम्भ ज्ञान प्राप्ति में बाधक है।

अहिंसा एक महत्वपूर्ण साधन है। अहिंसा केवल शारीरिक हिंसा न करना नहीं है बल्कि मन, वचन और कर्म से किसी को भी दुख न पहुँचाना है। क्षांति अर्थात् क्षमा भी आवश्यक है। जब कोई हमें दुख देता है या अपमानित करता है तब भी उसे क्षमा कर देना क्षांति है। आर्जव अर्थात् सरलता या ऋजुता भी ज्ञान का साधन है। जो व्यक्ति कपटी है, जिसके मन में कुछ और है और वचन में कुछ और, वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। गुरु की सेवा करना, शुद्ध रहना, स्थिर रहना और आत्मसंयम रखना भी आवश्यक है।

इंद्रियों के विषयों में वैराग्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। जब तक मनुष्य विषयों में आसक्त है तब तक उसका मन भटकता रहता है। वैराग्य का अर्थ विषयों से भागना नहीं है बल्कि उनमें आसक्ति न रखना है। अनहंकार भी आवश्यक है। अहंकार से ही समस्त बंधन उत्पन्न होते हैं। जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और रोग आदि में दुख देखना भी ज्ञान का साधन है। जब हम संसार की क्षणभंगुरता को देखते हैं तो हमें वैराग्य उत्पन्न होता है और ज्ञान की ओर प्रवृत्ति होती है।

पुत्र, स्त्री, घर आदि में आसक्ति का अभाव और प्रिय-अप्रिय की प्राप्ति में समभाव रखना भी ज्ञान के साधन हैं। भगवान में अनन्य भक्ति, एकांत स्थान में रहने की रुचि, भीड़ में न रहने की इच्छा, अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञान के अर्थ का चिंतन — ये सभी ज्ञान कहे गए हैं और इनसे विपरीत जो है वह अज्ञान है। ये बीस साधन ज्ञान प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं। इन साधनों को जीवन में उतारकर ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। क्षेत्र का अर्थ है शरीर जो कर्मों और अनुभवों का क्षेत्र है। क्षेत्रज्ञ का अर्थ है आत्मा जो शरीर में रहते हुए शरीर की समस्त गतिविधियों को जानती है। क्षेत्र में पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश), अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त प्रकृति, दस इंद्रियाँ, मन, पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुख आदि आते हैं। ज्ञान के तीन प्रमुख साधन हैं — अमानित्व (अभिमान का अभाव), अहिंसा (मन, वचन, कर्म से किसी को दुख न पहुँचाना) और वैराग्य (विषयों में आसक्ति का अभाव)।

बोध प्रश्न

प्रश्न-1 क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ से क्या अभिप्राय है?

प्रश्न-2 क्षेत्र में कौन-कौन से तत्व आते हैं?

प्रश्न-3 ज्ञान के तीन प्रमुख साधन बताइए।

10.2.4 ज्ञेय तत्व—परमात्मा : भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि अब मैं तुम्हें उस ज्ञेय तत्व के बारे में बताता हूँ जिसे जानकर मनुष्य अमरत्व को प्राप्त होता है। वह अनादि परब्रह्म न सत् कहा जाता है न असत्। यह कथन अत्यंत गहन है। परब्रह्म को सत् इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि सत् से हमारा तात्पर्य उस वस्तु से है जिसे हम देख या अनुभव कर सकें। परब्रह्म इंद्रियों का विषय नहीं है। उसे असत् भी नहीं कह सकते क्योंकि वह नित्य विद्यमान है। वह सबका आधार है, सबका मूल कारण है।

परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। उसके हाथ—पैर सब ओर हैं, उसके नेत्र, सिर और मुख सब ओर हैं, उसके कान सब ओर हैं। वह संसार में सबको व्याप्त करके स्थित है। यह विराट् स्वरूप का वर्णन है। परमात्मा समस्त इंद्रियों के विषयों को जानने वाला है परंतु स्वयं इंद्रियों से रहित है। वह आसक्ति रहित होकर सबका धारण—पोषण करने वाला है। वह गुणों से रहित होते हुए भी गुणों को भोगने वाला है। यह परमात्मा की विलक्षण स्थिति है।

वह परमात्मा सभी प्राणियों के बाहर और भीतर है। वह चर और अचर सभी में विद्यमान है। वह सूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय है अर्थात् साधारण ज्ञान से नहीं जाना जा सकता। वह अत्यंत निकट है और अत्यंत दूर भी है। वह अविभक्त होते हुए भी प्राणियों में विभक्त सा स्थित है। वही प्राणियों को उत्पन्न करने वाला, धारण करने वाला और संहार करने वाला है। वह ज्योतियों की भी ज्योति है, अविद्या से परे कहा जाता है। वह ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान का फल है। वह सबके हृदय में स्थित है।

इस प्रकार भगवान ने परमात्मा के स्वरूप का अत्यंत सुंदर वर्णन किया है। यह वर्णन हमें यह समझने में सहायता करता है कि परमात्मा कोई दूर स्वर्ग में बैठा देवता नहीं है बल्कि वह हमारे अंदर, हमारे चारों ओर, सर्वत्र विद्यमान है। वह प्रत्येक प्राणी का आंतरिक सार है। जब हम किसी भी प्राणी को देखते हैं तो उसके भीतर वही परमात्मा विद्यमान है। यह दृष्टि जब आती है तो हम सबसे प्रेम करने लगते हैं, सबका आदर करने लगते हैं क्योंकि हम सबमें परमात्मा को देखते हैं।

10.2.5 प्रकृति और पुरुष का संबंध : भगवान श्रीकृष्ण प्रकृति और पुरुष के संबंध को स्पष्ट करते हैं। प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं अर्थात् इनका कोई आदि नहीं है। ये सदा से हैं। प्रकृति से सभी विकार और गुण उत्पन्न होते हैं। कार्य, कारण और कर्ता की सिद्धि में प्रकृति को हेतु कहा गया है अर्थात् शरीर और इंद्रियों की उत्पत्ति प्रकृति से होती है। सुख—दुख के भोगने में पुरुष को हेतु कहा गया है अर्थात् आत्मा ही सुख—दुख का भोक्ता है।

प्रकृति में स्थित पुरुष प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है। इन गुणों की आसक्ति ही जीव के अच्छी और बुरी योनियों में जन्म का कारण है। जब आत्मा प्रकृति के गुणों से तादात्म्य कर लेती है, जब वह समझती है कि मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं धनी हूँ, मैं गरीब हूँ, तब वह बंधन में आ जाती है। वास्तव में आत्मा न सुखी है न दुखी, न धनी है न गरीब। ये सभी अवस्थाएँ शरीर और मन की हैं। परंतु जब आत्मा अपने को शरीर—मन समझ लेती है तब वह बंधन में पड़ जाती है।

इस शरीर में एक और महान पुरुष है जिसे उपद्रष्टा, अनुमंता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा कहा जाता है। वह केवल साक्षी है जो देखता है परंतु कुछ करता नहीं। वह अनुमति देने वाला है परंतु बाध्य नहीं करता। वह धारण करने वाला है, सबको शक्ति देने वाला है। वही महान ईश्वर है, वही परमात्मा है। जो पुरुष इस प्रकार पुरुष और प्रकृति को गुणों सहित जानता है, वह सब प्रकार से आचरण करता हुआ भी पुनः नहीं जन्मता अर्थात् मुक्त हो जाता है।

प्रकृति और पुरुष के इस संबंध को समझना अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन है। प्रकृति कार्य करती है परंतु पुरुष की उपस्थिति में। जिस प्रकार चुम्बक के पास लोहा स्वयं गति करने लगता है वैसे ही पुरुष की उपस्थिति में प्रकृति कार्य करने लगती है। परंतु पुरुष स्वयं कुछ नहीं करता। वह केवल साक्षी है।

जब साधक इस रहस्य को समझ लेता है तो वह मुक्त हो जाता है। वह समझ जाता है कि मैं कर्ता नहीं हूँ, मैं केवल द्रष्टा हूँ।

10.2.6 ज्ञान योग का महत्व : भगवान श्रीकृष्ण बताते हैं कि कुछ लोग ध्यान योग से, कुछ सांख्य योग से और कुछ कर्म योग से आत्मा को आत्मा में ही देखते हैं। जो लोग स्वयं इन मार्गों पर नहीं चल सकते वे दूसरों से सुनकर उपासना करते हैं और वे भी मृत्यु रूप संसार सागर को पार कर जाते हैं। यह बात अत्यंत महत्वपूर्ण है। भगवान यहाँ यह स्पष्ट कर रहे हैं कि मुक्ति का कोई एक ही मार्ग नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रकृति और क्षमता के अनुसार मार्ग चुन सकता है।

भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन, जो कुछ भी स्थावर-जंगम वस्तु उत्पन्न होती है उसे तू क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न हुई जान। जो व्यक्ति सभी प्राणियों में समान रूप से स्थित अविनाशी परमेश्वर को नाश को प्राप्त हो रहे प्राणियों में भी न नष्ट होते हुए देखता है, वही यथार्थ देखता है। जब साधक सबमें समान रूप से परमात्मा को देखता है तो वह अपने द्वारा अपने को नहीं मारता अर्थात् आत्मघात नहीं करता। इसका अर्थ है कि वह गलत कर्मों से अपनी आत्मा को नहीं गिराता।

जो यह देखता है कि संपूर्ण कर्म प्रकृति द्वारा किए जाते हैं और आत्मा अकर्ता है, वही यथार्थ देखता है। जिस काल में भिन्न-भिन्न प्राणियों में स्थित भिन्न-भिन्न भावों को एक परमात्मा में स्थित देखता है और उसी से फैले हुए देखता है, उस काल में वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। यह अद्वैत दृष्टि है जहाँ साधक सबमें एक ही परमात्मा को देखता है। यह अनादि और निर्गुण होने के कारण यह परम आत्मा शरीर में स्थित होकर भी न तो कुछ करता है और न लिप्त होता है।

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सर्वत्र देह में स्थित आत्मा लिप्त नहीं होता। जिस प्रकार एक सूर्य इस संपूर्ण लोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक आत्मा संपूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है। जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को ज्ञान की आँखों से देखते हैं और प्रकृति से मुक्ति के उपाय को जानते हैं, वे परब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यही इस अध्याय का सार है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विवेक से ही मुक्ति प्राप्त होती है।

10.3 बोध प्रश्न

प्रश्न-1 भगवद्गीता के अध्याय 12 में वर्णित सगुण और निर्गुण उपासना का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

भगवान श्रीकृष्ण ने किस उपासना को सामान्य साधकों के लिए अधिक उपयुक्त बताया है और क्यों?

प्रश्न-2 भक्तियोग के अनुसार एक सच्चे भक्त के दस प्रमुख लक्षणों का विस्तृत वर्णन कीजिए। इन लक्षणों को अपने व्यावहारिक जीवन में कैसे उतारा जा सकता है?

प्रश्न-3 “क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग” के आधार पर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए। क्षेत्र में कौन-कौन से तत्व सम्मिलित हैं? इस ज्ञान का व्यावहारिक जीवन में क्या महत्व है?

प्रश्न-4 भगवद्गीता के अध्याय 13 में वर्णित ज्ञान के बीस साधनों का विस्तृत विवेचन कीजिए। इनमें से किन्हीं पाँच साधनों को आधुनिक जीवन के संदर्भ में समझाइए।

प्रश्न-5 “ज्ञेय तत्त्व” अर्थात् परमात्मा के स्वरूप का वर्णन अध्याय 13 के आधार पर कीजिए। परमात्मा को न सत् कहा जाता है न असत् – इस कथन का क्या अभिप्राय है?

प्रश्न-6 प्रकृति और पुरुष के संबंध को स्पष्ट कीजिए। दोनों किस प्रकार मिलकर कार्य करते हैं? आत्मा का

बंधन और मुक्ति का कारण क्या है?

प्रश्न—7 भक्तियोग में भगवान की कृपा का क्या महत्व है? यह मार्ग अन्य योगों से किस प्रकार सरल और सर्वसुलभ है? उदाहरण सहित समझाइए।

प्रश्न—8 “जो सबमें समान रूप से स्थित परमात्मा को देखता है वही यथार्थ देखता है” — इस कथन की व्याख्या कीजिए। यह दृष्टि मनुष्य के जीवन को कैसे परिवर्तित कर सकती है?

प्रश्न—9 भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग में क्या समानताएँ और असमानताएँ हैं? दोनों का लक्ष्य एक होते हुए भी साधना में क्या अंतर है?

प्रश्न—10 अध्याय 12 और 13 के आधार पर आत्मसाक्षात्कार के मार्ग का विस्तृत वर्णन कीजिए। एक साधक को किन-किन गुणों का विकास करना आवश्यक है?

इकाई—11 गुण, पुरुषोत्तम और सम्पदा योग

संरचना

11.1 गुणत्रय विभाग योग

- 11.1.1 गुणत्रय का परिचय
- 11.1.2 सत्त्वगुण का स्वरूप और प्रभाव
- 11.1.3 रजोगुण का स्वरूप और प्रभाव
- 11.1.4 तमोगुण का स्वरूप और प्रभाव
- 11.1.5 तीनों गुणों का तुलनात्मक अध्ययन
- 11.1.6 गुणातीत पुरुष के लक्षण
- 11.1.7 भगवत्प्राप्ति के उपाय

11.2 पुरुषोत्तम योग

- 11.2.1 पुरुषोत्तम योग का परिचय
- 11.2.2 संसार वृक्ष का वर्णन
- 11.2.3 क्षर और अक्षर पुरुष.
- 11.2.4 पुरुषोत्तम का स्वरूप
- 11.2.5 पुरुषोत्तम योग का महत्व

11.3 दैवी और आसुरी सम्पदा

- 11.3.1 दैवी और आसुरी सम्पदा का परिचय
- 11.3.2 दैवी सम्पदा के लक्षण
- 11.3.3 आसुरी सम्पदा के लक्षण
- 11.3.4 आसुर प्रकृति के लोगों का आचरण
- 11.3.5 काम, क्रोध और लोभ — तीन नरक के द्वार
- 11.3.6 शास्त्र का महत्व

11.4 बोध प्रश्न

11.1 गुणत्रय विभाग योग

11.1.1 गुणत्रय का परिचय : भगवद्गीता का चौदहवाँ अध्याय गुणत्रय विभाग योग के नाम से जाना जाता है। इस अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रकृति के तीन गुणों — सत्त्व, रजस् और तमस् का विस्तार से वर्णन किया है। यह अध्याय अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि मनुष्य का संपूर्ण व्यवहार, उसका स्वभाव, उसकी

प्रवृत्तियाँ और उसके कर्म इन तीनों गुणों से प्रभावित होते हैं। इस अध्याय में कुल सत्ताईस श्लोक हैं जो गुणों की प्रकृति, उनके प्रभाव और उनसे मुक्त होने के उपाय को प्रकट करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे अर्जुन को सभी ज्ञानों में श्रेष्ठ परम ज्ञान देंगे जिसे जानकर सभी मुनि इस संसार से मुक्त होकर परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। यह ज्ञान गुणों का ज्ञान है। गुण शब्द का अर्थ है रस्सी या डोरी। जिस प्रकार रस्सियाँ किसी वस्तु को बाँधती हैं उसी प्रकार ये तीनों गुण जीव को संसार में बाँधते हैं। ये गुण प्रकृति के अभिन्न अंग हैं और प्रकृति से उत्पन्न प्रत्येक वस्तु में विद्यमान हैं। कोई भी वस्तु या प्राणी इन गुणों से परे नहीं है।

भगवान् बताते हैं कि उनकी महत् ब्रह्मा अर्थात् प्रकृति संपूर्ण प्राणियों की योनि है और वे उसमें गर्भ स्थापित करते हैं। इससे सभी प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार परमात्मा पिता है और प्रकृति माता है। सभी प्राणी इन दोनों के संयोग से उत्पन्न होते हैं। प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीनों गुण अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं। जीवात्मा मूलतः स्वतंत्र और शुद्ध है परंतु जब वह प्रकृति के संपर्क में आती है तो ये गुण उसे बाँध लेते हैं।

तीनों गुणों की प्रकृति और कार्य भिन्न-भिन्न हैं। सत्त्वगुण निर्मल है और प्रकाश देने वाला है। यह ज्ञान और आनंद से संबंधित है। रजोगुण कामना और आसक्ति से युक्त है। यह कर्म और गतिशीलता से संबंधित है। तमोगुण अज्ञान और आलस्य से युक्त है। यह प्रमाद और निद्रा से संबंधित है। ये तीनों गुण प्रत्येक प्राणी में विद्यमान हैं परंतु विभिन्न अनुपात में। किसी में सत्त्वगुण अधिक होता है, किसी में रजोगुण और किसी में तमोगुण। समय-समय पर भी गुणों का अनुपात बदलता रहता है।

11.1.2 सत्त्वगुण का स्वरूप और प्रभाव : सत्त्वगुण तीनों गुणों में सबसे श्रेष्ठ और पवित्र है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाश करने वाला और विकार रहित है। यह ज्ञान से संबंधित है इसलिए सुख की आसक्ति से और ज्ञान की आसक्ति से जीव को बाँधता है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि सत्त्वगुण भी बाँधता है क्योंकि जब व्यक्ति सुख में आसक्त हो जाता है या ज्ञान में अभिमान कर लेता है तो वह भी बंधन बन जाता है। परंतु अन्य दो गुणों की तुलना में सत्त्वगुण का बंधन अत्यंत हल्का है।

जिन व्यक्तियों में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है वे शांत, स्थिर, संतुलित और ज्ञानी होते हैं। उनका मन एकाग्र रहता है और वे सत्य की खोज में लगे रहते हैं। वे अध्ययन, मनन और चिंतन में रुचि लेते हैं। उनका व्यवहार सदाचारपूर्ण होता है और वे दूसरों के प्रति दयालु और करुणावान् होते हैं। सात्विक व्यक्ति पवित्रता को महत्व देते हैं। वे शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की पवित्रता बनाए रखते हैं। उनका भोजन सात्विक होता है अर्थात् सादा, पोषक और शुद्ध। वे मांस, मदिरा और अन्य तामसिक पदार्थों से दूर रहते हैं।

सात्विक व्यक्ति संयमी होते हैं। वे अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण रखते हैं और विषयों में अधिक नहीं लिप्त होते। उनमें वैराग्य का भाव होता है। वे संसार की क्षणभंगुरता को समझते हैं इसलिए सांसारिक वस्तुओं में अत्यधिक आसक्त नहीं होते। सात्विक व्यक्ति धार्मिक होते हैं। वे नियमित रूप से पूजा-पाठ, ध्यान और स्वाध्याय करते हैं। उनका जीवन सिद्धांतों पर आधारित होता है। जब सत्त्वगुण की वृद्धि होती है तो मनुष्य के सभी द्वारों अर्थात् इंद्रियों में ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न होता है।

सत्त्वगुण का प्रभाव मनुष्य को ऊपर उठाने वाला होता है। जब व्यक्ति सत्त्वगुण में स्थित रहकर मृत्यु को प्राप्त होता है तो वह उत्तम लोकों को प्राप्त होता है जहाँ ज्ञानी और पुण्यात्मा लोग निवास करते हैं। सत्त्वगुण की कर्मफल सुख है। सात्विक कर्मों का फल सुख, शांति और ज्ञान की वृद्धि होती है। परंतु जैसा कि भगवान् ने कहा, सुख की आसक्ति भी एक प्रकार का बंधन है। इसलिए साधक को सत्त्वगुण में रहते हुए भी सुख में आसक्त नहीं होना चाहिए। उसे समझना चाहिए कि गुणों से परे जाना ही परम लक्ष्य है।

11.1.3 रजोगुण का स्वरूप और प्रभाव : रजोगुण की प्रकृति गतिशील और चंचल है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि रजोगुण रागरूप है अर्थात् यह तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न होता है। यह कामना और संग से उत्पन्न होता है और जीव को कर्मों में बाँधता है। रजोगुण व्यक्ति को निरंतर कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। जब रजोगुण की प्रधानता होती है तो मनुष्य में लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरंभ, अशांति और स्पृहा उत्पन्न होती है। स्पृहा का अर्थ है तीव्र इच्छा या लालसा।

राजसिक व्यक्ति अत्यधिक महत्वाकांक्षी होते हैं। वे संसार में नाम, यश, धन और सत्ता प्राप्त करना चाहते हैं। वे अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कठिन परिश्रम करते हैं। राजसिक व्यक्ति सक्रिय और ऊर्जावान होते हैं। वे एक स्थान पर नहीं बैठ सकते। उन्हें निरंतर कुछ न कुछ करते रहना आवश्यक होता है। परंतु उनकी गतिविधियों का उद्देश्य स्वार्थ की पूर्ति होता है। वे अपने सुख, अपने लाभ और अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कार्य करते हैं। राजसिक व्यक्ति भोगों में रुचि रखते हैं। वे अच्छा भोजन, अच्छे वस्त्र, विलासिता की वस्तुएँ और आरामदायक जीवन चाहते हैं। राजसिक व्यक्ति प्रतिस्पर्धी होते हैं। वे दूसरों से आगे निकलना चाहते हैं। उनमें ईर्ष्या और द्वेष के भाव उत्पन्न होते हैं। जब वे किसी को अपने से अधिक सफल देखते हैं तो उन्हें कष्ट होता है। राजसिक व्यक्ति अहंकारी होते हैं। जब उन्हें सफलता मिलती है तो वे अभिमान कर बैठते हैं और अपने को श्रेष्ठ समझने लगते हैं। उनमें क्रोध भी अधिक होता है। जब उनकी इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं या उनके मार्ग में बाधा आती है तो वे क्रोधित हो जाते हैं। राजसिक व्यक्ति चंचल मन के होते हैं। उनका मन एक विषय से दूसरे विषय पर भागता रहता है।

रजोगुण का फल दुख है। भगवान कहते हैं कि रजोगुण के कर्म का फल दुख होता है। यह स्वाभाविक है क्योंकि राजसिक व्यक्ति इच्छाओं के पीछे भागता है और सभी इच्छाएँ कभी पूरी नहीं होतीं। जब इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं तो दुख होता है। यदि एक इच्छा पूरी हो भी जाए तो तुरंत दूसरी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार राजसिक व्यक्ति सदा अतृप्त रहता है। जब राजसिक व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त होता है तो वह कर्म करने वालों में अर्थात् मनुष्य योनि में जन्म लेता है। वह पुनः संसार में आता है और अपने कर्मों का फल भोगता है।

11.1.4 तमोगुण का स्वरूप और प्रभाव : तमोगुण तीनों गुणों में सबसे निम्न और हानिकारक है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है और यह संपूर्ण प्राणियों को मोहित करता है। यह प्रमाद, आलस्य और निद्रा से जीव को बाँधता है। प्रमाद का अर्थ है असावधानी या उदासीनता। तामसिक व्यक्ति अपने कर्तव्यों के प्रति लापरवाह होते हैं। वे जानते हुए भी गलत रास्ते पर चलते हैं। जब तमोगुण की वृद्धि होती है तो अंधकार, निष्क्रियता, प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं।

तामसिक व्यक्ति आलसी होते हैं। वे कोई भी कार्य करने से कतराते हैं। उन्हें सोना, खाना और बेकार समय बिताना अच्छा लगता है। वे अपने दायित्वों की उपेक्षा करते हैं और टाल-मटोल करते रहते हैं। तामसिक व्यक्ति अज्ञानी होते हैं। वे सही-गलत में भेद नहीं कर पाते। उनमें विवेक की कमी होती है। वे अंधविश्वासों में विश्वास करते हैं और तर्कहीन बातों को मान लेते हैं। तामसिक व्यक्ति हिंसक और क्रूर हो सकते हैं। उनमें दया और करुणा का अभाव होता है। वे दूसरों को कष्ट देने में भी संकोच नहीं करते। तामसिक व्यक्ति गंदगी और अपवित्रता में रहते हैं। वे स्वच्छता का ध्यान नहीं रखते। उनका भोजन भी तामसिक होता है — बासी, सड़ा हुआ या अत्यधिक मसालेदार। वे मांस, मदिरा और अन्य नशीले पदार्थों का सेवन करते हैं। तामसिक व्यक्ति निराशावादी होते हैं। वे जीवन के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण रखते हैं। उन्हें लगता है कि कुछ भी अच्छा नहीं हो सकता। वे अवसाद और उदासी में रहते हैं। तामसिक व्यक्ति दूसरों पर निर्भर रहते हैं। उनमें आत्मविश्वास और पहल की कमी होती है।

तमोगुण का फल अज्ञान है। भगवान कहते हैं कि तमोगुण से उत्पन्न कर्म का फल अज्ञान होता है। तामसिक कर्मों से बुद्धि और भी अधिक मूढ़ हो जाती है। जब तामसिक व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त होता है तो वह नीच

योनियों में जन्म लेता है। इसका अर्थ है कि वह पशु, पक्षी या कीट-पतंगों की योनि में जन्म ले सकता है। यह अत्यंत दुखदायी स्थिति है। तमोगुण से अधोगति होती है अर्थात् व्यक्ति नीचे की ओर जाता है। इसलिए तमोगुण से बचना अत्यंत आवश्यक है।

प्रकृति के तीन गुण हैं – सत्व, रजस् और तमस्। इन्हें गुण इसलिए कहा जाता है क्योंकि ये रस्सी की तरह जीव को संसार में बाँधते हैं। सत्वगुण निर्मल, प्रकाशमान और विकार रहित है। यह ज्ञान और सुख से संबंधित है। सात्विक व्यक्ति शांत, संयमी, दयालु और धार्मिक होते हैं। रजोगुण कामना और आसक्ति से उत्पन्न होता है और जीव को कर्मों में बाँधता है। यह व्यक्ति को निरंतर इच्छाओं के पीछे भागने के लिए प्रेरित करता है।

बोध प्रश्न—

प्रश्न-1 : प्रकृति के तीन गुण कौन-कौन से हैं? इन्हें गुण क्यों कहा जाता है?

प्रश्न-2 : सत्वगुण की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं?

प्रश्न-3 : रजोगुण किस प्रकार मनुष्य को बाँधता है?

11.1.5 तीनों गुणों का तुलनात्मक अध्ययन : तीनों गुणों को समझने के लिए उनका तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। सत्वगुण ऊपर की ओर ले जाता है, रजोगुण बीच में रखता है और तमोगुण नीचे की ओर ले जाता है। सत्वगुण से स्वर्ग जैसे उच्च लोकों की प्राप्ति होती है, रजोगुण से मनुष्य योनि में पुनर्जन्म होता है और तमोगुण से नीच योनियों में जन्म होता है। भगवान कहते हैं कि ऊर्ध्व अर्थात् ऊपर की ओर सात्विक लोग जाते हैं, मध्य में राजसिक लोग रहते हैं और अधः अर्थात् नीचे की ओर तामसिक लोग जाते हैं।

तीनों गुणों का प्रभाव मनुष्य के व्यवहार पर भी स्पष्ट दिखाई देता है। सात्विक व्यक्ति का व्यवहार संतुलित, शांत और विचारपूर्ण होता है। राजसिक व्यक्ति का व्यवहार उत्तेजित, आवेगपूर्ण और स्वार्थी होता है। तामसिक व्यक्ति का व्यवहार अनियंत्रित, असभ्य और हिंसक हो सकता है। यदि हम अपने दैनिक जीवन में देखें तो हम पाएंगे कि कभी हम सात्विक होते हैं, कभी राजसिक और कभी तामसिक। यह गुणों की प्रधानता के अनुसार बदलता रहता है। तीनों गुणों का प्रभाव मनुष्य के भोजन पर भी पड़ता है। सात्विक भोजन सादा, पौष्टिक, स्वादिष्ट और स्वास्थ्यवर्धक होता है। इसमें फल, सब्जियाँ, अनाज, दूध आदि आते हैं। राजसिक भोजन अत्यधिक मसालेदार, तीखा, खट्टा और उत्तेजक होता है। यह शरीर में बेचौनी उत्पन्न करता है। तामसिक भोजन बासी, सड़ा हुआ, अत्यधिक गरम या अत्यधिक ठंडा होता है। मांस, मदिरा और नशीले पदार्थ तामसिक भोजन में आते हैं। हमारा भोजन हमारे मन और बुद्धि को प्रभावित करता है इसलिए सात्विक भोजन करना चाहिए। तीनों गुणों का संबंध समय से भी है। सुबह का समय सत्वगुण से प्रभावित होता है इसलिए यह ध्यान, पूजा और अध्ययन के लिए सर्वोत्तम है। दिन का समय रजोगुण से प्रभावित होता है इसलिए यह कार्य और गतिविधियों के लिए उपयुक्त है। रात्रि का समय तमोगुण से प्रभावित होता है इसलिए यह विश्राम के लिए उपयुक्त है। परंतु यदि कोई रात्रि में भी जागकर अध्ययन या ध्यान करता है तो वह सत्वगुण में रहता है। इस प्रकार गुण केवल समय पर निर्भर नहीं करते बल्कि हमारी प्रवृत्ति पर निर्भर करते हैं।

11.1.6 गुणातीत पुरुष के लक्षण : भगवान श्रीकृष्ण ने गुणातीत पुरुष के लक्षणों का विस्तार से वर्णन किया है। अर्जुन पूछते हैं कि जो तीनों गुणों से अतीत हो गया है उसके क्या लक्षण हैं, उसका आचरण कैसा होता है और वह किस प्रकार तीनों गुणों से परे होता है। भगवान उत्तर देते हैं कि जो प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह को न तो द्वेष करता है जब वे उपस्थित हों और न उनकी इच्छा करता है जब वे न हों, वह गुणातीत है। प्रकाश सत्वगुण का, प्रवृत्ति रजोगुण का और मोह तमोगुण का लक्षण है। गुणातीत पुरुष इन सबमें समान रहता है।

गुणातीत पुरुष साक्षी की तरह रहता है। वह यह समझता है कि गुण ही गुणों में बरत रहे हैं अर्थात् इंद्रियाँ अपने-अपने विषयों में लगी हैं। वह स्वयं को कर्ता नहीं मानता। वह आत्मा में स्थित रहता है और विचलित नहीं होता। गुणातीत पुरुष सुख-दुख में समान रहता है। मिट्टी, पत्थर और सोना उसके लिए एक समान हैं। प्रिय और अप्रिय में, निंदा और स्तुति में, मान और अपमान में वह समान रहता है। वह मित्र और शत्रु में भी समान भाव रखता है। वह सभी आरंभों का त्यागी है अर्थात् अहंकार से किए जाने वाले कार्यों को नहीं करता।

गुणातीत पुरुष की स्थिति अत्यंत उच्च है। वह संसार में रहते हुए भी संसार से परे है। उसके लिए सुख-दुख, हानि-लाभ, जय-पराजय सब समान हैं। वह किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होता। उसका मन सदा शांत और स्थिर रहता है। वह न किसी से द्वेष करता है और न किसी से अत्यधिक आसक्ति रखता है। उसकी दृष्टि में सभी प्राणी समान हैं क्योंकि वह सबमें परमात्मा को देखता है। गुणातीत पुरुष का जीवन आदर्श जीवन है जिसकी ओर प्रत्येक साधक को बढ़ना चाहिए।

11.1.7 भगवत्प्राप्ति के उपाय : भगवान श्रीकृष्ण बताते हैं कि गुणों से परे जाने का सबसे सरल और प्रभावशाली उपाय है अनन्य भक्तियोग। जो मनुष्य अव्यभिचारिणी अर्थात् अनन्य भक्तियोग से मेरी उपासना करता है, वह इन गुणों को उल्लंघन करके ब्रह्म को प्राप्त होने के योग्य हो जाता है। अनन्य भक्ति का अर्थ है एकनिष्ठ भक्ति, जिसमें भक्त का ध्यान केवल भगवान पर ही रहता है। ऐसी भक्ति करने वाला व्यक्ति धीरे-धीरे गुणों के प्रभाव से मुक्त हो जाता है। भक्ति में इतनी शक्ति है कि वह साधक को समस्त बंधनों से मुक्त कर देती है।

भगवान आगे कहते हैं कि वे ही अविनाशी ब्रह्म के, अमृत के, नित्य धर्म के और एकांतिक सुख के आश्रय हैं। यह कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है। भगवान स्वयं ब्रह्म के आश्रय हैं अर्थात् ब्रह्म का मूल स्वरूप भगवान ही हैं। जो भगवान को प्राप्त कर लेता है वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। जो भगवान की भक्ति करता है वह अमृतत्व को प्राप्त होता है अर्थात् मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है। नित्य धर्म का अर्थ है शाश्वत स्वभाव और एकांतिक सुख का अर्थ है परम आनंद। ये सभी भगवान की प्राप्ति से मिलते हैं।

गुणों से परे जाने के लिए साधक को सत्त्वगुण की वृद्धि करनी चाहिए। यद्यपि सत्त्वगुण भी बाँधता है परंतु यह अन्य दो गुणों से श्रेष्ठ है। सत्त्वगुण की सीढ़ी से चढ़कर साधक गुणातीत स्थिति को प्राप्त कर सकता है। इसके लिए साधक को सात्विक आहार लेना चाहिए, सात्विक विचार रखने चाहिए, सात्विक कर्म करने चाहिए और सात्विक संगति करनी चाहिए। धीरे-धीरे रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव कम होने लगता है और सत्त्वगुण की वृद्धि होने लगती है। फिर भक्ति के द्वारा साधक सत्त्वगुण से भी परे चला जाता है।

गुणों से परे जाने के लिए आत्म-साक्षात्कार भी आवश्यक है। जब साधक यह अनुभव कर लेता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ, मैं इंद्रियाँ नहीं हूँ बल्कि मैं शुद्ध चैतन्य आत्मा हूँ, तब वह गुणों के प्रभाव से मुक्त हो जाता है। क्योंकि गुण शरीर और मन को प्रभावित करते हैं, आत्मा को नहीं। आत्मा तो सदा शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। जब साधक अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है तो गुण उसे बाँध नहीं सकते। वह गुणातीत हो जाता है और ब्रह्म को प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है।

11.2 पुरुषोत्तम योग

11.2.1 पुरुषोत्तम योग का परिचय : भगवद्गीता का पंद्रहवाँ अध्याय पुरुषोत्तम योग के नाम से प्रसिद्ध है। यह अध्याय अत्यंत महत्वपूर्ण और गहन है क्योंकि इसमें भगवान श्रीकृष्ण ने संसार के स्वरूप, जीवात्मा के स्वभाव और पुरुषोत्तम अर्थात् परम पुरुष के स्वरूप का वर्णन किया है। इस अध्याय में कुल बीस श्लोक हैं। पुरुषोत्तम शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है — पुरुष और उत्तम। पुरुषोत्तम का अर्थ है सर्वश्रेष्ठ पुरुष, जो क्षर

और अक्षर दोनों से परे है। यह पुरुषोत्तम परमात्मा का ही नाम है।

इस अध्याय का आरंभ एक अद्भुत रूपक से होता है। भगवान संसार को एक उल्टे वृक्ष के रूप में वर्णित करते हैं जिसकी जड़ें ऊपर हैं और शाखाएँ नीचे हैं। यह वृक्ष अश्वत्थ अर्थात् पीपल का वृक्ष है। यह रूपक अत्यंत सुंदर और गूढ़ है। उल्टा वृक्ष इस बात का प्रतीक है कि संसार की स्थिति विपरीत है। जो यहाँ वास्तविक दिखाई देता है वह वास्तव में अवास्तविक है। जो ऊपर है वही नीचे है और जो नीचे है वही ऊपर है। यह माया का खेल है जो संसार को उल्टा-सीधा दिखाती है।

भगवान कहते हैं कि जो इस अश्वत्थ रूपी संसार वृक्ष को जानता है वह वेदों को जानने वाला है। इसका अर्थ है कि संसार के वास्तविक स्वरूप को समझना ही सच्चा ज्ञान है। जब तक हम संसार को स्थायी और वास्तविक मानते हैं तब तक हम अज्ञान में हैं। जब हम समझ लेते हैं कि यह संसार परिवर्तनशील और अस्थायी है तब हम ज्ञान को प्राप्त हो जाते हैं। यह अध्याय हमें यह सिखाता है कि हम कौन हैं, संसार क्या है और परमात्मा कौन है। ये तीन प्रश्न—आध्यात्मिकता के मूल प्रश्न—हैं।

पुरुषोत्तम योग का अर्थ है वह योग जिससे पुरुषोत्तम की प्राप्ति होती है। यह अध्याय हमें बताता है कि किस प्रकार संसार के बंधनों से मुक्त होकर हम परम पुरुष को प्राप्त कर सकते हैं। भगवान ने तीन प्रकार के पुरुष बताए हैं — क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और उत्तम पुरुष। क्षर पुरुष वह है जो नाशवान है, अक्षर पुरुष वह है जो अविनाशी है और उत्तम पुरुष वह है जो इन दोनों से परे है। इन तीनों की समझ से ही संपूर्ण सृष्टि का रहस्य खुलता है।

11.2.2 संसार वृक्ष का वर्णन : भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष की जड़ें ऊपर परमात्मा में हैं और शाखाएँ नीचे संसार में फैली हुई हैं। इस वृक्ष के पत्ते वेद हैं। जो इस वृक्ष को इस प्रकार जानता है वह वेदों को जानने वाला है। इस वृक्ष की शाखाएँ नीचे और ऊपर दोनों ओर फैली हुई हैं। ये शाखाएँ गुणों से बड़ी हुई हैं और विषय रूपी इसकी डालियाँ हैं। नीचे मनुष्य लोक में कर्म बंधन रूपी इसकी जड़ें फैली हुई हैं। यह वर्णन अत्यंत गूढ़ है।

इस संसार वृक्ष का रूप जैसा यहाँ कहा गया है वैसा तत्व से अनुभव नहीं होता क्योंकि न तो इसका आदि है, न अंत है और न ही इसकी स्थिति का ठीक-ठीक पता है। इस अश्वत्थ वृक्ष को दृढ़ जड़ों वाला समझकर, वैराग्य रूपी शस्त्र से इसे काटकर तत्पश्चात् उस परम पद को खोजना चाहिए जहाँ जाने के बाद मनुष्य वापस नहीं लौटते। यह काटने का अर्थ है संसार की आसक्ति को काटना। जब तक हम संसार में आसक्त हैं तब तक हम इस वृक्ष से बंधे हुए हैं। वैराग्य से ही यह आसक्ति कटती है।

संसार वृक्ष की जड़ें ऊपर होने का गहरा अर्थ है। इसका अर्थ है कि संसार का मूल कारण परमात्मा है। सब कुछ परमात्मा से ही उत्पन्न होता है। परमात्मा सबका आधार है, सबका मूल है। जिस प्रकार वृक्ष अपनी जड़ों से पोषण प्राप्त करता है उसी प्रकार संपूर्ण संसार परमात्मा से ही अपनी शक्ति प्राप्त करता है। परंतु यह संसार उल्टा दिखाई देता है क्योंकि यहाँ जो ऊपर है वह नीचे दिखता है और जो नीचे है वह ऊपर दिखता है। यह माया का प्रभाव है जो सत्य को विपरीत दिखाती है।

इस संसार वृक्ष के पत्ते वेद हैं। वेदों में धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, कर्तव्य-अकर्तव्य का वर्णन है। जिस प्रकार पत्ते वृक्ष की शोभा होते हैं और वृक्ष की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार वेद संसार की व्यवस्था को बनाए रखते हैं। वेद हमें यह बताते हैं कि संसार में किस प्रकार रहना चाहिए, किस प्रकार कर्म करने चाहिए। परंतु जो इस संसार वृक्ष को जान लेता है वह वेदों से परे चला जाता है। उसे फिर वेदों की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि वह सत्य को जान चुका होता है।

11.2.3 क्षर और अक्षर पुरुष : भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि संसार में दो प्रकार के पुरुष हैं — क्षर और

अक्षर। क्षर पुरुष वह है जो नाशवान है। सभी प्राणी क्षर पुरुष हैं क्योंकि उनका शरीर नष्ट हो जाता है। यह भौतिक जगत क्षर है। जो कुछ भी हम देखते हैं — पर्वत, नदियाँ, वृक्ष, पशु-पक्षी, मनुष्य — सब क्षर हैं। ये सब समय के साथ नष्ट हो जाते हैं। जो आज है वह कल नहीं होगा। यह संसार निरंतर परिवर्तनशील है। प्रत्येक क्षण कुछ नष्ट हो रहा है और कुछ नया उत्पन्न हो रहा है। यही क्षर जगत की प्रकृति है।

अक्षर पुरुष वह है जो अविनाशी है। कूटस्थ अर्थात् जीवात्मा को अक्षर कहा जाता है। आत्मा कभी नष्ट नहीं होती। शरीर नष्ट हो जाता है परंतु आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में चली जाती है। आत्मा अजन्मा है, अविनाशी है, नित्य है और शाश्वत है। न शस्त्र इसे काट सकते हैं, न अग्नि इसे जला सकती है, न जल इसे गीला कर सकता है और न वायु इसे सुखा सकती है। आत्मा सूक्ष्म है, अचिंत्य है और निर्विकार है। यही अक्षर पुरुष है। प्रत्येक जीव में यह अक्षर पुरुष विद्यमान है।

परंतु भगवान कहते हैं कि इन दोनों से उत्तम एक और पुरुष है जो पुरुषोत्तम कहलाता है। वह परमात्मा है जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है। वह अविनाशी ईश्वर है। क्योंकि भगवान क्षर से अतीत हैं और अक्षर से भी उत्तम हैं इसलिए वे लोक में और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हैं। यह पुरुषोत्तम सबसे महान है। वह क्षर और अक्षर दोनों का आधार है। वह सबका स्रोत है, सबका लक्ष्य है और सबका नियंता है।

जो मनुष्य मोह रहित होकर इस प्रकार मुझ पुरुषोत्तम को तत्व से जानता है वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से निरंतर मुझ परमेश्वर को ही भजता है। भगवान कहते हैं कि यह अत्यंत गोपनीय शास्त्र है। इसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान हो जाता है और उसका सब कुछ पूर्ण हो जाता है। यह ज्ञान सर्वोच्च ज्ञान है। जिसने इसे जान लिया उसके लिए जानने को कुछ शेष नहीं रहता। वह सभी बंधनों से मुक्त हो जाता है और परम शांति को प्राप्त होता है।

11.2.4 पुरुषोत्तम का स्वरूप : पुरुषोत्तम परमात्मा का स्वरूप अवर्णनीय है परंतु भगवान श्रीकृष्ण ने कुछ संकेतों से उसे समझाने का प्रयास किया है। पुरुषोत्तम सर्वव्यापी है। वह सब जगह विद्यमान है — पृथ्वी में, जल में, अग्नि में, वायु में, आकाश में। वह सभी प्राणियों में है — मनुष्य में, पशु-पक्षियों में, वृक्षों में, यहाँ तक कि कीड़े-मकोड़ों में भी। कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ वह न हो। वह अनंत है अर्थात् उसका कोई छोर नहीं है। वह अनादि है अर्थात् उसका कोई आरंभ नहीं है। वह अनंत है अर्थात् उसका कोई अंत नहीं है।

पुरुषोत्तम सर्वशक्तिमान है। उसमें असीम शक्ति है। वह सृष्टि का निर्माण करता है, उसका पालन करता है और अंत में उसका संहार भी करता है। यह संपूर्ण ब्रह्मांड उसकी शक्ति से ही संचालित हो रहा है। सूर्य, चंद्रमा, तारे, ग्रह सभी उसकी शक्ति से गतिमान हैं। भगवान कहते हैं कि मैं पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सभी प्राणियों को धारण करता हूँ। मैं ही रसमय चंद्रमा होकर संपूर्ण औषधियों को पुष्ट करता हूँ। मैं सबके शरीर में रहने वाला वैश्वानर अग्नि होकर प्राण और अपान से संयुक्त होकर चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।

पुरुषोत्तम सर्वज्ञ है। उसे सब कुछ ज्ञात है। भूत, वर्तमान और भविष्य सब कुछ वह जानता है। प्रत्येक प्राणी के मन की बात वह जानता है। किसी के मन में क्या है, किसकी क्या इच्छा है, कौन क्या सोच रहा है — सब कुछ उसे ज्ञात है। भगवान कहते हैं कि मैं सबके हृदय में स्थित हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है। अपोहन का अर्थ है तर्क-वितर्क द्वारा निर्णय करना। हमारी बुद्धि की शक्ति भी भगवान की ही देन है। सभी वेदों द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ। वेदांत का कर्ता और वेदों को जानने वाला भी मैं ही हूँ।

पुरुषोत्तम परम प्रेममय है। वह अपनी सृष्टि से, अपने भक्तों से अत्यधिक प्रेम करता है। वह भक्त वत्सल है अर्थात् भक्तों का पालन-पोषण करने वाला है। जो उसकी शरण में आता है वह उसकी रक्षा करता है। वह कभी अपने भक्त को नहीं छोड़ता। भक्त कितनी भी कठिनाई में क्यों न हो, भगवान उसके साथ खड़े रहते हैं।

यही पुरुषोत्तम का स्वभाव है। वह अनंत करुणा और अनंत प्रेम का सागर है। उसकी कृपा से ही जीव को मुक्ति मिलती है। उसकी कृपा के बिना कोई भी साधना सफल नहीं हो सकती। संसार को उल्टे वृक्ष के रूप में इसलिए वर्णित किया गया है क्योंकि इसकी जड़ें ऊपर परमात्मा में हैं और शाखाएँ नीचे संसार में फैली हैं। यह माया के प्रभाव को दर्शाता है जो सत्य को विपरीत दिखाती है। क्षर पुरुष वह है जो नाशवान है – सभी भौतिक वस्तुएँ और शरीर। अक्षर पुरुष वह है जो अविनाशी है – जीवात्मा जो कभी नष्ट नहीं होती। पुरुषोत्तम परमात्मा को कहते हैं जो क्षर और अक्षर दोनों से परे है। वह सर्वोच्च पुरुष है जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है।

बोध प्रश्न

प्रश्न-1 संसार को उल्टे वृक्ष के रूप में क्यों वर्णित किया गया है?

प्रश्न-2 : क्षर और अक्षर पुरुष में क्या अंतर है?

प्रश्न-3 : पुरुषोत्तम किसे कहते हैं?

11.2.5 पुरुषोत्तम योग का महत्व : पुरुषोत्तम योग का महत्व इसलिए है कि यह हमें संपूर्ण सृष्टि का रहस्य समझाता है। यह बताता है कि संसार क्या है, जीव कौन है और परमात्मा का क्या स्वरूप है। जब हम इन तीन तत्वों को समझ लेते हैं तो हमारा जीवन परिवर्तित हो जाता है। हम यह समझ जाते हैं कि संसार अस्थायी है और इसमें आसक्त होना व्यर्थ है। हम यह भी समझ जाते हैं कि हम शरीर नहीं बल्कि अविनाशी आत्मा हैं। और सबसे महत्वपूर्ण यह कि हम पुरुषोत्तम परमात्मा को जान लेते हैं जो हमारा वास्तविक स्वरूप है।

भगवान कहते हैं कि जो इस गोपनीय शास्त्र को जानता है वह ज्ञानवान है और उसका सब कुछ पूर्ण है। इसका अर्थ है कि पुरुषोत्तम का ज्ञान ही परम ज्ञान है। इससे बढ़कर कोई ज्ञान नहीं है। जो इसे जान लेता है उसके लिए जानने को कुछ शेष नहीं रहता। वह सभी प्रश्नों का उत्तर पा लेता है। उसके जीवन का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। वह जीवन-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है और परम शांति को प्राप्त होता है।

पुरुषोत्तम योग हमें यह भी सिखाता है कि भगवान सर्वत्र विद्यमान हैं। जब हम यह समझ लेते हैं तो हमारी दृष्टि बदल जाती है। हम प्रत्येक प्राणी में भगवान को देखने लगते हैं। हमारे हृदय में सभी के प्रति प्रेम और सम्मान का भाव उत्पन्न हो जाता है। हम किसी से द्वेष नहीं कर सकते क्योंकि हम जानते हैं कि वह भी भगवान का ही रूप है। यह दृष्टि हमारे जीवन को पवित्र बना देती है। हमारे सभी संबंध मधुर हो जाते हैं और हम सुख और शांति का अनुभव करते हैं।

पुरुषोत्तम योग का एक और महत्वपूर्ण संदेश है कि हमें संसार से वैराग्य प्राप्त करना चाहिए। जब हम समझ लेते हैं कि यह संसार एक क्षणभंगुर वृक्ष के समान है तो हम इसमें अत्यधिक आसक्त नहीं रहते। हम अपने कर्तव्य कर्मों को करते हैं परंतु फल में आसक्त नहीं रहते। हम संसार में रहते हुए भी संसार से परे हो जाते हैं। यही वैराग्य है। वैराग्य का अर्थ संसार को छोड़कर भाग जाना नहीं है बल्कि संसार में रहते हुए भी आसक्ति रहित रहना है। पुरुषोत्तम योग हमें यही सिखाता है।

11.3 दैवी और आसुरी सम्पदा

11.3.1 दैवी और आसुरी सम्पदा का परिचय : भगवद्गीता का सोलहवाँ अध्याय दैवी और आसुरी सम्पदा के विभाग का वर्णन करता है। इस अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने मनुष्यों के दो प्रकार के स्वभावों का विस्तार से वर्णन किया है। कुछ मनुष्य दैवी सम्पदा से युक्त होते हैं अर्थात् उनमें दैवी गुण होते हैं और कुछ मनुष्य आसुरी सम्पदा से युक्त होते हैं अर्थात् उनमें आसुरी गुण होते हैं। इस अध्याय में कुल चौबीस श्लोक हैं

जो इन दोनों प्रकार के स्वभावों की विस्तृत व्याख्या करते हैं।

सम्पदा शब्द का अर्थ है संपत्ति या धन। यहाँ सम्पदा से तात्पर्य गुणों की संपत्ति से है। जिस प्रकार कुछ लोग धन-संपत्ति से समृद्ध होते हैं उसी प्रकार कुछ लोग गुणों से समृद्ध होते हैं। दैवी सम्पदा मोक्ष के लिए है अर्थात् जिन व्यक्तियों में दैवी गुण होते हैं वे मुक्ति को प्राप्त होते हैं। आसुरी सम्पदा बंधन के लिए है अर्थात् जिन व्यक्तियों में आसुरी गुण होते हैं वे संसार के बंधनों में फंसते जाते हैं। भगवान कहते हैं कि अर्जुन दैवी सम्पदा से युक्त है इसलिए उसे चिंता नहीं करनी चाहिए।

इस संसार में दो प्रकार के प्राणी हैं — देवस्वभाव वाले और असुर स्वभाव वाले। देवस्वभाव वाले लोग सत्य, धर्म, दया, करुणा आदि गुणों से युक्त होते हैं। वे दूसरों का हित चाहते हैं और निःस्वार्थ भाव से कार्य करते हैं। असुर स्वभाव वाले लोग स्वार्थी, क्रूर, हिंसक और अहंकारी होते हैं। वे केवल अपना स्वार्थ देखते हैं और दूसरों को कष्ट देने में भी संकोच नहीं करते। भगवान ने पहले दैवी सम्पदा का विस्तार से वर्णन किया है और फिर आसुरी सम्पदा का वर्णन किया है।

दैवी और आसुरी सम्पदा का वर्णन इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यह हमें आत्मनिरीक्षण का अवसर देता है। हम अपने आप को जाँच सकते हैं कि हमारे भीतर कौन से गुण हैं। यदि दैवी गुण हैं तो हमें उन्हें और अधिक विकसित करना चाहिए। यदि आसुरी गुण हैं तो हमें उन्हें दूर करने का प्रयास करना चाहिए। यह अध्याय हमें दर्पण दिखाता है जिसमें हम अपना वास्तविक चेहरा देख सकते हैं। यह हमें सचेत करता है कि हमें किस मार्ग पर चलना चाहिए।

11.3.2 दैवी सम्पदा के लक्षण : भगवान श्रीकृष्ण ने दैवी सम्पदा के अनेक लक्षण बताए हैं। सबसे पहला गुण है अभय अर्थात् निर्भयता। दैवी स्वभाव वाला व्यक्ति निर्भीक होता है। वह किसी से नहीं डरता। उसे मृत्यु का भी भय नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि आत्मा अमर है। उसे अपमान या हानि का भय नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि भगवान उसके साथ हैं। सत्व संशुद्धि अर्थात् अंतःकरण की शुद्धता भी महत्वपूर्ण गुण है। दैवी व्यक्ति का मन शुद्ध होता है। उसमें बुरे विचार नहीं आते। वह सदा पवित्र विचार रखता है।

ज्ञान योग में निष्ठा अर्थात् आत्मान में दृढ़ता भी दैवी गुण है। दैवी व्यक्ति आत्मान की खोज में लगा रहता है। वह शास्त्रों का अध्ययन करता है, गुरु की सेवा करता है और निरंतर आत्मचिंतन करता है। दान देना भी दैवी गुण है। दैवी व्यक्ति उदार होता है। वह अपनी संपत्ति का एक भाग जरूरतमंदों को देता है। वह बिना किसी स्वार्थ के दान करता है। दम अर्थात् इंद्रियों का संयम भी आवश्यक है। दैवी व्यक्ति अपनी इंद्रियों पर नियंत्रण रखता है। वह विषयों में अत्यधिक नहीं लिप्त होता।

यज्ञ, स्वाध्याय और तप करना भी दैवी गुण हैं। यज्ञ का अर्थ है देवताओं की पूजा और परोपकार। स्वाध्याय का अर्थ है शास्त्रों का अध्ययन और मनन। तप का अर्थ है कठिनाइयों को सहना और इंद्रियों का संयम करना। आर्जव अर्थात् सरलता भी महत्वपूर्ण है। दैवी व्यक्ति सीधा और सरल होता है। उसमें कपट नहीं होता। अहिंसा अर्थात् किसी को कष्ट न देना भी दैवी गुण है। दैवी व्यक्ति मन, वचन और कर्म से किसी को दुख नहीं पहुँचाता। वह सभी प्राणियों के प्रति दयालु है।

सत्य बोलना, अक्रोध, त्याग, शांति, दोष देखना नहीं, प्राणियों पर दया, इंद्रियों का लोभ न होना, कोमलता, लज्जा और चंचलता का अभाव — ये सभी दैवी गुण हैं। तेज, क्षमा, धैर्य, शौच अर्थात् पवित्रता, किसी से वैर न रखना और अभिमान का अभाव — ये भी दैवी गुण हैं। भगवान ने कुल छब्बीस दैवी गुणों का वर्णन किया है। जिस व्यक्ति में ये गुण होते हैं वह देवस्वभाव वाला कहलाता है। ऐसे व्यक्ति को संसार में सम्मान मिलता है और अंत में वह मोक्ष को प्राप्त होता है।

11.3.3 आसुरी सम्पदा के लक्षण : आसुरी सम्पदा दैवी सम्पदा के विपरीत है। भगवान कहते हैं कि

दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान — ये आसुर स्वभाव वाले पुरुष के लक्षण हैं। दम्भ का अर्थ है पाखंड या दिखावा। आसुरी व्यक्ति दिखावा करता है। वह बाहर से कुछ और होता है और भीतर से कुछ और। दर्प का अर्थ है घमंड। आसुरी व्यक्ति अपनी शक्ति, धन या पद का घमंड करता है। अभिमान का अर्थ है अहंकार। आसुरी व्यक्ति अपने को सबसे बड़ा समझता है।

क्रोध आसुरी स्वभाव का मुख्य लक्षण है। आसुरी व्यक्ति जल्दी क्रोधित हो जाता है। जब उसकी इच्छा पूरी नहीं होती या कोई उसके विरोध में बोलता है तो वह क्रोध में आ जाता है। कठोरता भी आसुरी गुण है। आसुरी व्यक्ति निर्दयी और क्रूर होता है। उसे दूसरों के दुख से कोई सहानुभूति नहीं होती। अज्ञान का अर्थ है सही-गलत का भेद न जानना। आसुरी व्यक्ति अज्ञानी होता है। वह धर्म-अधर्म में भेद नहीं कर पाता।

भगवान आगे कहते हैं कि आसुर स्वभाव के लोग प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते। प्रवृत्ति का अर्थ है क्या करना चाहिए और निवृत्ति का अर्थ है क्या नहीं करना चाहिए। आसुरी व्यक्ति को यह नहीं पता कि उसे कौन से कार्य करने चाहिए और कौन से नहीं। उनमें न शुद्धता होती है, न सदाचार होता है और न सत्य होता है। वे कहते हैं कि यह जगत असत्य है, बिना किसी आधार के है और बिना ईश्वर के है। यह केवल काम से उत्पन्न हुआ है। काम के सिवा इसका और कोई कारण नहीं है।

आसुरी व्यक्ति भौतिकवादी होते हैं। वे केवल इंद्रियों के भोग में विश्वास करते हैं। उनका मानना है कि मृत्यु के बाद कुछ नहीं है इसलिए जीवन में जितना भोग सकते हैं उतना भोग लेना चाहिए। वे पुनर्जन्म, कर्मफल और परमात्मा में विश्वास नहीं करते। वे कहते हैं कि जीवन केवल एक संयोग है और मृत्यु के साथ सब कुछ समाप्त हो जाता है। यह दृष्टिकोण अत्यंत खतरनाक है क्योंकि यह व्यक्ति को स्वार्थी और अनैतिक बना देता है।

11.3.4 आसुर प्रकृति के लोगों का आचरण : भगवान श्रीकृष्ण बताते हैं कि आसुर स्वभाव के लोग इस मत को अपनाकर, नष्ट हुई बुद्धि वाले अल्पज्ञानी लोग क्रूर कर्म करने वाले संसार के नाश के लिए उत्पन्न होते हैं। वे दुर्निवार कामना का आश्रय लेकर, दम्भ, मान और मद से युक्त होकर, मोह से असत्य सिद्धांतों को ग्रहण करके अशुद्ध व्रत वाले हो जाते हैं। वे निरंतर चिंता में फंसे रहते हैं जो मृत्यु तक बनी रहती है। विषयों के भोग को ही परम मानते हैं और यही सब कुछ है ऐसा मानते हैं।

आसुरी व्यक्ति सौ-सौ प्रकार की आशाओं से बंधे रहते हैं। काम और क्रोध के अधीन होकर वे अनुचित रीति से धन संग्रह करने की चेष्टा करते हैं। वे सोचते हैं कि आज मुझे यह लाभ हुआ है, अब मैं इस मनोरथ को प्राप्त करूंगा। यह धन मेरे पास है और वह धन भी मेरे पास होगा। यह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया है और दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूंगा। मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध, बलवान और सुखी हूँ। मैं बड़ा धनवान और उच्च कुल में जन्मा हूँ। मेरे समान और कौन है। मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा और आनंद मनाऊंगा।

इस प्रकार अज्ञान से मोहित, अनेक प्रकार से भ्रमित चित्त वाले और विषयों के भोग रूप जाल में फंसे हुए आसुरी व्यक्ति नरक में गिरते हैं। वे अपने को बहुत बड़ा मानते हैं, धन और मान के मद से मत्त रहते हैं और दम्भ से युक्त होकर केवल नाममात्र के यज्ञों से यजन करते हैं। अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोध के वश में हुए वे दूसरों के और अपने शरीर में स्थित मुझ अंतर्ग्रामी परमात्मा की निंदा करते हैं। ऐसे द्वेष करने वाले, क्रूर, नीच कर्म करने वाले और पापी पुरुषों को भगवान संसार में बार-बार आसुरी योनियों में ही डालते हैं।

आसुरी योनि को प्राप्त हुए मूढ़ लोग जन्म-जन्म में मुझे प्राप्त न होकर और भी नीची गति को प्राप्त होते हैं। यह अत्यंत दुखदायी स्थिति है। आसुरी प्रकृति के लोग जन्म-जन्मांतर तक भटकते रहते हैं। वे कभी शांति नहीं पाते, कभी सुख नहीं पाते। उनका जीवन निरंतर संघर्ष और दुख से भरा रहता है। अंत में वे और

भी नीच योनियों में जन्म लेते हैं। इसलिए भगवान चेतावनी देते हैं कि हमें आसुरी गुणों से बचना चाहिए और दैवी गुणों को विकसित करना चाहिए। दैवी सम्पदा का अर्थ है दैवी गुणों की संपत्ति जो मोक्ष की ओर ले जाती है। आसुरी सम्पदा का अर्थ है आसुरी गुणों की संपत्ति जो बंधन में डालती है। दैवी सम्पदा के पाँच प्रमुख लक्षण हैं – अभय (निर्भयता), सत्व संशुद्धि (मन की शुद्धता), दान, दम (इंद्रिय संयम) और अहिंसा। आसुरी स्वभाव के व्यक्ति में दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान होता है। वे स्वार्थी, क्रूर और भौतिकवादी होते हैं।

बोध प्रश्न

प्रश्न-1 : दैवी और आसुरी सम्पदा से क्या अभिप्राय है?

प्रश्न-2 : दैवी सम्पदा के पाँच प्रमुख लक्षण बताइए।

प्रश्न-3 : आसुरी स्वभाव के व्यक्ति की क्या विशेषताएँ हैं?

11.3.5 काम, क्रोध और लोभ – तीन नरक के द्वार भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि काम, क्रोध और लोभ – ये तीन प्रकार के नरक के द्वार आत्मा का नाश करने वाले हैं। इसलिए इन तीनों को त्याग देना चाहिए। यह कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है। काम, क्रोध और लोभ मनुष्य के सबसे बड़े शत्रु हैं। ये तीनों मिलकर मनुष्य को नष्ट कर देते हैं। काम का अर्थ है विषयों की तीव्र इच्छा। जब मनुष्य के मन में किसी विषय की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है तो वह उस विषय को प्राप्त करने के लिए कुछ भी करने को तैयार हो जाता है। वह धर्म-अधर्म का विचार नहीं करता।

क्रोध काम से उत्पन्न होता है। जब काम की पूर्ति में बाधा आती है तो क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध में मनुष्य अपना विवेक खो देता है। वह कुछ भी कह सकता है, कुछ भी कर सकता है। क्रोध से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और स्मृति नष्ट हो जाती है। क्रोधित व्यक्ति अपने और दूसरों के लिए हानिकारक कार्य कर सकता है। लोभ का अर्थ है अत्यधिक संग्रह करने की इच्छा। लोभी व्यक्ति कभी संतुष्ट नहीं होता। उसे जितना मिलता है उससे अधिक चाहिए। वह अनुचित साधनों से भी धन इकट्ठा करने में संकोच नहीं करता।

ये तीनों विकार मनुष्य को नरक की ओर ले जाते हैं। नरक का अर्थ केवल मृत्यु के बाद की दुर्गति नहीं है बल्कि इसी जीवन में दुख और कष्ट से भरी स्थिति भी नरक है। काम, क्रोध और लोभ से ग्रसित व्यक्ति का जीवन नरक बन जाता है। वह सदा असंतुष्ट रहता है, सदा चिंतित रहता है, सदा दुखी रहता है। उसे कभी शांति नहीं मिलती। इसलिए भगवान कहते हैं कि इन तीनों को त्याग देना चाहिए। जो मनुष्य इन तीन नरक के द्वारों से मुक्त हो जाता है वह आत्मकल्याण करने वाले कार्यों का आचरण करता है और तब परम गति को प्राप्त होता है।

काम, क्रोध और लोभ से मुक्त होने के लिए विवेक और वैराग्य आवश्यक हैं। विवेक से हम यह समझ सकते हैं कि ये विकार हमारे शत्रु हैं और हमें नष्ट कर सकते हैं। वैराग्य से हम विषयों में आसक्ति को कम कर सकते हैं। जब विषयों में आसक्ति कम होती है तो काम भी कम होता है। जब काम कम होता है तो क्रोध भी कम होता है। संतोष से लोभ पर विजय पाई जा सकती है। जो व्यक्ति जो कुछ उसके पास है उसी में संतुष्ट रहता है वह लोभी नहीं हो सकता। इस प्रकार साधना से इन तीनों विकारों पर विजय पाई जा सकती है।

11.3.6 शास्त्र का महत्व : भगवान श्रीकृष्ण अध्याय के अंत में शास्त्र के महत्व को स्थापित करते हैं। वे कहते हैं कि जो शास्त्र विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न परम गति को और न सुख को। इसलिए कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में तेरे लिए शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्र विधि को जानकर ही तुझे यहाँ कर्म करना उचित है। यह कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है। शास्त्र

हमारा मार्गदर्शक है। शास्त्र हमें बताता है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए।

शास्त्र का अर्थ केवल धार्मिक ग्रंथ नहीं है। शास्त्र का अर्थ है वह ज्ञान जो पीढ़ियों के अनुभव से प्राप्त हुआ है। शास्त्र में ऋषि-मुनियों का ज्ञान संचित है। उन्होंने जीवन के सत्य को जाना और उसे शास्त्रों में लिपिबद्ध किया। जो व्यक्ति शास्त्र के अनुसार आचरण करता है वह सही मार्ग पर चलता है। जो शास्त्र की उपेक्षा करके अपनी मनमानी करता है वह भटक जाता है। शास्त्र हमें बताता है कि किस परिस्थिति में कैसा व्यवहार करना चाहिए।

परंतु शास्त्र का अंधानुकरण भी नहीं करना चाहिए। शास्त्र को समझना चाहिए, उसके तत्व को जानना चाहिए। केवल बाहरी कर्मकांड करने से कुछ नहीं होता। शास्त्र की आत्मा को समझना आवश्यक है। शास्त्र का उद्देश्य है मनुष्य का कल्याण, उसका उत्थान। इसलिए शास्त्र के नियमों को विवेक से समझकर और युग के अनुसार व्याख्या करके उनका पालन करना चाहिए। शास्त्र कोई जंजीर नहीं है बल्कि मुक्ति का साधन है। जो शास्त्र को इस दृष्टि से देखता है वह शास्त्र का सच्चा अनुयायी है।

भगवान ने इस अध्याय में स्पष्ट कर दिया है कि दैवी गुणों को विकसित करना और आसुरी गुणों को त्यागना प्रत्येक साधक का कर्तव्य है। काम, क्रोध और लोभ से बचना और शास्त्र के अनुसार आचरण करना मोक्ष का मार्ग है। जो व्यक्ति इन सिद्धांतों को अपने जीवन में उतारता है वह धीरे-धीरे दैवी सम्पदा से संपन्न हो जाता है। उसका जीवन सुखी, शांत और सार्थक बन जाता है। वह समाज के लिए आदर्श बनता है और अंत में परम गति को प्राप्त होता है। इस यूनिट में हमने भगवद्गीता के तीन अत्यंत महत्वपूर्ण अध्यायों का गहन अध्ययन किया। अध्याय 14 में गुणत्रय का विवेचन हमें यह समझाता है कि हमारा सारा व्यवहार तीन गुणों — सत्व, रजस् और तमस् से प्रभावित होता है। इन गुणों को समझकर और सत्वगुण की वृद्धि करके हम धीरे-धीरे गुणातीत स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं। भगवान ने स्पष्ट किया है कि गुणातीत होने का सबसे सरल उपाय अनन्य भक्तियोग है। जो भगवान की निष्काम भक्ति करता है वह गुणों के प्रभाव से मुक्त हो जाता है।

अध्याय 15 में पुरुषोत्तम योग का वर्णन हमें संसार के वास्तविक स्वरूप को समझाता है। संसार एक क्षणभंगुर वृक्ष की तरह है जिसकी जड़ें परमात्मा में हैं। इस संसार में आसक्ति रखना व्यर्थ है। हमें वैराग्य के शास्त्र से इस आसक्ति को काटकर परम पद की खोज करनी चाहिए। क्षर और अक्षर पुरुष का भेद समझकर और पुरुषोत्तम परमात्मा को जानकर हम मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं। पुरुषोत्तम ही सर्वोच्च सत्य है जो सब कुछ धारण करता है और सब कुछ व्याप्त करता है।

अध्याय 16 में दैवी और आसुरी सम्पदा का विभाग हमें आत्मनिरीक्षण का अवसर देता है। हम अपने गुणों को देख सकते हैं और यह निर्णय कर सकते हैं कि हमें किस दिशा में बढ़ना है। दैवी गुणों का विकास मोक्ष का मार्ग है जबकि आसुरी गुण बंधन में डालते हैं। भगवान ने स्पष्ट चेतावनी दी है कि काम, क्रोध और लोभ नरक के तीन द्वार हैं। इनसे बचना अत्यंत आवश्यक है। शास्त्र हमारा मार्गदर्शक है जो हमें बताता है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं।

इन तीनों अध्यायों का सार यह है कि हमें सात्विक जीवन जीना चाहिए, दैवी गुणों का विकास करना चाहिए, संसार में आसक्ति को त्यागना चाहिए और पुरुषोत्तम परमात्मा की भक्ति करनी चाहिए। जब हम इस मार्ग पर चलते हैं तो हमारा जीवन सुखमय, शांतिपूर्ण और सार्थक बन जाता है। हम केवल अपना ही नहीं बल्कि समाज का भी उत्थान करते हैं। हम एक आदर्श जीवन जीते हैं जो दूसरों के लिए प्रेरणा बनता है। और अंततः हम जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर परम गति को, परम शांति को प्राप्त होते हैं।

गीता का यह ज्ञान केवल सैद्धांतिक नहीं है बल्कि अत्यंत व्यावहारिक है। इसे अपने दैनिक जीवन में उतारा जा सकता है। प्रत्येक दिन हम अपने विचारों, वचनों और कर्मों को देख सकते हैं और यह जाँच सकते

हैं कि वे सात्विक हैं या नहीं। हम अपने भीतर के गुणों को पहचान सकते हैं और उन्हें परिवर्तित करने का प्रयास कर सकते हैं। हम दैवी गुणों को विकसित करने के लिए सचेत प्रयास कर सकते हैं। और सबसे महत्वपूर्ण, हम भगवान की भक्ति कर सकते हैं जो सभी साधनों में सर्वश्रेष्ठ है।

इस प्रकार यह यूनिट हमें जीवन जीने की कला सिखाता है। यह हमें बताता है कि कैसे एक साधारण जीवन को असाधारण बनाया जा सकता है। कैसे संसार में रहते हुए भी संसार से परे हुआ जा सकता है। कैसे कर्म करते हुए भी कर्म के बंधन से मुक्त रहा जा सकता है। यही गीता का सार है और यही जीवन का परम लक्ष्य है। जो इस ज्ञान को समझकर इसे अपने जीवन में उतारता है, वह धन्य है। उसका जीवन सफल है और उसका मानव जन्म सार्थक है।

11.4 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

- प्रश्न-1 प्रकृति के तीन गुणों – सत्व, रजस् और तमस् का विस्तृत वर्णन कीजिए। प्रत्येक गुण का मनुष्य के व्यवहार और जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है? उदाहरण सहित समझाइए।
- प्रश्न-2 गुणातीत पुरुष के लक्षणों का विस्तार से विवेचन कीजिए। गुणों से परे जाने के लिए भगवान ने कौन से उपाय बताए हैं? भक्तियोग इसमें कैसे सहायक है?
- प्रश्न-3 “संसार एक उल्टा वृक्ष है” – इस कथन की व्याख्या कीजिए। इस वृक्ष की जड़ें, शाखाएँ और पत्ते क्या हैं? इस रूपक का क्या गहरा अर्थ है?
- प्रश्न-4 क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम में क्या अंतर है? पुरुषोत्तम का स्वरूप और महिमा का विस्तृत वर्णन कीजिए।
- प्रश्न-5 दैवी सम्पदा के लक्षणों का विस्तृत विवेचन कीजिए। ये गुण व्यावहारिक जीवन में किस प्रकार विकसित किए जा सकते हैं? आधुनिक जीवन के संदर्भ में उदाहरण दीजिए।
- प्रश्न-6 आसुरी सम्पदा के लक्षणों और आसुर प्रकृति के लोगों के आचरण का विस्तृत वर्णन कीजिए। आसुरी गुण मनुष्य और समाज को किस प्रकार नष्ट करते हैं?
- प्रश्न-7 “काम, क्रोध और लोभ नरक के तीन द्वार हैं” – इस कथन की विस्तृत व्याख्या कीजिए। इन तीनों विकारों से कैसे मुक्त हुआ जा सकता है?
- प्रश्न-8 शास्त्र के महत्व पर एक निबंध लिखिए। शास्त्र किस प्रकार मनुष्य का मार्गदर्शन करता है? शास्त्र के अनुसार और शास्त्र विरुद्ध आचरण के क्या परिणाम होते हैं?
- प्रश्न-9 सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिए। प्रत्येक गुण का फल क्या है और मृत्यु के समय प्रत्येक गुण में स्थित व्यक्ति को क्या गति मिलती है?
- प्रश्न-10 अध्याय 14, 15 और 16 के आधार पर आत्मोन्नति के मार्ग का विस्तृत विवेचन कीजिए। एक साधक को किन गुणों का विकास करना चाहिए और किन दोषों से बचना चाहिए?
- प्रश्न-11 पुरुषोत्तम योग के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा के संबंध को स्पष्ट कीजिए। जीवात्मा किस प्रकार बंधन में आती है और मुक्ति कैसे प्राप्त करती है?
- प्रश्न-12 भगवद्गीता के अनुसार दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों का समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है? समाज के उत्थान के लिए दैवी गुणों का विकास क्यों आवश्यक है?

संरचना

12.1 श्रद्धा त्रय विभाग योग

- 12.1.1 श्रद्धा का परिचय और महत्व
- 12.1.2 त्रिविध श्रद्धा का स्वरूप
- 12.1.3 सात्त्विक श्रद्धा
- 12.1.4 राजसिक श्रद्धा
- 12.1.5 तामसिक श्रद्धा
- 12.1.6 आहार के तीन प्रकार
- 12.1.7 यज्ञ के तीन प्रकार
- 12.1.8 तप के तीन प्रकार
- 12.1.9 दान के तीन प्रकार
- 12.1.10 ॐ तत् सत् का महत्व

12.2 मोक्ष संन्यास योग

- 12.2.1 संन्यास और त्याग का अर्थ
- 12.2.2 त्याग के विभिन्न मत
- 12.2.3 त्याग के तीन प्रकार
- 12.2.4 कर्म के पाँच कारण
- 12.2.5 कर्म के तीन प्रकार
- 12.2.6 कर्ता के तीन प्रकार
- 12.2.7 बुद्धि और धृति के तीन प्रकार
- 12.2.8 सुख के तीन प्रकार
- 12.2.9 स्वभाव और स्वधर्म
- 12.2.10 गीता का समापन संदेश
- 12.2.11 अर्जुन का समर्पण
- 12.2.12 संजय का उद्गार

12.3 बोध प्रश्न

12.1 श्रद्धा त्रय विभाग योग

12.1.1 श्रद्धा का परिचय और महत्व : भगवद्गीता का सत्रहवाँ अध्याय श्रद्धा के विषय में विस्तृत चर्चा करता है। यह अध्याय अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह मानव जीवन में श्रद्धा की भूमिका को स्पष्ट करता है। अर्जुन भगवान श्री कृष्ण से प्रश्न—करते हैं कि जो मनुष्य शास्त्र विधि को न मानते हुए केवल श्रद्धा से देवताओं की पूजा करते हैं, उनकी स्थिति क्या होती है? क्या वे सात्त्विक हैं, राजसिक हैं या तामसिक हैं? यह प्रश्न—अत्यंत व्यावहारिक है क्योंकि समाज में अनेक लोग ऐसे होते हैं जो शास्त्रीय ज्ञान से परिचित नहीं होते लेकिन फिर भी अपनी श्रद्धा के अनुसार उपासना करते हैं।

भगवान श्री कृष्ण इस प्रश्न—का उत्तर देते हुए श्रद्धा के तीन प्रकारों का वर्णन करते हैं। वे बताते हैं कि मनुष्य की श्रद्धा उसके स्वभाव के अनुसार होती है। जो मनुष्य जिस प्रकार का होता है, उसकी श्रद्धा भी उसी प्रकार की होती है। श्रद्धा केवल धार्मिक विश्वास नहीं है, बल्कि यह मनुष्य के संपूर्ण व्यक्तित्व का प्रतिबिंब है। श्रद्धा मनुष्य के आचार—विचार, खान—पान, रहन—सहन और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रकट होती है। इसलिए श्रद्धा को समझना मनुष्य के संपूर्ण जीवन को समझना है।

श्रद्धा शब्द का अर्थ है विश्वास, आस्था और निष्ठा। यह मनुष्य की आंतरिक प्रवृत्ति है जो उसे किसी विशेष दिशा में प्रेरित करती है। श्रद्धा के बिना कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता। चाहे वह धार्मिक कार्य हो या सांसारिक कार्य, सभी में श्रद्धा की आवश्यकता होती है। लेकिन श्रद्धा की गुणवत्ता मनुष्य के स्वभाव पर निर्भर करती है। सात्त्विक मनुष्य की श्रद्धा सात्त्विक होती है, राजसिक मनुष्य की श्रद्धा राजसिक होती है और तामसिक मनुष्य की श्रद्धा तामसिक होती है। यह समझना अत्यंत आवश्यक है कि हमारी श्रद्धा किस प्रकार की है, क्योंकि इसी पर हमारा आध्यात्मिक विकास निर्भर करता है।

12.1.2 त्रिविध श्रद्धा का स्वरूप : भगवान श्री कृष्ण बताते हैं कि शरीरधारियों की श्रद्धा स्वभाव से उत्पन्न होने के कारण तीन प्रकार की होती है — सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। यह विभाजन त्रिगुणों के आधार पर किया गया है। मनुष्य के भीतर सत्व, रजस और तमस ये तीन गुण सदैव उपस्थित रहते हैं। जो गुण प्रबल होता है, उसी के अनुसार मनुष्य की श्रद्धा का स्वरूप निर्धारित होता है। यह श्रद्धा केवल पूजा—पाठ तक सीमित नहीं है, बल्कि यह मनुष्य के संपूर्ण जीवन में व्याप्त रहती है। उसके आहार—विहार, देवता की उपासना, यज्ञ, तप और दान सभी में यह श्रद्धा प्रकट होती है।

सात्त्विक श्रद्धा वाले मनुष्य देवताओं की उपासना करते हैं। उनकी श्रद्धा शुद्ध, निर्मल और पवित्र होती है। वे सात्त्विक आहार ग्रहण करते हैं और सात्त्विक कर्म करते हैं। उनका जीवन शांत, संतुलित और धर्मयुक्त होता है। राजसिक श्रद्धा वाले मनुष्य यक्ष और राक्षसों की उपासना करते हैं। उनकी श्रद्धा में कामना, इच्छा और अहंकार का मिश्रण होता है। वे राजसिक आहार पसंद करते हैं और राजसिक कर्म करते हैं। उनका जीवन चंचल, महत्वाकांक्षी और संघर्षपूर्ण होता है। तामसिक श्रद्धा वाले मनुष्य भूत—प्रेतों की पूजा करते हैं। उनकी श्रद्धा अंधविश्वास और अज्ञान से युक्त होती है। वे तामसिक आहार लेते हैं और तामसिक कर्म करते हैं। उनका जीवन आलस्य, प्रमाद और अधर्म से भरा होता है।

यह समझना आवश्यक है कि ये तीनों प्रकार की श्रद्धाएँ केवल सैद्धांतिक विभाजन नहीं हैं, बल्कि ये व्यावहारिक जीवन में प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देती हैं। हम अपने आस—पास ऐसे लोगों को देख सकते हैं जिनकी श्रद्धा इन तीन श्रेणियों में से किसी एक में आती है। लेकिन यह भी सत्य है कि किसी भी मनुष्य में तीनों गुण कुछ न कुछ मात्रा में उपस्थित रहते हैं। जो गुण अधिक प्रबल होता है, वही मनुष्य के स्वभाव और श्रद्धा को निर्धारित करता है। आध्यात्मिक साधना का उद्देश्य तमस और रजस को कम करके सत्व गुण को बढ़ाना है,

और अंततः तीनों गुणों से परे जाना है।

12.1.3 सात्त्विक श्रद्धा : सात्त्विक श्रद्धा वाले मनुष्य देवताओं की उपासना करते हैं। देवताओं से तातपर्य दिव्य गुणों से संपन्न उच्च आध्यात्मिक शक्तियों से है। सात्त्विक व्यक्ति का मन शुद्ध, शांत और स्थिर होता है। उनकी श्रद्धा में कोई स्वार्थ नहीं होता। वे केवल आत्मशुद्धि और आध्यात्मिक उन्नति के लिए उपासना करते हैं। उनकी पूजा सरल, शुद्ध और नियमित होती है। वे शास्त्र विधि का पालन करते हैं और धर्म के मार्ग पर चलते हैं। उनका जीवन सत्य, अहिंसा, दया और करुणा से परिपूर्ण होता है।

सात्त्विक श्रद्धा वाले व्यक्ति का आहार भी सात्त्विक होता है। वे ऐसे भोजन को पसंद करते हैं जो आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाला हो। ऐसा भोजन रसयुक्त, स्निग्ध, स्थिर रहने वाला और स्वभाव से ही मन को प्रिय होता है। वे ताजा, शुद्ध और पौष्टिक भोजन ग्रहण करते हैं। उनका भोजन सादा लेकिन पोषक होता है। वे अति मसालेदार, तीखे, खट्टे या बासी भोजन से दूर रहते हैं। उनकी खान-पान की आदतें स्वास्थ्यप्रद और संयमित होती हैं।

सात्त्विक श्रद्धा वाले व्यक्ति का संपूर्ण जीवन संतुलित और नियमित होता है। वे प्रातःकाल उठते हैं, योग और ध्यान करते हैं, अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं और समय पर भोजन और विश्राम करते हैं। उनके संबंध मधुर और सौहार्दपूर्ण होते हैं। वे दूसरों की सहायता करते हैं लेकिन किसी प्रकार का प्रदर्शन नहीं करते। उनकी वाणी मधुर, सत्य और हितकारी होती है। वे क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार से दूर रहते हैं। उनका जीवन आत्मसंयम और आत्मानुशासन का उदाहरण होता है। सात्त्विक श्रद्धा मनुष्य को मोक्ष के मार्ग पर ले जाती है। श्रद्धा तीन प्रकार की होती है – सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। सात्त्विक श्रद्धा वाले मनुष्य देवताओं की उपासना करते हैं और उनका जीवन शुद्ध, संयमित और धर्मयुक्त होता है।

बोध प्रश्न-1

प्रश्न—श्रद्धा के कितने प्रकार हैं? सात्त्विक श्रद्धा वाले मनुष्य किसकी उपासना करते हैं?

12.1.4 राजसिक श्रद्धा : राजसिक श्रद्धा वाले मनुष्य यक्ष और राक्षसों की उपासना करते हैं। यक्ष और राक्षस से तातपर्य उन शक्तियों से है जो सांसारिक सुख, सम्पत्ति और शक्ति प्रदान करती हैं। राजसिक व्यक्ति की श्रद्धा में कामना और इच्छा प्रमुख होती है। वे उपासना इसलिए करते हैं कि उन्हें धन, यश, सत्ता और सम्मान मिले। उनकी पूजा में दिखावा और आडंबर होता है। वे बड़े-बड़े अनुष्ठान करवाते हैं, दान देते हैं लेकिन इन सबके पीछे किसी न किसी फल की इच्छा छिपी होती है। उनका उद्देश्य आत्मशुद्धि नहीं बल्कि सांसारिक उपलब्धि होती है।

राजसिक श्रद्धा वाले व्यक्ति का आहार भी राजसिक होता है। वे कड़वे, खट्टे, नमकीन, अत्यधिक गर्म, तीखे, रूखे और दाहकारक ऐसे भोजन को पसंद करते हैं जो दुःख, चिंता और रोग को उत्पन्न करने वाले होते हैं। उन्हें तीखे मसालों से बना हुआ, तला हुआ और अधिक स्वाद वाला भोजन पसंद आता है। वे अपने स्वाद की तृप्ति के लिए भोजन करते हैं, न कि स्वास्थ्य के लिए। उनकी खान-पान की आदतें अनियमित होती हैं। कभी अधिक खा लेते हैं, कभी भूखे रह जाते हैं। उनका भोजन उनके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है।

राजसिक श्रद्धा वाले व्यक्ति का जीवन महत्वाकांक्षा और प्रतिस्पर्धा से भरा होता है। वे सदैव आगे बढ़ने, अधिक प्राप्त करने और दूसरों से श्रेष्ठ होने की कोशिश में लगे रहते हैं। उनके मन में बेचौनी और असंतोष रहता है। वे कभी संतुष्ट नहीं होते। एक लक्ष्य प्राप्त हो जाने पर तुरंत दूसरा लक्ष्य बना लेते हैं। उनका जीवन तनावपूर्ण होता है। वे अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कठोर परिश्रम करते हैं लेकिन उन्हें शांति नहीं मिलती। उनके संबंधों में स्वार्थ का तत्व होता है। वे तभी तक किसी से संबंध रखते हैं जब तक उससे कोई लाभ मिलता है। राजसिक श्रद्धा मनुष्य को सांसारिक उन्नति तो दे सकती है लेकिन आध्यात्मिक शांति नहीं दे

सकती।

12.1.5 तामसिक श्रद्धा : तामसिक श्रद्धा वाले मनुष्य भूत-प्रेत और पिशाचों की पूजा करते हैं। यह सबसे निम्न स्तर की श्रद्धा है जो अज्ञान और अंधविश्वास से उत्पन्न होती है। तामसिक व्यक्ति की बुद्धि मलिन होती है और वे सत्य-असत्य का विवेक नहीं कर पाते। वे तंत्र-मंत्र, जादू-टोना और भूत-प्रेत की बातों में विश्वास करते हैं। उनकी पूजा पद्धति अजीब और अस्वाभाविक होती है। वे शास्त्र विधि को नहीं मानते और अपनी मनमानी करते हैं। उनकी उपासना में हिंसा, पाशविकता और क्रूरता होती है। वे कष्ट देने वाले कर्म करते हैं और अपने शरीर को भी कष्ट देते हैं।

तामसिक श्रद्धा वाले व्यक्ति का आहार भी तामसिक होता है। वे ऐसे भोजन को पसंद करते हैं जो अधपका, रसहीन, दुर्गंधयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है। ऐसा भोजन जो पकाए हुए तीन घंटे से अधिक समय बीत जाने पर बचा हुआ है, वे वैसे अपवित्र भोजन को भी खाते हैं। वे सड़ा-गला, दुर्गंधयुक्त और अशुद्ध भोजन भी ग्रहण कर लेते हैं। उनकी खान-पान की आदतें अत्यंत गंदी और अस्वास्थ्यकर होती हैं। वे समय का कोई ध्यान नहीं रखते। भूखे रहना या अत्यधिक खा लेना दोनों ही उनके स्वभाव में होता है।

तामसिक श्रद्धा वाले व्यक्ति का जीवन आलस्य, प्रमाद और निद्रा से भरा होता है। वे अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करते। उन्हें काम करने में आलस्य आता है। वे अधिकतर समय सोते रहते हैं या व्यर्थ के कामों में लगे रहते हैं। उनके विचार नकारात्मक होते हैं। वे सदैव दूसरों की बुराई करते हैं और दूसरों को कष्ट पहुंचाने में आनंद लेते हैं। उनका व्यवहार क्रूर और निर्दयी होता है। वे झूठ बोलते हैं, धोखा देते हैं और अनैतिक कार्य करते हैं। उनका जीवन अंधकारमय होता है और वे निरंतर पतन की ओर बढ़ते रहते हैं। तामसिक श्रद्धा मनुष्य को नरक के मार्ग पर ले जाती है।

12.1.6 आहार के तीन प्रकार : भगवान श्री कृष्ण बताते हैं कि जैसी श्रद्धा होती है, वैसा ही आहार मनुष्य को प्रिय होता है। आहार केवल शरीर का पोषण नहीं करता, बल्कि यह मन और बुद्धि को भी प्रभावित करता है। सात्त्विक आहार से मन शुद्ध होता है, राजसिक आहार से मन चंचल होता है और तामसिक आहार से मन मलिन होता है। इसलिए आहार का चयन अत्यंत सावधानी से करना चाहिए। जो व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति चाहता है, उसे सात्त्विक आहार ग्रहण करना चाहिए।

सात्त्विक आहार वह है जो आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाला हो। ऐसा भोजन रसयुक्त, स्निग्ध, स्थिर रहने वाला और स्वभाव से ही मन को प्रिय होता है। ताजे फल, सब्जियां, अनाज, दूध, घी और शहद सात्त्विक आहार के उदाहरण हैं। ऐसा भोजन पचने में सरल होता है और शरीर को हल्का रखता है। यह मन को शांत और एकाग्र बनाता है। सात्त्विक आहार करने वाला व्यक्ति स्वस्थ, प्रसन्न और ऊर्जावान रहता है।

राजसिक आहार कड़वे, खट्टे, नमकीन, अत्यधिक गर्म, तीखे, रूखे और दाहकारक होते हैं। ऐसे भोजन दुःख, चिंता और रोग को उत्पन्न करते हैं। अत्यधिक मिर्च-मसाले वाला भोजन, तला हुआ भोजन और अत्यधिक नमक या चीनी वाला भोजन राजसिक आहार में आता है। ऐसा भोजन शरीर में गर्मी उत्पन्न करता है और मन को चंचल बनाता है। यह रक्तचाप, हृदय रोग और अन्य व्याधियों को जन्म देता है। राजसिक आहार करने वाला व्यक्ति बेचौन, उत्तेजित और असंतुष्ट रहता है।

तामसिक आहार अधपका, रसहीन, दुर्गंधयुक्त, बासी और उच्छिष्ट होता है। ऐसा भोजन जो पकाए हुए तीन घंटे से अधिक समय बीत जाने पर बचा हुआ है, या जो सड़ा-गला है, वह तामसिक आहार में आता है। मांस, मछली, अंडे और मदिरा भी तामसिक आहार माने जाते हैं। ऐसा भोजन शरीर को भारी बना देता है और मन को मलिन करता है। यह आलस्य, निद्रा और प्रमाद को बढ़ाता है। तामसिक आहार करने वाला व्यक्ति

सुस्त, निरुत्साहित और रोगी रहता है। इसलिए साधक को तामसिक आहार से सदैव बचना चाहिए। राजसिक आहार कड़वा, खट्टा, नमकीन, अत्यधिक गर्म और तीखा होता है जो दुःख और रोग उत्पन्न करता है। यह मन को चंचल बनाता है। तामसिक आहार अधपका, बासी, दुर्गन्धयुक्त और उच्छिष्ट होता है जो आलस्य और प्रमाद बढ़ाता है। राजसिक आहार से मनुष्य बेचौन रहता है जबकि तामसिक आहार से सुस्त और निरुत्साहित रहता है।

बोध प्रश्न-2

प्रश्न-राजसिक और तामसिक आहार में क्या अंतर है? इन दोनों प्रकार के आहार का मनुष्य पर क्या प्रभाव पड़ता है?

12.1.7 यज्ञ के तीन प्रकार : यज्ञ का अर्थ केवल हवन या अग्निहोत्र नहीं है, बल्कि यह किसी भी देवकार्य या पवित्र कर्म को कहते हैं। भगवान श्री कृष्ण बताते हैं कि यज्ञ भी तीन प्रकार के होते हैं – सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। जिस भाव से यज्ञ किया जाता है, उसी के अनुसार उसका फल मिलता है। यज्ञ करने का उद्देश्य भी महत्वपूर्ण है। यदि निष्काम भाव से यज्ञ किया जाए तो वह सात्त्विक होता है, यदि फल की इच्छा से किया जाए तो राजसिक होता है और यदि विधि-विधान के बिना किया जाए तो तामसिक होता है।

सात्त्विक यज्ञ वह है जो शास्त्र विधि के अनुसार, बिना फल की इच्छा के, केवल कर्तव्य समझकर किया जाता है। ऐसे यज्ञ में मन की एकाग्रता होती है और भाव की पवित्रता होती है। यज्ञकर्ता किसी प्रकार की प्रशंसा या पुरस्कार की इच्छा नहीं करता। वह केवल परमात्मा की प्रसन्नता के लिए यज्ञ करता है। ऐसा यज्ञ मन को शुद्ध करता है और आत्मा को उन्नत बनाता है। सात्त्विक यज्ञ में सादगी होती है लेकिन भाव की गहराई होती है।

राजसिक यज्ञ वह है जो दिखावे के लिए और फल की इच्छा से किया जाता है। यज्ञकर्ता चाहता है कि लोग उसकी प्रशंसा करें और उसे धार्मिक व्यक्ति समझें। वह यज्ञ इसलिए करता है कि उसे स्वर्ग की प्राप्ति हो या सांसारिक सुख मिले। ऐसे यज्ञ में आडंबर होता है। बड़े-बड़े पंडाल लगाए जाते हैं, हजारों लोगों को भोजन कराया जाता है और समाचार पत्रों में विज्ञापन दिए जाते हैं। यज्ञकर्ता का ध्यान परमात्मा पर नहीं बल्कि लोगों की प्रशंसा पर होता है। ऐसा यज्ञ अहंकार को बढ़ाता है और वास्तविक आध्यात्मिक लाभ नहीं देता।

तामसिक यज्ञ वह है जो बिना शास्त्र विधि के, बिना मंत्रों के, बिना दान के, बिना श्रद्धा के और बिना अन्नदान के किया जाता है। ऐसे यज्ञ में अज्ञान और अंधविश्वास होता है। कभी-कभी ऐसे यज्ञों में पशुओं की बलि दी जाती है या अनुचित कर्म किए जाते हैं। यज्ञकर्ता न तो शास्त्रों को जानता है और न ही उसमें सच्ची श्रद्धा होती है। वह केवल परंपरा के नाम पर या डर से यज्ञ करता है। ऐसे यज्ञ से कोई लाभ नहीं होता बल्कि पाप ही बढ़ता है। इसलिए साधक को सदैव सात्त्विक यज्ञ करना चाहिए और राजसिक तथा तामसिक यज्ञों से बचना चाहिए।

12.1.8 तप के तीन प्रकार : तप का अर्थ है कष्ट सहन करना या संयम का पालन करना। लेकिन तप भी तीन प्रकार का होता है – सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। भगवान श्री कृष्ण बताते हैं कि तप तीन प्रकार का होता है – शारीरिक तप, वाचिक तप और मानसिक तप। शारीरिक तप में देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन, शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा आदि आते हैं। वाचिक तप में सत्य बोलना, प्रिय और हितकारी वचन बोलना, वेदों का अध्ययन करना आदि आते हैं। मानसिक तप में मन की प्रसन्नता, गंभीरता, मौन, आत्मसंयम और भावों की शुद्धि आदि आते हैं।

सात्त्विक तप वह है जो परमात्मा की प्राप्ति के लिए, बिना फल की इच्छा के, श्रद्धापूर्वक किया जाता

है। ऐसा तप शरीर, मन और वाणी तीनों की शुद्धि करता है। सात्त्विक तपस्वी नियमित रूप से अपने संयमों का पालन करता है। वह प्रातःकाल उठता है, स्नान करता है, ध्यान करता है, सत्य बोलता है, मन को शुद्ध रखता है और इंद्रियों को वश में रखता है। उसका तप स्वाभाविक होता है, जबरदस्ती का नहीं। वह तप को बोझ नहीं समझता बल्कि आनंद समझता है। ऐसा तप मनुष्य को आत्मसाक्षात्कार की ओर ले जाता है।

राजसिक तप वह है जो सम्मान, आदर और पूजा पाने के लिए या दिखावे के लिए किया जाता है। ऐसा तप अस्थिर और अनिश्चित होता है। तपस्वी चाहता है कि लोग उसे महान तपस्वी समझें और उसकी प्रशंसा करें। वह कठोर व्रत रखता है, लंबे समय तक भूखा रहता है या असहज आसनों में बैठता है, लेकिन इन सबके पीछे अहंकार और प्रदर्शन की भावना होती है। जब उसे अपेक्षित सम्मान नहीं मिलता तो वह तप छोड़ देता है। ऐसा तप वास्तविक आध्यात्मिक उन्नति नहीं कराता बल्कि अहंकार को बढ़ाता है।

तामसिक तप वह है जो मूढ़तापूर्वक, अपने शरीर को कष्ट देने के लिए या दूसरों को कष्ट देने के उद्देश्य से किया जाता है। कुछ लोग अपने शरीर को अत्यधिक कष्ट देते हैं, जैसे लंबे समय तक एक पैर पर खड़े रहना, शरीर में काँटे चुभाना, आग में बैठना आदि। यह सब मूढ़तापूर्ण तप है। कुछ लोग तप इसलिए करते हैं कि वे किसी को श्राप दे सकें या किसी का अनिष्ट कर सकें। यह तामसिक तप है। ऐसे तप से आत्मा की उन्नति नहीं होती बल्कि पतन होता है। शरीर परमात्मा का मंदिर है, इसे कष्ट देना पाप है। सच्चा तप वह है जो शरीर, मन और आत्मा तीनों को शुद्ध और स्वस्थ बनाए।

12.1.9 दान के तीन प्रकार : दान धर्म का महत्वपूर्ण अंग है। लेकिन दान भी तीन प्रकार का होता है – सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। जिस भाव से दान दिया जाता है, उसी के अनुसार उसका फल मिलता है। भगवान श्री कृष्ण बताते हैं कि देश, काल और पात्र को देखकर, बिना प्रतिदान की इच्छा के जो दान दिया जाता है, वह सात्त्विक दान है। जो दान प्रतिकार के लिए या फल की इच्छा से दिया जाता है, वह राजसिक दान है। और जो दान बिना सम्मान के, तिरस्कारपूर्वक, अयोग्य स्थान, काल और पात्र में दिया जाता है, वह तामसिक दान है।

सात्त्विक दान वह है जो योग्य पात्र को, उचित समय पर, उचित स्थान पर, बिना किसी अपेक्षा के दिया जाता है। दाता यह नहीं सोचता कि उसे बदले में क्या मिलेगा। वह केवल यह सोचता है कि पात्र योग्य है और उसे सहायता की आवश्यकता है। ऐसा दान देते समय दाता के मन में प्रसन्नता और संतोष होता है। वह दान को कर्तव्य समझता है। सात्त्विक दान ज्ञानी, संत, ब्राह्मण, गरीब और असहाय लोगों को दिया जाता है। यह दान चुपचाप दिया जाता है, ढिंढोरा पीटकर नहीं। ऐसा दान देने वाले को परमात्मा की कृपा प्राप्त होती है।

राजसिक दान वह है जो किसी बदले की आशा से या मन मारकर दिया जाता है। दाता सोचता है कि यदि मैं इसे दान दूंगा तो वह मेरा काम करेगा या मेरी प्रशंसा करेगा। कुछ लोग दान इसलिए देते हैं कि उनका नाम समाचार पत्रों में छपे या उनकी मूर्ति लगाई जाए। यह सब राजसिक दान है। ऐसे दान में अहंकार होता है। दाता चाहता है कि लेने वाला उसका आभारी रहे और उसकी प्रशंसा करता रहे। ऐसा दान देने में दाता को कष्ट होता है क्योंकि वह मन से नहीं दे रहा होता। राजसिक दान से अस्थायी सम्मान तो मिल सकता है लेकिन आध्यात्मिक लाभ नहीं मिलता।

तामसिक दान वह है जो अयोग्य पात्र को, अयोग्य समय पर, अयोग्य स्थान पर, तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है। कुछ लोग भिखारियों को दान इसलिए देते हैं कि वे पीछा छोड़ दें। वे दान फेंककर देते हैं या अपमानजनक तरीके से देते हैं। यह तामसिक दान है। कुछ लोग शराब पीने वालों या जुआरियों को पैसे देते हैं। यह भी तामसिक दान है। कुछ लोग दान ऐसे समय पर देते हैं जब वह बेकार हो। जैसे किसी भूखे को

खाना न देकर पैसे दे देना। ऐसे दान से न तो देने वाले को पुण्य मिलता है और न लेने वाले को वास्तविक लाभ होता है। इसलिए दान सोच-समझकर, उचित पात्र को, उचित समय पर और उचित भाव से देना चाहिए। सात्त्विक दान योग्य पात्र को, उचित समय और स्थान पर, बिना किसी अपेक्षा के दिया जाता है। इसमें कर्तव्य भाव होता है। राजसिक दान बदले की आशा से या प्रशंसा पाने के लिए दिया जाता है। सात्त्विक दान में निःस्वार्थता होती है जबकि राजसिक दान में स्वार्थ और अहंकार होता है।

बोध प्रश्न-3

प्रश्न-सात्त्विक दान की क्या विशेषताएँ हैं? सात्त्विक दान और राजसिक दान में मुख्य अंतर स्पष्ट कीजिए।

12.1.10 ॐ तत् सत् का महत्व : भगवान श्री कृष्ण अध्याय के अंत में ॐ तत् सत् इन तीन शब्दों का महत्व बताते हैं। ये तीन शब्द परब्रह्म परमात्मा के सूचक हैं। सृष्टि के आरंभ में ब्रह्म की उपासना करने वाले ब्राह्मण, वेद और यज्ञ इन तीन नामों से ही उत्पन्न हुए थे। ॐ, तत् और सत् — ये तीन शब्द ब्रह्म के नाम हैं। इन शब्दों का उच्चारण करते हुए किया गया यज्ञ, तप और दान सफल होता है। इन शब्दों के बिना किया गया कोई भी धार्मिक कार्य असत् कहलाता है, अर्थात् वह व्यर्थ चला जाता है।

ॐ शब्द परमात्मा का प्रतीक है। यह सबसे पवित्र और शक्तिशाली मंत्र है। किसी भी यज्ञ, दान या तप को आरंभ करने से पहले ॐ का उच्चारण करना चाहिए। ॐ का उच्चारण कर्म को पवित्र बनाता है और उसे परमात्मा को समर्पित करता है। जब हम ॐ कहकर कोई कार्य करते हैं तो हम यह घोषणा करते हैं कि यह कार्य हम अपने लिए नहीं बल्कि परमात्मा के लिए कर रहे हैं। इससे कर्म निष्काम हो जाता है और उसका फल भी शुद्ध होता है।

तत् शब्द का अर्थ है श्वहश्। यह परमात्मा को इंगित करता है जो नाम और रूप से परे है। जब हम तत् शब्द का उच्चारण करते हैं तो हम यह स्वीकार करते हैं कि सब कुछ उसी परमात्मा का है। हम केवल निमित्त मात्र हैं। फल की इच्छा रखने वाले कर्म को करते समय तत् शब्द बोलकर उसे निष्काम बना देना चाहिए। सत् शब्द का अर्थ है सत्य, अच्छाई, शुभ। यह शब्द कर्म की गुणवत्ता को दर्शाता है। जब हम सत् कहकर कोई कार्य करते हैं तो हम संकल्प लेते हैं कि यह कार्य सत्य, धर्म और शुभ के अनुसार होगा।

इन तीनों शब्दों को मिलाकर बोलने से हमारे सभी कर्म पवित्र, निष्काम और परमात्मा को समर्पित हो जाते हैं। प्रत्येक यज्ञ, दान और तप के अंत में इन शब्दों का उच्चारण करना चाहिए। इससे कर्म संपूर्ण होता है और उसका वास्तविक फल प्राप्त होता है। जो व्यक्ति श्रद्धारहित होकर इन शब्दों के बिना यज्ञ, दान और तप करता है, उसका कर्म असत् कहलाता है। ऐसे कर्म का न तो इस लोक में फल मिलता है और न परलोक में। इसलिए प्रत्येक साधक को चाहिए कि वह अपने सभी धार्मिक कार्यों में ॐ तत् सत् का उच्चारण अवश्य करे।

12.2 मोक्ष संन्यास योग

12.2.1 संन्यास और त्याग का अर्थ : भगवद्गीता का अठारहवाँ और अंतिम अध्याय सबसे बड़ा और सबसे महत्वपूर्ण अध्याय है। इस अध्याय में भगवान श्री कृष्ण गीता की सभी शिक्षाओं का सार प्रस्तुत करते हैं। अर्जुन भगवान से संन्यास और त्याग के स्वरूप को अलग-अलग जानने की इच्छा व्यक्त करते हैं। यह प्रश्न-महत्वपूर्ण है क्योंकि संन्यास और त्याग दोनों शब्द प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, लेकिन इनमें सूक्ष्म अंतर है। भगवान श्री कृष्ण इस अंतर को स्पष्ट करते हैं।

भगवान बताते हैं कि कुछ विद्वानों के मतानुसार काम्य कर्मों का त्याग संन्यास है। काम्य कर्म वे कर्म हैं

जो किसी विशेष फल की प्राप्ति के लिए किए जाते हैं। जैसे पुत्र प्राप्ति के लिए यज्ञ करना या धन प्राप्ति के लिए व्रत रखना। ऐसे कर्मों का त्याग कर देना संन्यास है। दूसरे विद्वान कहते हैं कि सभी कर्मों को दोषयुक्त मानकर उनका त्याग कर देना संन्यास है। लेकिन भगवान श्री कृष्ण का मत अलग है। वे कहते हैं कि सभी कर्मों का त्याग करना उचित नहीं है। यज्ञ, दान और तप जैसे शुभ कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए।

त्याग के विषय में भी भगवान स्पष्टीकरण देते हैं। कुछ विद्वान कहते हैं कि सभी कर्म दोषयुक्त हैं इसलिए उनका त्याग कर देना चाहिए। लेकिन भगवान का मत है कि कर्म का त्याग नहीं बल्कि कर्मफल का त्याग करना चाहिए। यज्ञ, दान और तप — ये तीन कर्म अवश्य करने चाहिए क्योंकि ये मन को शुद्ध करते हैं। लेकिन इन कर्मों को भी आसक्ति और फल की इच्छा को त्यागकर, केवल कर्तव्य समझकर करना चाहिए। यही श्रेष्ठ त्याग है।

इस प्रकार संन्यास और त्याग में अंतर स्पष्ट हो जाता है। संन्यास का अर्थ है काम्य कर्मों का त्याग, और त्याग का अर्थ है सभी कर्मों में आसक्ति और फल की इच्छा का त्याग। एक सच्चा संन्यासी वह नहीं है जो सब कुछ छोड़कर जंगल में चला जाए। सच्चा संन्यासी वह है जो संसार में रहते हुए भी अपने कर्तव्य कर्मों को निष्काम भाव से करे। यही गीता का मुख्य संदेश है — कर्म करो लेकिन फल की आसक्ति को त्याग दो।

12.2.2 त्याग के विभिन्न मत : भगवान श्री कृष्ण त्याग के विषय में विभिन्न मतों का वर्णन करते हैं। यह इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि त्याग के विषय में बहुत भ्रम है। कुछ लोग समझते हैं कि त्याग का अर्थ है सब कुछ छोड़ देना। कुछ लोग समझते हैं कि त्याग का अर्थ है कर्म न करना। लेकिन ये दोनों ही धारणाएँ गलत हैं। भगवान बताते हैं कि वास्तविक त्याग क्या है और झूठा त्याग क्या है।

कुछ पंडित लोग कहते हैं कि सब कर्म दोषयुक्त हैं इसलिए उन्हें त्याग देना चाहिए। उनका तर्क है कि कर्म करने से बंधन होता है, इसलिए कर्म न करना ही श्रेयस्कर है। लेकिन यह मत व्यावहारिक नहीं है। जब तक शरीर है, तब तक कर्म करना अनिवार्य है। भगवान गीता के तीसरे अध्याय में ही कह चुके हैं कि कोई भी मनुष्य एक क्षण भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता। प्रकृति के गुण सबको कर्म करने के लिए विवश कर देते हैं। इसलिए कर्मों का पूर्णतः त्याग संभव नहीं है।

दूसरे विद्वान कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप जैसे कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए। ये कर्म पुण्यदायक हैं और मन को शुद्ध करने वाले हैं। लेकिन इन कर्मों को भी आसक्ति रहित होकर, फल की इच्छा को त्यागकर करना चाहिए। यह मत भगवान को भी मान्य है। वे कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप ये तीनों कर्म अवश्य करने चाहिए क्योंकि ये बुद्धिमान पुरुषों को भी पवित्र करने वाले हैं। लेकिन इन कर्मों को भी आसक्ति और फल की इच्छा को त्यागकर करना चाहिए।

भगवान का निश्चित मत यह है कि नियत कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए। नियत कर्म वे हैं जो हमारा कर्तव्य हैं। जैसे गृहस्थ के लिए परिवार का पालन करना, राजा के लिए प्रजा की रक्षा करना, विद्यार्थी के लिए अध्ययन करना आदि। इन कर्मों को मोह के कारण छोड़ देना तामसिक त्याग है। कष्ट के भय से कर्तव्य कर्म को छोड़ देना राजसिक त्याग है। लेकिन कर्तव्य कर्म को केवल कर्तव्य समझकर, फल की इच्छा को त्यागकर करना सात्त्विक त्याग है। यही श्रेष्ठ त्याग है जिसका अनुसरण प्रत्येक साधक को करना चाहिए।

12.2.3 त्याग के तीन प्रकार : भगवान श्री कृष्ण त्याग के भी तीन प्रकार बताते हैं — सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। जैसे श्रद्धा, आहार, यज्ञ, तप और दान तीन प्रकार के होते हैं, वैसे ही त्याग भी तीन प्रकार का होता है। त्याग की गुणवत्ता मनुष्य के स्वभाव पर निर्भर करती है। सात्त्विक व्यक्ति सात्त्विक त्याग करता है, राजसिक व्यक्ति राजसिक त्याग करता है और तामसिक व्यक्ति तामसिक त्याग करता है।

तामसिक त्याग सबसे निम्न स्तर का त्याग है। जब कोई व्यक्ति मोह के कारण अपने कर्तव्य कर्म को

छोड़ देता है, तो वह तामसिक त्याग है। उदाहरण के लिए, कोई गृहस्थ यह सोचकर कि संसार में सब दुःख ही है, अपने परिवार को छोड़कर चला जाए, तो यह तामसिक त्याग है। कोई विद्यार्थी अध्ययन को कठिन समझकर छोड़ दे, तो यह तामसिक त्याग है। ऐसा त्याग भ्रम और अज्ञान से उत्पन्न होता है। यह त्याग नहीं बल्कि कर्तव्य से पलायन है। ऐसे त्याग से न तो इस लोक में सुख मिलता है और न परलोक में।

राजसिक त्याग वह है जब कोई व्यक्ति दुःख के भय से या शारीरिक कष्ट की आशंका से अपने कर्तव्य कर्म को त्याग देता है। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति यह सोचकर कि यह काम बहुत कठिन है और इसमें बहुत परिश्रम करना पड़ेगा, उसे छोड़ दे, तो यह राजसिक त्याग है। कोई व्यक्ति लोगों की निंदा के भय से अपने कर्तव्य को छोड़ दे, तो यह भी राजसिक त्याग है। ऐसा त्याग कायरता और भय से उत्पन्न होता है। यह वास्तविक त्याग नहीं है और इससे त्याग का फल भी प्राप्त नहीं होता।

सात्त्विक त्याग श्रेष्ठ त्याग है। जब कोई व्यक्ति अपने कर्तव्य कर्म को केवल कर्तव्य समझकर, बिना फल की इच्छा के, बिना आसक्ति के करता है और कर्मफल का त्याग कर देता है, तो यह सात्त्विक त्याग है। ऐसा व्यक्ति कर्म करता है लेकिन उसके फल के विषय में चिंता नहीं करता। सफलता-असफलता, लाभ-हानि, प्रशंसा-निंदा में समान रहता है। वह केवल यह देखता है कि यह मेरा कर्तव्य है या नहीं। यदि कर्तव्य है तो उसे पूरी लगन से करता है और फल को परमात्मा पर छोड़ देता है। यही श्रेष्ठ त्याग है और यही गीता का मूल संदेश है।

12.2.4 कर्म के पाँच कारण : भगवान श्री कृष्ण सांख्य शास्त्र में बताए गए कर्म के पाँच कारणों का वर्णन करते हैं। ये पाँच कारण हैं – अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव। ये पाँचों कारण मिलकर किसी भी कर्म को संपन्न करते हैं। इनमें से यदि कोई एक भी कारण न हो तो कर्म संपन्न नहीं हो सकता। इन पाँच कारणों को समझना महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे हमें यह समझ आता है कि कर्म केवल हमारे द्वारा नहीं होता, बल्कि इसमें अनेक कारणों का योगदान होता है।

अधिष्ठान का अर्थ है शरीर। शरीर कर्म का आधार है। बिना शरीर के कोई कर्म संभव नहीं है। शरीर ही वह स्थान है जहाँ सभी इंद्रियाँ, मन और बुद्धि निवास करते हैं। कर्ता का अर्थ है जीवात्मा जो अहंकार से युक्त होकर अपने आपको कर्ता मानता है। वास्तव में आत्मा कर्ता नहीं है, लेकिन अहंकार के कारण वह अपने को कर्ता मान लेता है। करण का अर्थ है साधन, अर्थात् इंद्रियाँ। कर्म करने के लिए आँख, कान, हाथ, पैर आदि इंद्रियों की आवश्यकता होती है।

चेष्टा का अर्थ है प्रयत्न। कर्म करने के लिए प्रयत्न की आवश्यकता होती है। बिना प्रयत्न के कोई कर्म संपन्न नहीं हो सकता। यह प्रयत्न शारीरिक भी हो सकता है और मानसिक भी। दैव का अर्थ है भाग्य या दैवी शक्ति। कर्म का फल केवल हमारे प्रयत्न पर निर्भर नहीं करता। उसमें दैव का भी योगदान होता है। कभी-कभी बहुत प्रयत्न करने पर भी सफलता नहीं मिलती और कभी थोड़े प्रयत्न से ही बड़ी सफलता मिल जाती है। यह दैव का ही कार्य है।

इन पाँच कारणों को समझने से हमें यह ज्ञात होता है कि कर्म का फल केवल हमारे हाथ में नहीं है। हम केवल प्रयत्न कर सकते हैं, फल देना परमात्मा के हाथ में है। इसलिए हमें अभिमान नहीं करना चाहिए कि मैंने यह कर्म किया। यह समझ आने पर अहंकार समाप्त हो जाता है और मनुष्य विनम्र बन जाता है। वह समझ जाता है कि वह केवल निमित्त मात्र है। यही ज्ञान मनुष्य को कर्मबंधन से मुक्त करता है। जो व्यक्ति इन पाँच कारणों को नहीं समझता और केवल अपने को कर्ता मानता है, वह मूढ़ बुद्धि है और कर्मबंधन में फंसा रहता है। कर्म के पाँच कारण हैं – अधिष्ठान (शरीर), कर्ता (जीवात्मा), करण (इंद्रियाँ), चेष्टा (प्रयत्न) और दैव (भाग्य)। इन्हें समझना इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे हमें यह ज्ञान होता है कि कर्म केवल हमारे द्वारा नहीं होता,

बल्कि अनेक कारणों का योगदान होता है। यह समझ अहंकार को समाप्त करती है और हमें विनम्र बनाती है।

बोध प्रश्न-4

प्रश्न— कर्म के पाँच कारण कौन-कौन से हैं? इन्हें समझना क्यों महत्वपूर्ण है?

12.2.5 कर्म के तीन प्रकार : भगवान श्री कृष्ण कर्म के भी तीन प्रकार बताते हैं — सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। जिस प्रकार श्रद्धा, आहार, दान और त्याग तीन प्रकार के होते हैं, उसी प्रकार कर्म भी तीन प्रकार के होते हैं। कर्म की गुणवत्ता कर्ता के स्वभाव और उसके करने के तरीके पर निर्भर करती है। एक ही कर्म सात्त्विक भी हो सकता है और तामसिक भी, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह किस भाव से और किस प्रकार किया जा रहा है।

सात्त्विक कर्म वह है जो शास्त्र विधि के अनुसार, बिना आसक्ति के, बिना राग-द्वेष के, बिना फल की इच्छा के किया जाता है। ऐसा कर्म नियत कर्म होता है, अर्थात् जो हमारा कर्तव्य है। सात्त्विक कर्म करने वाला व्यक्ति केवल यह देखता है कि यह मेरा कर्तव्य है या नहीं। यदि कर्तव्य है तो वह उसे पूरी श्रद्धा और लगन से करता है। वह यह नहीं सोचता कि इस कर्म से मुझे क्या लाभ होगा या लोग मेरे बारे में क्या कहेंगे। सात्त्विक कर्म करने से मन शुद्ध होता है और आत्मा की उन्नति होती है।

राजसिक कर्म वह है जो बहुत परिश्रम से, फल की इच्छा से और अहंकार से युक्त होकर किया जाता है। ऐसे कर्म में कर्ता का अहंकार प्रमुख होता है। वह सोचता है कि मैं यह कर रहा हूँ, मुझे इसका फल मिलना चाहिए। राजसिक कर्म में कामना होती है। कर्ता चाहता है कि इस कर्म से उसे धन, यश, सत्ता या सम्मान मिले। ऐसे कर्म में बहुत परिश्रम करना पड़ता है और उससे थकान होती है। राजसिक कर्म करने से मन में बेचौनी रहती है और शांति नहीं मिलती। हालांकि ऐसे कर्म से सांसारिक उन्नति हो सकती है लेकिन आध्यात्मिक उन्नति नहीं होती।

तामसिक कर्म वह है जो परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को बिना विचारे, केवल अज्ञान से प्रारंभ किया जाता है। ऐसा कर्म मूढ़ता से उत्पन्न होता है। कर्ता यह नहीं सोचता कि इस कर्म का क्या परिणाम होगा, इससे किसको हानि होगी, यह कर्म नैतिक है या अनैतिक, और मुझमें इस कर्म को करने की क्षमता है या नहीं। वह बिना सोचे-समझे कर्म प्रारंभ कर देता है। तामसिक कर्म अक्सर हिंसक होते हैं और दूसरों को कष्ट देने वाले होते हैं। ऐसे कर्म से पाप बढ़ता है और मनुष्य का पतन होता है। इसलिए साधक को तामसिक कर्मों से बचना चाहिए और सात्त्विक कर्म करने का प्रयत्न करना चाहिए।

12.2.6 कर्ता के तीन प्रकार : भगवान श्री कृष्ण केवल कर्म के ही नहीं बल्कि कर्ता के भी तीन प्रकार बताते हैं — सात्त्विक कर्ता, राजसिक कर्ता और तामसिक कर्ता। जैसा कर्ता होता है, वैसा ही कर्म भी होता है। कर्ता का स्वभाव कर्म की गुणवत्ता को निर्धारित करता है। इसलिए यदि हम अच्छे कर्म करना चाहते हैं तो पहले हमें अपने स्वभाव को सुधारना होगा।

सात्त्विक कर्ता वह है जो आसक्ति रहित, अहंकार से रहित, धैर्य और उत्साह से युक्त तथा सिद्धि-असिद्धि में निर्विकार रहने वाला होता है। ऐसा कर्ता अपने कर्म से मोह नहीं रखता। वह कर्म को अपना कर्तव्य समझकर करता है, न कि स्वार्थ के लिए। उसमें अहंकार नहीं होता। वह यह नहीं सोचता कि मैं महान कर्म कर रहा हूँ। उसमें धैर्य होता है। यदि कर्म में बाधा आती है तो वह निराश नहीं होता। उसमें उत्साह होता है। वह प्रसन्नतापूर्वक अपना कर्म करता है। और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वह सफलता और असफलता दोनों में समान रहता है। यदि सफलता मिलती है तो वह घमंड नहीं करता और यदि असफलता मिलती है तो वह दुःखी नहीं होता।

राजसिक कर्ता वह है जो फल की इच्छा से युक्त, लोभी, हिंसक स्वभाव वाला, अशुद्ध और हर्ष-शोक से लिप्त होता है। ऐसा कर्ता सदैव फल की चिंता करता है। वह कर्म इसलिए करता है कि उसे कुछ लाभ मिले। उसमें लोभ होता है। वह अधिक से अधिक प्राप्त करना चाहता है। उसका स्वभाव हिंसक होता है। यदि कोई उसके मार्ग में बाधा आए तो वह उसे हटाने के लिए कोई भी उपाय कर सकता है। उसका मन अशुद्ध होता है। उसमें काम, क्रोध, लोभ आदि विकार होते हैं। और वह हर्ष-शोक से लिप्त रहता है। सफलता मिलने पर बहुत प्रसन्न होता है और असफलता मिलने पर बहुत दुःखी होता है।

तामसिक कर्ता वह है जो अयुक्त, अशिक्षित, घमंडी, धूर्त, दूसरों की जीविका नष्ट करने वाला, शोक करने वाला, आलसी और दीर्घसूत्री होता है। अयुक्त का अर्थ है जो योग्य नहीं है। ऐसा कर्ता वह काम करने की कोशिश करता है जिसकी उसमें योग्यता नहीं है। वह अशिक्षित होता है, न केवल पुस्तकीय ज्ञान में बल्कि जीवन के व्यावहारिक ज्ञान में भी। उसमें घमंड होता है। वह अपने को बहुत बड़ा समझता है। वह धूर्त होता है, अर्थात् छल-कपट करता है। वह दूसरों की जीविका नष्ट करने में संकोच नहीं करता। वह सदैव शोक करता रहता है। उसमें आलस्य होता है और वह किसी भी काम को टालता रहता है। ऐसा कर्ता न तो अपना भला कर सकता है और न दूसरों का।

12.2.7 बुद्धि और धृति के तीन प्रकार : भगवान श्री कृष्ण बुद्धि और धृति के भी तीन-तीन प्रकार बताते हैं। बुद्धि वह शक्ति है जो निर्णय लेती है और धृति वह शक्ति है जो मन को धारण करती है। दोनों ही मनुष्य के जीवन में अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। सही बुद्धि और सही धृति के बिना कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता।

सात्त्विक बुद्धि वह है जो प्रवृत्ति और निवृत्ति को, कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय और अभय को, बंधन और मोक्ष को यथार्थ रूप से जानती है। ऐसी बुद्धि स्पष्ट होती है। वह सही और गलत का भेद कर सकती है। वह जानती है कि किस कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए और किससे निवृत्त होना चाहिए। वह जानती है कि हमारा कर्तव्य क्या है और क्या नहीं। वह भय और अभय को पहचानती है, अर्थात् जिससे डरना चाहिए और जिससे नहीं डरना चाहिए। और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वह बंधन और मोक्ष को जानती है, अर्थात् वह जानती है कि कौन से कर्म बंधन में डालते हैं और कौन से मोक्ष की ओर ले जाते हैं।

राजसिक बुद्धि वह है जो धर्म और अधर्म को, कर्तव्य और अकर्तव्य को यथार्थ रूप से नहीं जानती। ऐसी बुद्धि भ्रमित होती है। वह सही निर्णय नहीं ले पाती। कभी वह धर्म को अधर्म समझ लेती है और कभी अधर्म को धर्म। वह कर्तव्य और अकर्तव्य में भ्रमित रहती है। ऐसी बुद्धि वाला व्यक्ति जीवन में सही दिशा नहीं पा सकता। वह कभी इधर जाता है कभी उधर। उसका जीवन अस्थिर और भ्रमपूर्ण होता है।

तामसिक बुद्धि वह है जो अधर्म को धर्म मानती है और सभी वस्तुओं को विपरीत मान लेती है। यह सबसे खराब बुद्धि है। यह अंधकार से आच्छादित होती है। यह सत्य को असत्य और असत्य को सत्य मानती है। यह शुभ को अशुभ और अशुभ को शुभ मानती है। ऐसी बुद्धि वाला व्यक्ति सदैव गलत मार्ग पर चलता है। वह जो भी करता है, गलत करता है। ऐसी बुद्धि मनुष्य को नरक की ओर ले जाती है।

सात्त्विक धृति वह है जिससे मन, प्राण और इंद्रियों की क्रियाओं को धारण किया जाता है। ऐसी धृति अविचल होती है। वह योग के द्वारा प्राप्त होती है। सात्त्विक धृति वाला व्यक्ति अपने मन को नियंत्रित रख सकता है। उसकी इंद्रियाँ वश में रहती हैं। वह किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होता। राजसिक धृति वह है जिससे धर्म, अर्थ और काम को फल की इच्छा से धारण किया जाता है। ऐसी धृति अस्थिर होती है। यह केवल तभी तक रहती है जब तक फल की आशा रहती है। तामसिक धृति वह है जिससे मूढ़ बुद्धि वाला मनुष्य निद्रा, भय, चिंता और दुःख को नहीं छोड़ता। ऐसी धृति मनुष्य को अधोगति की ओर ले जाती है।

12.2.8 सुख के तीन प्रकार : भगवान श्री कृष्ण सुख के भी तीन प्रकार बताते हैं – सात्त्विक, राजसिक

और तामसिक। सभी मनुष्य सुख चाहते हैं लेकिन सुख की प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है। कुछ सुख स्थायी होते हैं और कुछ अस्थायी। कुछ सुख वास्तविक होते हैं और कुछ केवल भ्रम। सुख के इन तीन प्रकारों को समझना अत्यंत महत्वपूर्ण है।

सात्त्विक सुख वह है जो प्रारंभ में विष के समान प्रतीत होता है लेकिन परिणाम में अमृत के समान होता है। ऐसा सुख आत्मबुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए, योग और ध्यान का अभ्यास प्रारंभ में कठिन लगता है। शरीर में दर्द होता है, मन नहीं लगता, बार-बार विचार आते हैं। लेकिन धीरे-धीरे जब अभ्यास पक्का हो जाता है तो उससे अपार शांति और आनंद की अनुभूति होती है। यह सुख स्थायी होता है। यह बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करता। यह आत्मा का सुख है।

राजसिक सुख वह है जो विषय और इंद्रियों के संयोग से उत्पन्न होता है और जो प्रारंभ में अमृत के समान प्रतीत होता है लेकिन परिणाम में विष के समान होता है। यह सांसारिक सुख है। जैसे स्वादिष्ट भोजन खाने का सुख, सुंदर दृश्य देखने का सुख, मधुर संगीत सुनने का सुख आदि। ये सब राजसिक सुख हैं। प्रारंभ में ये बहुत आनंददायक लगते हैं लेकिन ये अस्थायी होते हैं। थोड़ी देर बाद इनका प्रभाव समाप्त हो जाता है और मन फिर से बेचौन हो जाता है। अधिक भोग करने से रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिए ये सुख अंत में दुःख का कारण बनते हैं।

तामसिक सुख वह है जो प्रारंभ में और परिणाम में दोनों ही समय आत्मा को मोहित करने वाला है और जो निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होता है। यह सबसे निम्न प्रकार का सुख है। जैसे अधिक सोने का सुख, मादक पदार्थों का सेवन करने से उत्पन्न सुख, आलस्य में पड़े रहने का सुख आदि। ये सुख केवल भ्रम हैं। इनसे वास्तविक आनंद की अनुभूति नहीं होती। ये मनुष्य को अंधकार में ले जाते हैं। इनसे बुद्धि नष्ट होती है और जीवन बर्बाद होता है। इसलिए साधक को तामसिक सुख से सदैव बचना चाहिए, राजसिक सुख में संयम रखना चाहिए और सात्त्विक सुख की ओर बढ़ना चाहिए।

सात्त्विक सुख प्रारंभ में कठिन लगता है लेकिन अंत में स्थायी आनंद देता है। जैसे योग और ध्यान का अभ्यास। राजसिक सुख प्रारंभ में सुखद लगता है लेकिन अंत में दुःख देता है। जैसे इंद्रिय भोग। सात्त्विक सुख आत्मा से उत्पन्न होता है और स्थायी होता है, जबकि राजसिक सुख बाहरी विषयों से उत्पन्न होता है और अस्थायी होता है।

बोध प्रश्न-5

प्रश्न-सात्त्विक सुख और राजसिक सुख में क्या अंतर है? उदाहरण सहित समझाइए।

12.2.9 स्वभाव और स्वधर्म : भगवान श्री कृष्ण बताते हैं कि प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव उसके जन्मजात गुणों के अनुसार होता है। इसी स्वभाव के आधार पर समाज में चार वर्णों की व्यवस्था बनाई गई है — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह विभाजन जन्म के आधार पर नहीं बल्कि गुण और कर्म के आधार पर है। प्रत्येक वर्ण के अपने विशेष कर्तव्य हैं जिन्हें स्वधर्म कहा जाता है। अपने स्वधर्म का पालन करना ही मनुष्य का परम कर्तव्य है।

ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म शम, दम, तप, शौच, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता हैं। शम का अर्थ है मन को वश में रखना, दम का अर्थ है इंद्रियों को वश में रखना, तप का अर्थ है संयम का पालन करना, शौच का अर्थ है बाहरी और भीतरी पवित्रता, क्षमा का अर्थ है दूसरों के अपराधों को क्षमा करना, आर्जव का अर्थ है सरलता और ईमानदारी, ज्ञान का अर्थ है शास्त्रों का ज्ञान, विज्ञान का अर्थ है अनुभव से प्राप्त ज्ञान और आस्तिकता का अर्थ है परमात्मा में विश्वास। ब्राह्मण का कार्य समाज को ज्ञान देना और धर्म का मार्ग दिखाना है।

क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध में न भागना, दान और स्वामी भाव हैं। क्षत्रिय का कार्य समाज की रक्षा करना है। उसमें वीरता और साहस होना चाहिए। उसमें तेज होना चाहिए, अर्थात् उसका व्यक्तित्व प्रभावशाली होना चाहिए। उसमें धैर्य होना चाहिए। युद्ध या संकट के समय उसे भागना नहीं चाहिए। उसे दानशील होना चाहिए। और उसमें नेतृत्व की क्षमता होनी चाहिए। वैश्य के स्वाभाविक कर्म कृषि, गोपालन और व्यापार हैं। वैश्य का कार्य अर्थोत्पादन करना है। वह समाज के लिए धन और संपत्ति का उत्पादन करता है। शूद्र का स्वाभाविक कर्म सेवा करना है। वह अन्य तीनों वर्णों की सेवा करता है।

भगवान कहते हैं कि अपने स्वभाव से उत्पन्न कर्म को करते हुए मनुष्य सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। अपने स्वधर्म में लगा हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता। इसलिए गुण-दोष से युक्त होने पर भी अपने स्वभाव से उत्पन्न कर्म को नहीं त्यागना चाहिए। जैसे अग्नि धुएं से युक्त होती है, वैसे ही सभी कर्मों में कुछ न कुछ दोष होता है। लेकिन इस कारण से अपने कर्तव्य को नहीं छोड़ना चाहिए। दूसरे का धर्म, अपने धर्म से श्रेष्ठ होने पर भी, भयावह है। अपने स्वधर्म में मरना भी कल्याणकारक है और दूसरे का धर्म भय को देने वाला है। यही गीता का महत्वपूर्ण संदेश है।

12.2.10 गीता का समापन संदेश : भगवान श्री कृष्ण अध्याय के अंत में अपनी सर्वोच्च शिक्षा देते हैं। वे कहते हैं कि सभी धर्मों को छोड़कर केवल मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूंगा, शोक मत करो। यह गीता का सबसे महत्वपूर्ण श्लोक है जिसे चरम श्लोक कहा जाता है। इस श्लोक में भगवान ने मोक्ष का सबसे सरल और सुनिश्चित उपाय बताया है। सभी धर्मों को छोड़ने का अर्थ यह नहीं है कि अपने कर्तव्यों को छोड़ दो। इसका अर्थ है कि सभी धर्मों के प्रति अहंकार और आसक्ति को छोड़कर केवल परमात्मा की शरण में आ जाओ।

भगवान आगे कहते हैं कि इस गोपनीय ज्ञान को उस व्यक्ति से नहीं कहना चाहिए जो तपरहित हो, भक्तिरहित हो, सुनने की इच्छा न रखता हो या जो मुझमें दोषदृष्टि रखता हो। लेकिन जो व्यक्ति इस परम गोपनीय ज्ञान को मेरे भक्तों में कहेगा, वह अनन्य भक्ति से युक्त होकर निःसंदेह मुझे ही प्राप्त होगा। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करने वाला मनुष्यों में कोई नहीं है और न उससे बढ़कर पृथ्वी पर मुझे कोई और प्रिय होगा। यह कहकर भगवान गीता के प्रचार-प्रसार का महत्व बताते हैं।

भगवान कहते हैं कि जो मनुष्य इस धर्ममय हम दोनों के संवाद का अध्ययन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊंगा। और जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोष दृष्टि से रहित होकर इसे सुनेगा, वह भी पाप से मुक्त होकर श्रेष्ठ कर्म करने वालों के उत्तम लोकों को प्राप्त होगा। इस प्रकार भगवान गीता के श्रवण और अध्ययन का महत्व बताते हैं। गीता का श्रवण और अध्ययन भी एक यज्ञ है। इससे मनुष्य की बुद्धि शुद्ध होती है और उसे मोक्ष का मार्ग मिलता है।

अंत में भगवान अर्जुन से पूछते हैं कि हे पार्थ, क्या तुमने इसे एकाग्रचित्त से सुना? और हे धनंजय, क्या तुम्हारा अज्ञान से उत्पन्न मोह नष्ट हो गया? इस प्रश्न-में भगवान की करुणा झलकती है। वे यह जानना चाहते हैं कि क्या अर्जुन ने उनकी शिक्षा को समझ लिया है और क्या उसका संशय दूर हो गया है। यह प्रश्न-केवल अर्जुन से ही नहीं बल्कि गीता के प्रत्येक पाठक से है। प्रत्येक पाठक को स्वयं से यह प्रश्न-पूछना चाहिए कि क्या उसने गीता को ध्यानपूर्वक पढ़ा है और क्या उसके जीवन में इसका प्रभाव पड़ा है।

12.2.11 अर्जुन का समर्पण : अर्जुन भगवान के प्रश्न-का उत्तर देते हुए कहते हैं कि हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है। मैं संशयरहित हो गया हूं। मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगा। यह अर्जुन का संपूर्ण समर्पण है। भगवान की शिक्षा से अर्जुन का अज्ञान दूर हो गया है। उसे अपने कर्तव्य का बोध हो गया है। अब वह युद्ध करने के लिए तैयार है। लेकिन यह तैयारी केवल

शारीरिक नहीं है, बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक भी है। अर्जुन अब समझ गया है कि युद्ध करना उसका कर्तव्य है और उसे इसे निष्काम भाव से करना है।

अर्जुन की यह स्थिति प्रत्येक साधक के लिए आदर्श है। जब मनुष्य गीता के ज्ञान को आत्मसात कर लेता है तो उसका मोह नष्ट हो जाता है। उसे अपने जीवन का उद्देश्य समझ आ जाता है। उसके सभी संशय दूर हो जाते हैं। वह निर्भय होकर अपने कर्तव्य का पालन करता है। यही गीता का वास्तविक फल है। गीता केवल पढ़ने के लिए नहीं है, बल्कि जीवन में उतारने के लिए है। जब तक गीता का ज्ञान हमारे जीवन में परिवर्तन नहीं लाता, तब तक हमारा गीता पढ़ना सफल नहीं हुआ।

अर्जुन कहते हैं कि मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगा। यह महत्वपूर्ण वाक्य है। गीता का ज्ञान प्राप्त करने के बाद मनुष्य को उसका पालन भी करना चाहिए। केवल ज्ञान प्राप्त कर लेना पर्याप्त नहीं है। उस ज्ञान को जीवन में उतारना भी आवश्यक है। अर्जुन ने भगवान की शिक्षा को केवल सुना ही नहीं बल्कि उसे स्वीकार भी किया और उसका पालन करने का संकल्प लिया। यही सच्चे शिष्य का लक्षण है। सच्चा शिष्य वह है जो गुरु की शिक्षा को ध्यानपूर्वक सुनता है, उसे समझता है और फिर उसका जीवन में पालन करता है।

12.2.12 संजय का उद्गार : गीता के अंत में संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं कि हे राजन, मैंने भगवान श्री कृष्ण और अर्जुन के इस अद्भुत और रोमांचकारी संवाद को सुना है। व्यास जी की कृपा से मैंने दिव्य दृष्टि प्राप्त की थी, जिससे मैंने योगेश्वर श्री कृष्ण को प्रत्यक्ष परम गोपनीय योग को कहते हुए सुना। संजय की प्रसन्नता का अनुमान लगाया जा सकता है। उसे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि वह भगवान और अर्जुन के इस दिव्य संवाद का साक्षी बना। यह केवल व्यास जी की कृपा से संभव हुआ।

संजय आगे कहते हैं कि हे राजन, जिस-जिस समय मुझे भगवान श्री कृष्ण और अर्जुन के इस पवित्र और आश्चर्यजनक संवाद का स्मरण होता है, उस-उस समय मैं बार-बार हर्षित होता हूँ। और हे राजन, जिस समय मुझे भगवान के उस अत्यंत आश्चर्यजनक रूप का स्मरण होता है, उस समय मेरे मन में बड़ा आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित होता हूँ। संजय को भगवान के विराट रूप का स्मरण होता है जो उन्होंने एकादश अध्याय में अर्जुन को दिखाया था। वह दृश्य इतना दिव्य और आश्चर्यजनक था कि संजय उसे कभी भूल नहीं सकता।

संजय अपनी बात समाप्त करते हुए कहते हैं कि जहाँ योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण हैं और जहाँ गांधीव धनुष को धारण करने वाले अर्जुन हैं, वहीं श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है, ऐसा मेरा मत है। यह गीता का अंतिम वाक्य है और इसमें गहरा संदेश छिपा है। जहाँ भगवान हैं, वहाँ सब कुछ है। जो मनुष्य भगवान की शरण में है, उसे किसी बात की चिंता नहीं करनी चाहिए। उसे सफलता अवश्य मिलेगी। लेकिन यह भी आवश्यक है कि मनुष्य अर्जुन की तरह अपने कर्तव्य का पालन करे। भगवान पर विश्वास और अपने कर्तव्य का पालन – ये दोनों मिलकर जीवन को सफल बनाते हैं। यही गीता का अंतिम संदेश है।

12.3 बोध प्रश्न

1. श्रद्धा के तीन प्रकारों का विस्तार से वर्णन कीजिए। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक श्रद्धा में क्या अंतर है और ये मनुष्य के जीवन को किस प्रकार प्रभावित करती हैं?
2. आहार के तीन प्रकारों का वर्णन करते हुए बताइए कि आहार का मनुष्य के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है। आप अपने जीवन में किस प्रकार के आहार का अनुसरण करते हैं?
3. यज्ञ, तप और दान के तीन-तीन प्रकारों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए। सात्त्विक यज्ञ, तप और दान की क्या विशेषताएँ हैं?

4. संन्यास और त्याग में क्या अंतर है? भगवान श्री कृष्ण के अनुसार श्रेष्ठ त्याग किसे कहते हैं? विस्तार से समझाइए।
5. कर्म के पाँच कारणों का वर्णन कीजिए। इन कारणों को समझने से मनुष्य के अहंकार पर क्या प्रभाव पड़ता है?
6. कर्म और कर्ता के तीन-तीन प्रकारों की व्याख्या कीजिए। एक सात्त्विक कर्ता की क्या विशेषताएँ होती हैं?
7. बुद्धि और धृति के तीन-तीन प्रकारों का वर्णन कीजिए। सात्त्विक बुद्धि और सात्त्विक धृति मनुष्य के जीवन में क्यों महत्वपूर्ण हैं?
8. सुख के तीन प्रकारों की विस्तृत व्याख्या कीजिए। सात्त्विक सुख को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को क्या करना चाहिए?
9. स्वभाव और स्वधर्म का क्या अर्थ है? चार वर्णों के स्वाभाविक कर्मों का वर्णन करते हुए बताइए कि अपने स्वधर्म का पालन करना क्यों आवश्यक है?
10. गीता के समापन संदेश का विस्तार से वर्णन कीजिए। भगवान श्री कृष्ण का चरम श्लोक क्या है और उसका क्या महत्व है?
11. अर्जुन के समर्पण और संजय के उद्गार से हमें क्या शिक्षा मिलती है? गीता का ज्ञान प्राप्त करने के बाद मनुष्य को क्या करना चाहिए?
12. सत्रहवें अध्याय में वर्णित ॐ तत् सत् के महत्व को समझाइए। इन तीन शब्दों का उच्चारण करने से कर्म किस प्रकार पवित्र होता है?
13. अठारहवें अध्याय में वर्णित त्याग के तीन प्रकारों की तुलना कीजिए। तामसिक और राजसिक त्याग से बचने के लिए क्या उपाय करने चाहिए?
14. गीता की शिक्षाओं का आधुनिक जीवन में क्या महत्व है? सत्रहवें और अठारहवें अध्याय से आपको क्या प्रेरणा मिलती है?
15. ष्वर्धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज" इस श्लोक का विस्तार से अर्थ समझाते हुए बताइए कि यह गीता का सबसे महत्वपूर्ण संदेश क्यों माना जाता है?